कैसे सोचें ?

आचार्य महाप्रज्ञ

जैन विश्व भारती प्रकाशन

संपादक
मुनि दुलहराज

प्रकाशक : जैन विश्व भारती, लाडनूं
: जैन विश्व भारती लाडनूं

श्री लालचंदजी लूंकड़, लूंकड़ ब्रादर्स, रायपुर के
आर्थिक सौजन्य से प्रकाशित

सप्तम संस्करण

मूल्य : पचास रुपये/प्रकाशक : जैन विश्व भारती, लाडनूं, नागौर (राजस्थान) मुद्रक : शान्ति प्रिन्टर्स एण्ड सप्लायर्स

KAISE SOCHEN ?
Acharya Mahaprajna
Rs. 50.00
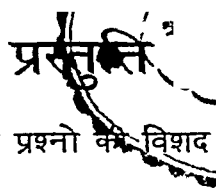
प्रस्तुति

प्रस्तुत पुस्तक में तीन प्रश्नो का विशद

१ कैसे सोचे ?

२ हृदय-परिवर्तन के सूत्र क्या हैं ?

३ भय-मुक्ति के उपाय क्या हैं ?

० कैसे सोचें ?

मनुष्य मन वाला प्राणी है, इसलिए वह सोचता है। सोचना मन का काम है। पशु भी मन वाला प्राणी है, पर उसका नाडी-सस्थान विकसित नहीं होता, इसलिए उसमे सोचने की क्षमता भी विकसित नहीं होती। मनुष्य का नाडी-संस्थान विकसित होता है, इसलिए वह सोचने की उच्चतम भूमिका तक जा सकता है।

शरीर और मन का परस्पर गहरा संबध है। शरीर से मन प्रभावित होता है और मन से शरीर प्रभावित होता है। मन शरीर को अधिक प्रभावित करता है। इस पारस्परिक प्रभाव के अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया कि मनुष्य का चिन्तन विधायक या रचनात्मक होता है; तब शरीर भी स्वस्थ रहता है। निषेधात्मक चिन्तन शारीरिक विकृति भी पैदा करता है। मोहनीय कर्म या मूर्च्छा से जुडा हुआ सारा का सारा चिन्तन निषेधात्मक होता है। मूर्च्छा की उपशाति के क्षणों मे होने वाला चिन्तन विधायक बन जाता है।

विधायक चिन्तन से सामाजिक और मानवीय संबंधो मे सुधार होता है। उससे विकास और प्रगति का पथ प्रशस्त हो जाता है। निषेधात्मक भावो से सामाजिक और मानवीय संबधो में कटुता पैदा होती है, प्रगति का पथ अवरुद्ध हो जाता है।

प्रेक्षाध्यान के अभ्यास से निषेधात्मक भाव कम होते जाते हैं और विधायक भाव बढ़ते चले जाते हैं।

० हृदय-परिवर्तन

विश्व का समूचा विकास परिवर्तन का विकास है। जो जैसे है वैसे ही रहे तो विकास सम्भव नहीं होता। मनुष्य बाहरी परिस्थिति को बदलने मे बहुत सफल हुआ है। उसे आंतरिक परिस्थिति के बदलाव में उतनी सफलता नहीं मिली है।

हृदय-परिवर्तन तब घटित होता है जब आंतरिक परिवर्तन होता है। आंतरिक परिवर्तन के तीन अंग है – भाव का परिवर्तन, विचार का परिवर्तन और रसायनो का परिवर्तन। भाव विचार को पैदा करता है। विचार भाव को पैदा नहीं करता। जैसा भाव वैसा विचार। जब भाव बदलता है तो विचार भी बदलता है और मन भी बदलता है। जब विचार और मन बदलते हैं तब आतरिक रसायन भी बदलते है। यहीं से हृदय-परिवर्तन प्रारभ होता है।

भाव, विचार और रसायनो के बदलने की प्रक्रिया एक अनुस्यूत प्रक्रिया है। यह आश्रव-शोधन की प्रक्रिया है। यह हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया है।

इसके पांच सूत्र हैं--

१ एकाग्रता का अभ्यास

२ समता का अभ्यास

३ जागरूकता का अभ्यास

४ वस्तु-निष्ठ आकर्षण का परिवर्तन

५ मिथ्यादृष्टिकोण का परिवर्तन।

० भय-मुक्ति

भय की उत्पत्ति के चार मूल स्रोत हैं–

१ सत्त्वहीनता

२ भय की मति

३ भय का सतत चितन

४ भय के परमाणुओ का उत्तेजित होना।

भय की पांच प्रतिक्रियाए हैं–रोग, बुढापा, मरण, विस्मृति और पागलपन।

भय-मुक्ति के साधन कौन-कौन से है और प्रेक्षा-ध्यान की प्रक्रिया उन साधनों के क्रियान्वयन में कैसे सहयोग करती है –यह सब इस अध्याय मे विवृत है।

मैने चिन्तन की प्रक्रिया के कुछ सूत्र, हृदय-परिवर्तन के कुछ उपाय और भय-मुक्ति के कुछ साधनो की चर्चा प्रस्तुत पुस्तक मे की है। इस विचार-मंथन की प्रक्रिया मे आचार्यश्री तुलसी का सारस्वत अनुग्रह और मुनि दुलहराजजी का सम्पादन-कौशल प्रत्यक्ष है। चितन की धारा मे एक निमज्जन उन्मज्जन का हेतु बन सकेगा।

–आचार्य महाप्रज्ञ

अनुक्रम

० कैसे सोचें ?		पृष्ठ
१	कैसे सोचे ? (१)	३
२.	कैसे सोचे ? (२)	१२
३	कैसे सोचे ? (३)	२४
४	चिन्तन के परिणाम	३४
५	अपने बारे मे अपना दृष्टिकोण (१)	४५
६	अपने बारे में अपना दृष्टिकोण (२)	५७
७	दूसरे के बारे मे अपना दृष्टिकोण	६८
८	प्रतिक्रिया से कैसे बचे ? (१)	७८
९	प्रतिक्रिया से कैसे बचे ? (२)	९१
० हृदय-परिवर्तन : प्रक्रिया और आधार		
१०	परिस्थितिवाद और हृदय-परिवर्तन	१०५
११	परिवेश का प्रभाव और हृदय-परिवर्तन	११५
१२	हृदय-परिवर्तन के सूत्र (१)	१२७
१३	हृदय-परिवर्तन के सूत्र (२)	१३७
१४	हृदय-परिवर्तन के सूत्र (३)	१४७
१५	हृदय-परिवर्तन के प्रयोग	१५८
१६	निषेधात्मक भाव	१६९
१७	विधेयात्मक भाव	१७७
१८	हृदय-परिवर्तन का प्रशिक्षण	१८८
१९	हृदय-परिवर्तन : एक महान उपलब्धि	१९६
० भय-मुक्ति		
२०	अभयदान	२०९
२१	भय के स्रोत	२१९
२२	भय की परिस्थिति	२२९
२३	भय की प्रतिक्रिया	२३९
२४	रचनात्मक भय	२४८
२५	अभय की मुद्रा	२५६

कैसे सोचें ?

कैसे सोचें ? (१)

प्रसिद्ध दार्शनिक देकार्ट ने कहा—'मैं सोचता हू, इसलिए मैं हू। मेरे अस्तित्व का प्रमाण है कि मै सोचता हूं, और सोचता हूं इसलिए मै हूं।'

यदि मुझे कहना पडे तो मैं इस तर्क की भाषा मे कहूंगा—'मै हूं और विकसित मस्तिष्क वाला प्राणी हूं इसलिए सोचता हूं।'

सोचना मस्तिष्क का लक्षण नहीं है। सोचना एक अभिव्यक्ति है। वह लक्षण नहीं बन सकता। हमारा अस्तित्व और चैतन्य चिन्तन से परे है, सोचने से परे हैं। सोचना ज्योति का एक स्फुलिंग मात्र है, समग्र ज्योति नहीं है। न सोचना—यह ज्योति का अखंड रूप है।

ध्यान-साधना द्वारा हम उस स्थिति तक पहुंचना चाहते है, जहा सोचने की बात समाप्त हो जाती है, जहां साक्षात्कार सभव हो जाता है। जहां साक्षात् होता है वहा सोचने की आवश्यकता नहीं रहती। साक्षात् होने पर वस्तु 'हस्तामलकवत्' स्पष्ट हो जाती है। हथेली पर आवला रखा हुआ है। वह जो कुछ है, उसका हमें साक्षात्कार हो रहा है। उसके विषय मे सोचने की आवश्यकता नहीं होती। प्रत्यक्ष मे दर्शन होता है, वहां चिन्तन नहीं होता और जहा चितन होता है, वहां दर्शन नहीं होता।

हम तीन स्थितियो का अनुभव करते हैं—जागना, देखना और सोचना। एक आदमी ने पूछा—'आपके नौकर ने अमुक काम किया या नहीं?' मालिक बोला—'मुझे ज्ञात नहीं है। मै जानकारी करके बताऊंगा।' इस स्थिति मे सोचने की बात प्राप्त नहीं होती। जो घटना किसी दूसरे से सम्बद्ध है, उसके लिए सोचा नहीं जा सकता। वहां चिन्तन काम नहीं देता।

एक आदमी ने पूछा—'आपके घर मे अमुक वस्तु है ?' उसने कहा—'भाई! याद नहीं है, देखकर बताऊंगा।' यहां भी सोचना काम नहीं आएगा।

एक घटना मे है—'जानकारी करके बताऊगा' और दूसरी घटना मे है—देखकर बताऊगा।' जहां जानना और देखना होता है, वहां सोचना प्राप्त नहीं होता। जहां ये दोनो—जानना और देखना नहीं होते वहां सोचने की स्थिति आती है। जो परोक्ष है, अस्पष्ट है, जिसके विषय मे सहसा कुछ कहा नहीं जा सकता, वहां सोचना होता है, चिंतन करना पडता है।

सोचना मस्तिष्कीय चेतना का एक अंग है, इसलिए यह ज्योति का एक स्फुलिंग मात्र है, ज्योति की एकाग्रता नहीं है। जब दर्शन स्पष्ट होता है, प्रत्यक्ष दर्शन की स्थिति प्राप्त हो जाती है तब चिन्तन समाप्त हो जाता है।

ध्यान-साधना का लक्ष्य है कि साधक प्रत्यक्ष दर्शन की अवस्था तक पहुचे, साक्षात्कार की भूमिकाओ को प्राप्त करे। जब साक्षात्कार होता है तब चिन्तन नीचे रह जाता है और अखंड ज्ञान ऊपर आ जाता है। किन्तु जब तक व्यक्ति शरीर से बंधा हुआ है, मस्तिष्कीय चेतना से जुडा है, उसको व्यापृत करता है और जब तक अतीन्द्रिय चेतना जागृत नहीं होती, तब तक चिन्तन करना भी आवश्यक होता है। उससे छुटकारा नहीं पाया जा सकता।

दो प्रकार के व्यक्ति चिन्तन-मुक्त होते हैं। प्रत्यक्षज्ञानी कभी चिंतन नहीं करता। अज्ञानी आदमी कभी चिन्तन नहीं करता। प्रत्यक्षज्ञानी को चितन करने की आवश्यकता नहीं होती, क्योकि जो कुछ है वह उसके लिए प्रत्यक्ष है। अज्ञानी या मूर्ख आदमी चिन्तन करना जानता ही नहीं, उसमें चिन्तन की क्षमता ही नहीं होती।

मालिक ने नौकर से कहा–'वनस्पति घी की दो डिब्बे हैं। बगीचे में जाकर इस घी को कहीं छिपा दो।' नौकर डिब्बे लेकर बगीचे मे गया। थोडे समय बाद आकर बोला–'मालिक! मैंने घी तो बगीचे मे छिपा दिया, अब डिब्बे कहा रखूं ?' मालिक बोला-'अरे ! घी को कहां/कैसे छिपाया ?' नौकर बोला –'मालिक ! मैंने वृक्ष के पास एक गड्ढा खोदा, घी उसमे डालकर ऊपर से मिट्टी डाल दी। घी को छिपा दिया। किसी को पता ही नहीं चल पाएगा। अब बताएं, डिब्बे कहां रखू ?'

जो व्यक्ति सोचना जानता ही नहीं जिसमे चिन्तन की क्षमता विकसित ही नहीं है, वह अज्ञानी होता है। वह घी को छिपा सकता है गड्ढा खोदकर, पर खा नहीं सकता। वह घी को छिपा सकता है, पर डिब्बे को छिपाना नहीं जान सकता।

दो प्रकार के व्यक्ति चिन्तनशून्य होते हैं–प्रत्यक्षज्ञानी और अज्ञानी। यह कैसी विचित्र तुलना ! बहुत बार ऐसी विचित्र तुलनाए होती हैं। मान और अपमान मे सम रहने वाले दो ही व्यक्ति होते हैं। या तो वीतराग, इनमे सम रह सकता है या मूर्ख इनमे सम रह सकता है। कहां वीतराग और कहां मूर्ख! वीतराग व्यक्ति में असमानता के बीज नष्ट हो जाते हैं। समभाव उसका प्रखर हो जाता है। मूर्ख मे मान और अपमान का विवेक कर सकने की क्षमता ही नहीं होती। वह दोनो में पृथक्करण नहीं कर सकता, इसलिए वह सम रहता है। कैसी विचित्र तुलना ! कैसा विचित्र सयोग !

हमारी जीवन-यात्रा का एक महत्त्वपूर्ण घटक है–चिन्तन। एक ओर

हम चितन की महत्ता स्वीकार करते हैं और दूसरी ओर निर्विकल्प या विचार शून्य अवस्था की प्राप्ति के लिए ध्यान-साधना मे संलग्न होते हैं। क्या यह विसंगति या विरोधाभास नहीं है ? पर हम इस बात को न भूलें कि निर्विचार अवस्था या अचिंतन की अवस्था मे पहुंचना हमारा लक्ष्य अवश्य है पर वहां तक पहुंच पाना आज ही संभव नहीं हो सकता। यह मान लेना बहुत बडी भ्रान्ति है कि ध्यान की साधना प्रारम्भ करते ही व्यक्ति विचारातीत अवस्था को प्राप्त हो जाता है। ध्यान-काल में विचारो का प्रवाह और तीव्र हो जाता है। जो विचार सामान्य अवस्था में नहीं आते, वे विचार ध्यान-काल में उभर जाते हैं। जैसे ही व्यक्ति ध्यान की मुद्रा मे या कोयोत्सर्ग की मुद्रा में स्थित होता है, तब उसमे न आने वाले विचार भी आने लग जाते हैं। उस समय विस्मृत तथ्यों की स्मृति उभर जाती है और व्यक्ति विचारो से आक्रांत हो जाता है। इस अवस्था में आदमी आकुल-व्याकुल हो जाता है और वह ध्यान-साधना को छोडने की बात सोच लेता है, परन्तु उस समय विचारों का आना तो अनिवार्य है क्योकि उनके उद्‌भव का वह एक सुन्दर अवसर है। जब आदमी तनाव मे होता है तब सब उससे डरते हैं। विचार भी तब आना नहीं चाहते। जब आदमी कायोत्सर्ग की मुद्रा मे होता है, शिथिल होकर बैठता है, जब सारे तनाव विसर्जित हो जाते हैं, तब विचार सोचते हैं—चलो अब यह अच्छा अवसर है। कोई खतरा नहीं है। वे बेधडक आते ही रहते हैं। जब तक शिथिलीकरण बना रहता है, वे अभय हो जाते हैं। शिथिलीकरण मे सबका भय समाप्त हो जाता है। तनाव की स्थिति मे भयभीत हो जाते हैं, सब परस्पर खींच जाते हैं। तनाव की स्थिति में मांसपेशियां खींच जाती हैं, हड्‌डियां कडी हो जाती हैं। शिथिलीकरण मे कोई आदमी गिरता है तो उसे चोट नहीं लगती और यदि तनाव की स्थिति मे कोई आदमी गिरता है तो उसे बहुत गहरी चोट आती है। जितना अधिक तनाव उतनी ही अधिक चोट।

ध्यान एक प्रक्रिया है। उसका परिणाम है कि व्यक्ति की पकड कम हो जाती है। उसमे प्रवेश का अवकाश है तो निर्गम का भी उतना ही अवकाश है। ध्यान करने वाले सबका स्वागत करते हैं, आने वाले का भी स्वागत करते हैं और जाने वाले का भी स्वागत करते हैं। ध्यान न करने वाले अनेक तथ्यो को ऐसे पकड लेते हैं कि वे जीवन भर उन्हे छोड नहीं सकते। पकडने वाले बहुत दु.खी होते हैं।

ध्यान का प्रारम्भ करते ही व्यक्ति विचारों से आक्रान्त हो जाता है। ध्यान करने वाले को उस विचार-प्रवाह से घबराना नहीं है। वह ज्ञाता-द्रष्टा बन जाए। जो आते हैं उन्हे देखे और छोड दे। जैसे-जैसे द्रष्टाभाव और

ज्ञाताभाव अधिक पुष्ट होता जाएगा, वैसे-वैसे विचारो का प्रवाह मन्द और कमजोर होता जाएगा। जैसे-जैसे अनुभूति जागेगी, अनुभव का रस प्रबल होगा, विचार निर्बल होते जाएगे। किन्तु पहले ही दिन सोचा जाए कि विचार आए ही नहीं, यह असभव बात है। इसलिए ध्यान करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को कैसे सोचे, यह सीखना चाहिए। जो व्यक्ति इन कंटीले मार्ग मे चलते-चलते इन नुकीले काटो के बीच से परेशान होना नहीं चाहता, काटो की चुभन से पीडित होना नही चाहता और निर्विघ्न रूप से चलना चाहता है, उसके लिए यह बहुत उपयोगी है कि वह 'कैसे सोचता है'—इस विज्ञान को सीखे।

हर आदमी सोचता है। कोई भी आदमी ऐसा नहीं मिलता, जो नहीं सोचता हो। पर प्रश्न है—कैसे सोचे ?

'सोचना' एक कला है। हर आदमी इस कला को नहीं जानता। इस कला को कोई-कोई आदमी ही जानता है। जो इस कला को जान लेता है, उसका मार्ग बहुत साफ हो जाता है।

एक फकीर ने चर्चा के प्रसंग मे कहा—मैने हर व्यक्ति से कुछ न कुछ अवश्य ही सीखा है। एक व्यक्ति ने पूछ लिया—आपने चोर से क्या सीखा ? फकीर बोला—एक बार मैं चोर के घर ठहरा था। रात के समय चोर चोरी करने जाता। जब वह वापस लौटता, तब मैं पूछता—कुछ मिला ? वह बोलता 'कुछ नहीं मिला। आज खाली हाथ लौटा हू, कल मिल जाएगा।' दूसरे, तीसरे दिन मै यही पूछता गया। वह कहता—'आज कुछ नहीं मिला, खाली हाथ लौटा हू। कल कुछ मिल जाएगा।' इस प्रकार पूरा एक महीना बीत गया। एक महीने तक चोर को कुछ नहीं मिला। मैंने सोचा—चोर रोज चोरी करने जाता है। सात-आठ घटे बिताता है। अपनी नींद का मीठा समय खोता है। चोरी मे कुछ नहीं मिलता। पूरा एक महीना नहीं तो कल अवश्य मिलेगा। मैंने सोचा—चोर मे इतना धैर्य है कि वह खाली हाथ लौटने पर निराश नहीं हुआ। यह सारा देखकर, मैने उससे यह सीखा कि भक्ति के मार्ग में कभी निराश नहीं होना है। अच्छा काम करते हुए कभी निराश नहीं होना है।

विचित्र है मनुष्य की प्रकृति। अच्छा काम करने वाला जल्दी निराश हो जाता है और बुरा काम करने वाला निराश नहीं होता। चोर, लुटेरे, डाकू कहां निराश होते हैं ?

यह एक तथ्य है, सचाई है। मैंने चिन्तन किया और इस निष्कर्ष पर पहुचा कि आदमी की जितनी गहरी आस्था बुराई मे होती है, उतनी अच्छाई मे नहीं होती। अच्छाई मे उतनी गहरी आस्था सपादित करने के लिए बहुत साधना ही आवश्यकता होती है। जहा आस्था नहीं होती, वहां निराशा हो

जाती है। बुराई और आस्था का इतना गहरा सबध कि आदमी बुराई के रास्ते पर चलता है और स्वत उस रास्ते पर उसकी आस्था जमती चली जाती है। बहुत प्रयत्न करने की जरूरत ही नहीं रहती। बिना कुछ साधना किए ही आस्था का अनुबध हो जाता है। भलाई के रास्ते पर आस्था का जमना, आस्था का अनुबध होना बहुत कठिन होता है।

हम कैसे सोचे ? हमारा सोचने का तरीका क्या हो ? इसे जानना इसलिए जरूरी है कि निषेधात्मक दृष्टि से चिन्तन करने वाला व्यक्ति हर सचाई को नकारता चला जाता है और विधायक दृष्टि से चिन्तन करने वाला व्यक्ति सचाई के पास पहुंच जाता है, सचाई को उपलब्ध हो जाता है और वह अनेक समस्याओं का समाधान पा लेता है।

चिन्तन की दो दृष्टिया हैं—निषेधात्मक दृष्टि और विधायक दृष्टि। आदमी बहुत बार निषेधात्मक दृष्टि से ही सोचता है, वह विधायक दृष्टि से नहीं सोचता। निषोधात्मक दृष्टि से सोचने का परिणाम होता है—निराशा, अनुत्साह, आवेग, कार्य से निवृत्ति, कर्त्तव्य से अपसरण। एक शब्द मे कहे तो निषेधात्मक दृष्टि का परिणाम है—जीवन् मे असफलता का उदय।

जीवन की सफलता का सबसे महत्त्वपूर्ण सूत्र है—विधायक दृष्टि से सोचना। विधायक दृष्टि से वही व्यक्ति सोच सकता है, जिसने ध्यान का मर्म समझा है, जिसने चित्त को निर्मल करना सीखा है, जिसने मन को एकाग्र करना सीखा है और जिसने राग-द्वेष के मलों को साफ करना सीखा है।

विधायक दृष्टिकोण और निषेधात्मक दृष्टिकोण की कुछ कसौटिया हैं।

पहली कसौटी है—समग्रता की दृष्टि और व्यग्रता की दृष्टि। समग्रता की दृष्टि से चिन्तन करने वाला व्यक्ति विधायक दृष्टि से सोच सकता है और व्यग्रता की दृष्टि से चिन्तन करने वाला एकागी आग्रह मे फस जाता है और अपने चिन्तन को विकृत बना देता है।

जब व्यक्ति के सामने घटना का या वस्तु का पूरा चित्र नहीं होता, अधूरा चित्र होता है, तब उसके आधार पर किया गया चिन्तन भी अधूरा ही होगा। वह सही नहीं हो सकता। सम्यक् और सतुलित चिन्तन के लिए जरूरी है—समग्रता का दृष्टिकोण। जब विधायक या समग्रता का दृष्टिकोण होता है तब अनेक अहेतुक संघर्ष उभर आते हैं।

एक प्रसग है। कुछ पथिक आम की शीतल छाह के नीचे आकर बैठे। चर्चा चल पडी। एक बोला—अभी मैं इस रास्ते से गुजरा हू। मैंने देखा एक वृक्ष पर एक जानवर बैठा है। वह लाल रग का है। तत्काल दूसरा बोल

उठा–तुम्हे भ्रम हो गया। मैने भी उसको देखा है। वह हरे रंग का था। वह बोला–तुम गलत कहते हो। कोई दूसरे वृक्ष पर दूसरा जानवर देखा होगा। मैंने अपनी आंखों से देखा है कि वह लाल रंग का था। उसने कहा–मैं गलत नहीं कह रहा हूं। दूसरा बोला–तुम गलत कह रहे हो। वह जानवर हरे रग का ही था। आरोप-प्रत्यारोप चलता रहा। कुछ क्षण बीते। दोनो ने बाहे चढा लीं। लडाई प्रारम्भ हो गई। एक समझदार पथिक ने कहा–बेकार क्यो लड रहे हो ? मैं भी तुम्हारे पीछे-पीछे उसी रास्ते से आ रहा हूं। तुम दोनो सही हो। वह लाल रंग का भी था और हरे रंग का भी था। तुम समग्रता की दृष्टि से सोचोगे तो दोनो सही निकलोगे और व्यग्रता की दृष्टि से सोचोगे तो लडते ही रहोगे। देखो, वह जानवर गिरगिट था। जब पहला पथिक उधर से निकला तब उसका रग लाल था। जब दूसरा पथिक उधर से निकला तब वह हरे रंग मे बदल गया। गिरगिट रग बदलता है। तुम दोनों सही हो।

यह दुनिया गिरगिट रूप है। यहां प्रत्येक पदार्थ की प्रकृति भी गिरगिट की प्रकृति है और आदमी की प्रकृति भी गिरगिट की प्रकृति है। एक आदमी एक दिन मे न जाने कितने रूप बदलता है। लगता है कि आदमी स्वयं परमात्मा की प्रतिमूर्ति बन गया है। जिस आदमी को प्रातःकाल के समय बहुत शान्त और वीतराग अवस्था मे देखा, उसी आदमी को मध्याह्न मे इतना अशान्त और उत्तेजित होते देखा कि मानो उससे बडा राक्षस और दैत्य दूसरा कौन हो सकता है ? एक आदमी एक दिन मे हजारो-हजारो मुद्राए बना लेता है। वह अनेक मुद्राओ मे जीता है। समुद्र मे दिन मे एक बार और रात मे एक बार ज्वार भाटा आता है, पर आदमी के विचारो मे दिन मे सैकडो ज्वार-भाटे आ जाते हैं। उतार-चढाव निरन्तर चलता रहता है। एकरूपता कहा रहती है ? अनेकरूपता है व्यग्रता का परिणाम। अनुसंधान आवश्यक है। अनुसंधान का अर्थ है–अतीत के पर्याय की और वर्तमान के पर्याय की खोज। जब तक दोनो पर्यायो का जोड नहीं होता, आदमी को पहचाना नहीं जा सकता। वस्तु को जानने और पहचानने के लिए आवश्यक है अतीत और वर्तमान के पर्याय का अनुसधान। यही समग्रता का दृष्टिकोण है। समग्रता के दृष्टिकोण मे सघर्ष और विवाद की संभावनाए बहुत कम हो जाती है। आदमी जब-जब व्यग्रता की दृष्टि से सोचता है, एकागी बात को पकड कर सोचता है, एकांगी आग्रह में फंसता है तब-तब लडाई और सघर्ष को निमंत्रण देता है।

चिन्तन का स्वस्थ दृष्टिकोण है–विधायक दृष्टिकोण, समग्रता का दृष्टिकोण।

सम्राट् श्रेणिक की महारानी चेलना सो रही थी। सर्दी का मौसम।

भयंकर सर्दी। सोते-सोते अचानक रानी के मुंह से ये शब्द निकल पडे—'वह क्या करता होगा ?' सम्राट् जाग रहा था। उसने सुना। इन शब्दों ने उसके रोम-रोम मे आग लगा दी। महारानी चेलना के चरित्र पर उसे गर्व था। उसने सोचा—जिस रानी पर मै इतना अधिक विश्वास करता हू, वह नींद में बडबडा रही है—'वह क्या करता होगा ?' हो न हो, यह किसी अन्य मे आसक्त है। राजा का मन अत्यन्त सतप्त हो गया। उसके मन में रानी के प्रति अविश्वास उत्पन्न हो गया, घृणा पैदा हो गई।

प्रात.काल हुआ। सम्राट् अत्यन्त खिन्न और उदासीन था। उसने अपने महामात्य अभयकुमार को बुलाकर कहा—'मैं भगवान् महावीर को वंदन करने जा रहा हू। तुम इस महल को जला देना, विलब मत करना।'

सम्राट् का यह आदेश सुनकर अभयकुमार अवाक् रह गया। उसने सोचा—अन्त.पुर को जला देना, महारानी चेलना को किसी भी पूर्व सूचना के जलाकर खाक कर देना, यह कैसा आदेश ! एक ओर सम्राट् श्रेणिक, अपने पिता का आदेश है और दूसरी ओर महारानी चेलना, अपनी माता को अपने ही हाथों जीवित जला देने का जघन्यतम अपराध। वह जानता था कि सम्राट् के आदेश का उल्लंघन क्या-क्या परिणाम ला सकता है। वह असमंजस मे पड गया।

सम्राट् श्रेणिक महावीर के समवसरण मे पहुचा। वंदना की। सतियों का प्रसंग चल रहा था। महावीर ने सहसा कहा—'महारानी चेलना सतियो मे अग्रणी है। वह धर्मनिष्ठ और सत्यनिष्ठ है।' सम्राट् ने सुना। उसे अपने कानो पर विश्वास नहीं हुआ। उसने महावीर से पूछा—भते! एक उलझन है। आप कह रहे हैं महारानी चेलना महासती है। कल रात को सोते-सोते उसके मुंह से ये शब्द निकले—'वह क्या करता होगा?' क्या ये शब्द सतीत्व के प्रतीक हैं या उसके विपरीत ?

भगवान् बोले—'तू नहीं जानता, इन शब्दो का क्या तात्पर्य है। कल महारानी चेलना वदना करने आई थी। वंदना कर वह जिस मार्ग से महलो मे जा रही थी, बीच मे वृक्ष के नीचे एक जैन मुनि ध्यान कर खडे थे। वे निर्वस्त्र थे। भयंकर सर्दी थी। रानी वहां रुकी नहीं। वदना कर चली गई। रात को वह सो रही थी। एक हाथ कंबल से बाहर रह गया। सर्दी के कारण वह जड हो गया, ठिठुर गया। वह मृतवत् हो गया। रानी ने हाथ उठाना चाहा, पर उठा नहीं। रानी ने सोचा—ओह ! हाथ थोडे समय के लिए सर्दी मे रह गया, उसकी यह दशा हो गई। वह मृतवत् हो गया, जड हो गया। धन्य हैं वे मुनि जो निर्वस्त्र होकर खुले मे ध्यान करते हैं। वह बेचारा मुनि इस

भयकर सर्दी मे क्या करता होगा ?

सम्राट् ने सुना। वह स्तंभित रह गया। वह वहां से चला। उसने सोचा—मेरे आदेश के अनुसार यदि अन्त:पुर जला दिया है तो महान् अनर्थ घटित हो जाएगा। उसकी गति मे तीव्रता थी। रास्ते मे अभय कुमार मिला। सम्राट् ने पूछा—क्या आदेश का पालन कर दिया ? 'हां महाराज! आपके आदेश के प्रति मै लापरवाही कैसे बरत सकता था ?'

सम्राट् ने कहा—अभयकुमार ! अनर्थ कर डाला।

अभयकुमार ने पूछा—कैसे ?

सम्राट् ने सारी बात बताई।

अभयकुमार बोला—महाराज ! आप चिन्ता न करें। मैंने आग लगाई है, क्योकि आपका आदेश था। किन्तु उस आग को महल तक पहुंचने मे पूरा दिन लगेगा।

एक व्यग्र चिन्तन के कारण कितनी बडी दुर्घटना घटित हो सकती है और आदमी कितना बडा अनर्थ कर सकता है, इस घटना से यह जाना जा सकता है। न जाने कितने साम्प्रदायिक सामाजिक विवाद इस व्यग्र दृष्टिकोण के कारण होते है। पत्नी एक बात कहती है, पति उसे समग्रता से नहीं सुन पाता। उस अधूरी बात से घर मे महाभारत हो जाता है। भयानक स्थिति उत्पन्न हो जाती है। वह कहता है, मैने अपने कानों से सुना। 'अरे, तुम्हारे कान कौन से भगवान् के कान आ गए ?' मैंने अपनी आखो से देखा है।' 'अरे, तुम्हारी आंखे कौन सी भगवान् की आखे आ गई।' आदमी के कान और आखे कितना धोखा देती है, यह किसी से छुपा हुआ नहीं है। अधूरी बात के आधार पर आदमी क्या-क्या नहीं कर लेता। व्यग्रता और आवेशशीलता के कारण बडे-बडे अनर्थ घटित होते हैं।

सम्यक् और सतुलित चिंतन के लिए, विधायक दृष्टि के लिए सबसे पहली बात है, समग्रता के दृष्टिकोण का विकास। व्यक्ति को चाहिये कि वह कभी व्यग्रता की दृष्टि से न सोचे और पूरी जानकारी के बिना निर्णय न ले।

एक बार चीन मे सैनिको की अनिवार्य भर्ती हो रही थी। एक व्यक्ति ने आकर माओत्से तुग से कहा—'तुम्हारी टाग टूट गई है। अच्छा हुआ। तुम अनिवार्य सैनिक भर्ती से बच गए।' माओत्से तुंग ने कहा—'तुम कह सकते हो कि अच्छा हुआ। मैं यह नहीं कह सकता क्योंकि पूरा चित्र मेरे सामने नहीं

है। मैं नहीं कह सकता कि अच्छा हुआ या बुरा हुआ।'

जब पूरा चित्र सामने होता है तब कहा जा सकता है कि अच्छा हुआ या बुरा हुआ। अधूरे चित्र के आधार पर निर्णय नहीं लिया जा सकता। आदमी जब अधूरे विचारों, अधूरे विकल्पो और अधूरी भावनाओ के आधार पर निर्णय लेता है तब संघर्ष और युद्ध पैदा होते हैं। आवश्यकता है कि आदमी में समग्रता के दृष्टिकोण का विकास हो।

विधायक दृष्टिकोण की लम्बी समीक्षा है। उसका पहला सूत्र है–समग्रता की दृष्टि का विकास। जब यह पहला सूत्र जीवन मे क्रियान्वित होता है तब विधायक दृष्टिकोण का विकास होने लग जाता है।

कैसे सोचें ? (२)

गर्मी का मौसम। जेठ की दुपहरी। चिलचिलाती धूप। इस गर्मी मे आदमी का दिमाग भी गर्मा जाता है। दिमाग ठंडा होता है तो चिन्तन मे सुविधा होती है। दिमाग गर्म होता है तो चिन्तन मे असुविधा होती है। असुविधा ही नहीं, अनेक कठिनाइयां पैदा हो जाती है, आदमी न जाने क्या-क्या कर बैठता है। स्वास्थ्य का एक लक्षण है—पैर गर्म रहे और दिमाग ठंडा रहे। पर उल्टा हो जाता है। पैर ठडे हो जाते है और दिमाग गर्म हो जाता है। यह विचित्र स्थिति है। यदि दिमाग ठडा रहता है तो आदमी लम्बे समय तक जी सकता है, शाति और आनन्द के साथ जी सकता है। दीर्घ श्वास का एक सूत्र है—दिमाग को ठडा रखना।

आज के वैज्ञानिक एक नई विधि का विकास कर रहे है, जिससे आदमी पांच सौ वर्षों तक या हजार वर्षों तक जी सके। यह विधि है—शीतलीकरण की। आदमी को ठंड मे जमा दिया जाय। दस वर्ष तक वह ठड मे जमा रहा। दस वर्ष बाद उसे गरमाया और वह जी उठा। यदि बार-बार इस शीतलीकरण की प्रक्रिया हो दोहराया जाये तो वह पाच सौ वर्ष भी जी सकता है और हजार वर्ष भी जी सकता है। वैज्ञानिकों ने चींटियो को ठड मे जमा दिया। सब चींटियां मृतवत् हो गईं। दस मिनट बाद उन्हे गरमाया गया। वे पुन. जी उठीं। उनमे हलन-चलन प्रारम्भ हो गया। हम बहुत बार देखते है, मक्खिया और चींटिया जब बहुत ठडे पानी में गिर जाती है, तब वे मृत जैसी हो जाती है, फिर जब उन्हें भाप से गरमाया जाता है या धूप मे रखा जाता है तो वे पुन. जीवित हो उठती हैं।

मनुष्य का कायाकल्प किया जा सकता है—शीतलीकरण के द्वारा, पूरे शरीर को ठडा करके। यदि बीमार को ठंडा किया जा सके तो वह बहुत लम्बा जी सकता है। एक बात और है। पूरे शरीर को ठडा न भी किया जा सके पर यदि दिमाग ठंडा रह सके तो आदमी लम्बा जी सकता है। जितनी आकाल-मृत्यु होती है, छोटी आयु मे मौत होती है, उसका एक कारण यह है कि व्यक्ति का दिमाग बार-बार गर्म हो जाता है, आग बार-बार जल उठती है, आच इतनी गहरी हो जाती है कि कोशिकाए जल्दी नष्ट होने लग जाती है।

हमारे जीवन का आधार है—मस्तिष्क की कोशिकाएं। जब तक कोशिकाए जीवित रहती हैं, सक्रिय रहती हैं तो हृदय गति बन्द हो जाने पर भी आदमी मरता नहीं। हृदय की गति बंद है, श्वास की गति बन्द है किन्तु यदि मस्तिष्क

की कोशिकाए जीवित हैं तो आदमी मरेगा नहीं, फिर जी जाएगा। कई बार ऐसा देखा गया है कि डाक्टर जिस व्यक्ति को मृत घोषित कर देता है, वह व्यक्ति कुछ समय बाद जी उठता है। कभी-कभी वे व्यक्ति भी जी जाते हैं, जिनकी अर्थी निकल चुकी है, जो श्मशानघाट पहुंच चुके हैं, जिनको चिता पर लेटा दिया गया है, चारों ओर लकडियां चिन दी गई हैं, पर अचानक हलचल होती है, लकडियां इधर-उधर बिखर जाती हैं और वह व्यक्ति अंगडाई लेते हुए उठ-बैठता है। लोग उसे भूत समझ लेते है, पर यथार्थ में वह मरा ही नहीं था। वह जीवित था। डाक्टर ने घोषित कर दिया और हमने मान लिया। पर वास्तव मे उसका मस्तिष्क सक्रिय था, मस्तिष्क मरा नहीं था और जब तक मस्तिष्क नहीं मरता, आदमी नहीं मरता, फिर चाहे हार्ट बद हो जाए, नाडी बन्द हो जाए।

हमारे जीवन का मूल आधार है—मस्तिष्क। वह मस्तिष्क जितना ठडा रहता है उतना ही जीवन अच्छा रहता है और उतना ही चिंतन स्वस्थ होता है। स्वस्थ चितन के लिए, विधायक और सतुलित चिन्तन के लिए मस्तिष्क का ठडा होना बहुत जरूरी है। इस दृष्टि से चितन का दूसरा मानदंड होगा कि चिंतन आवेश की स्थिति में किया जा रहा है या अनावेश की स्थिति में किया जा रहा है ? आवेश चितन का दोष है। आवेश आया, चिंतन शुरू किया, चितन तो हो सकता है पर चिंतन स्वस्थ नहीं होगा, सही नहीं होगा, संतुलित और विधायक नहीं होगा। विधायक चिन्तन तभी हो सकता है जब आवेश की स्थिति न हो। चिंतन का आधार तथ्य होना चाहिए। तथ्यो के आध ार पर जो चिंतन होता है, वह चिंतन उपयोगी तथा जहां तथ्य गौण और आवेश मुख्य हो जाता है वहां चिन्तन कार्यकारी नहीं होता है। जो व्यक्ति ध यान का अभ्यासी नहीं होता, जिसका मन पर अधिकार नहीं होता, जिसका मन शात और संतुलित नहीं होता, वह व्यक्ति तात्कालिक चितन करता है, आवेशपूर्ण चिंतन करता है। उसका चिंतन कभी सही नहीं होता।

एक राजनेता के पास मित्र ने आकर कहा—'अमुक-अमुक व्यक्ति आपको गालियां बक रहा था।' राजनेता ने सुना, आगबबूला हो गया, बोला—पहले मुझे चुनाव जीत लेने दो, मंत्री बन जाने दो, फिर मैं बता दूगा कि गाली देने का परिणाम क्या होता है ?

यह आवेशपूर्ण चितन का परिणाम है। उसे जानना चाहिए था कि अमुक आदमी ने गालिया दीं या नहीं। एक बात हुई, आवेश जागा और आवेश ही चितन बन गया। यह भयंकर अवस्था है। क्रोध का आवेश और अहंकार का आवेश कितना भयकर होता है, यह अज्ञात नहीं है। इसके दुष्परिणामो से हम अवगत हैं। नौकर बात नहीं मानता, तत्काल अहकार का आवेश आ

जाता है और उस आवेश मे क्या-क्या नहीं कर दिया जाता ? गालियां बोली जाती हैं, नौकर को पीट दिया जाता है, उसे नौकरी से निकाल दिया जाता है। यह सारा अहंकार के आवेश के कारण होता है। क्या यह जरूरी है, हर आदमी हर आदमी का आदेश माने ? कोई जरूरी नहीं है। मानना अच्छा होता है, पर कभी-कभी न मानना उससे भी अच्छा होता है। मालिक सोचता है तो नौकर नहीं सोचता ?

मालिक ने नौकर से कहा—'जाओ, बगीचे मे पानी सींच आओ।' नौकर बोला—'मालिक! बाहर मूसलाधार वर्षा बरस रही है। पानी सींचने से क्या ?' मालिक बोला—'मूर्ख हो तुम। वर्षा बरस रही है तो छाता ले जाओ और पानी सींच आओ।' नौकर अब क्या करे ? कहने वाला मालिक इतना भी नहीं सोचता कि मूसलाधार वर्षा हो रही है, पौधो को पानी सींचने का अर्थ ही क्या हो सकता है ? नौकर इस आदेश को माने तो क्यों ?

आदेश देने वाले सभी बहुत समझदार होते हैं और बहुत विवेकपूर्ण आदेश देते हैं, ऐसा तो नहीं है। बहुत बार ऐसे आदेश दे दिये जाते हैं कि उन्हे मान लेने पर अनर्थ हो सकता है। किन्तु न मानने पर मालिक का क्रोध और आवेश तैयार रहता है। उसके परिणाम भी भुगतने पडते हैं। आवेश के कारण चिन्तन की दिशाए विकृत बन जाती हैं। आदमी एक दूसरे को समझ नहीं पाता। पति-पत्नी, भाई-भाई, नौकर-स्वामी के संबंधों मे जो दूरी आती है, उसमे आवेश का मुख्य हाथ रहता है। जब आवेश का परदा बीच में होता है तब आदमी दूसरे आदमी को समझ नहीं पाता, देख नहीं पाता। आवेश ही दिखेगा। सामने वाला व्यक्ति वैसा ही दिखेगा जैसा प्रतिबिम्ब आवेश के साथ जुडा हुआ है। आवेश चितन को कभी सम्यक् नहीं होने देता। इसलिए संतुलित चिन्तन का मानदण्ड बनता है—अनावेश अवस्था का अभ्यास। यह कैसे हो सकता है ? क्या क्रोध और अहकार को कम किया जा सकता है ? लोग इस भाषा मे नहीं सोचते कि अहंकार को मिटाया जा सकता है या कम किया जा सकता है ? वे इस भाषा मे सोचते हैं कि क्रोध तो स्वभाव है, वह मिटने वाला नहीं है। अहकार मनुष्य का स्वभाव है, वह मिटने वाला नहीं है। आदमी बदलता नहीं। ये मिटते नहीं। आदमी नहीं बदलता, इसको मान लेने पर बदलने का प्रश्न ही नहीं उठता। ध्यान का अभ्यासी व्यक्ति सबसे पहले इस मिथ्या धारणा को तोडता है। जो इस धरणा को नहीं तोडता, वह ध्यान का अच्छा अभ्यासी नहीं हो सकता। ध्यान का अभ्यास करने वाले को पहला पाठ पढना होगा कि आदमी बदल सकता है, उसका स्वभाव बदल सकता है। यदि आदमी न बदले, स्वभाव न बदले तो ध्यान को ही बदल देना

चाहिए, छोड देना चाहिए। फिर ध्यान का कोई प्रयोजन नहीं, कोई सार्थकता नहीं। ध्यान की सार्थकता तो यही है कि चित्त इतना एकाग्र और निर्मल बन जाए कि उसमें जो बुरे स्वभाव के परमाणु जमे हुए हैं, वे सारे के सारे धुलकर बह जाए। चित्त निर्मल हो जाए। जब चित्त साफ हो जाता है फिर आदते कहा टिकती हैं ? सारी आदते चित्त की कलुषता मे टिकती हैं। कलुषता की इतनी चिकनाहट चित्त पर जमी हुई है कि जो भी आता है वह वहा चिपक जाता है। सारी आदतो,और स्वभावो को आधार देने वाला है चित्त, चेतना।

एक प्रश्न आता है, आत्मा निर्मल होती है, चेतना निर्मल होती है फिर कर्म उस पर कैसे चिपक जाते हैं।

लोग आरोपण की भाषा बहुत जानते हैं। जो नहीं है, उसे आरोपित कर लेते हैं। चेतना निर्मल हो सकती है, होगी, पर वर्तमान मे वह निर्मल नहीं है। जो वर्तमान मे नहीं है, उसको उसी पर्याय मे देखा जाए। भविष्य के पर्याय का वर्तमान मे आरोपण न हो और अतीत के पर्याय का भविष्य मे आरोपण न हो। आरोपण से अनेक कठिनाइया उत्पन्न हो जाती हैं। सोना जो आच मे तपा, वह निर्मल हो गया, पीला हो गया, चमकदार बन गया। पर खदान से निकलते सोने को देखकर यह कल्पना नहीं की जा सकती कि सोना इतना चमकदार होता है। उस समय वह केवल मिट्टी का ढेला होता है। कच्चे सोने मे और पक्के सोने मे बहुत अन्तर होता है। आग मे निकलने वाले सोने की चमक और मिट्टी के साथ मिले हुए सोने की चमक की तुलना ही क्या ? सारे मलो के दूर हो जाने के पश्चात् जो चमक आती है, वह निराली होती है। इसी प्रकार साधना की भट्टी मे पक जाने के बाद चेतना मे जो निर्मलता आती है उस निर्मलता की कल्पना कषाय-मलिन, विषय और वासना से लिप्त चेतना मे नहीं की जा सकती। वर्तमान मे हमारी चेतना कषायों से लिप्त है। क्रोध, अहंकार, कपट, छलना, प्रवचना, लालच, घृणा, भय, ईर्ष्या, राग और द्वेष, प्रियता और अप्रियता के सवेदन--इन सबसे जुडी हुई चेतना निर्मल कैसे हो सकती है ? इन सबको टिकाए हुए कौन है ? अचेतन मे कभी क्रोध नहीं होता। क्या दीवार कभी गुस्सा करती है? यदि ये दीवारें गुस्सा करने लग जाए तो आदमी की ऐसी स्थिति होगी कि उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकेगी। पट्ट, जिस पर हम बैठते हैं, वह कभी गुस्सा नहीं करता। उस पर हम पैर रखते हैं, पर वह कुछ नहीं कहता। किसी के सिर पर पैर रख कर देखे। छूते ही आदमी बडबडाने लग जाता है, उसका पारा चढ जाता है, पर बेचारा पट्ट न कभी क्रोध करता है और न कभी अहकार करता है। किसी आदमी के सिर पर पैर रखे, अहंकार का सर्प फुफकार उठेगा।

अचेतन में न क्रोध होता है, न अहंकार होता है और न छलना/प्रवंचना होती है। आदमी आदमी को ठग लेता है, चेतन चेतन को ठग लेता है। पर कभी जड ने किसी चेतन को ठगा हो, ऐसा देखने-सुनने में नहीं आया। ये सारी प्रवंचनाएं, सारी ठगाइयां आदमी ने ही पैदा की हैं और आदमी ही इन्हें करता चला जा रहा है। दूसरे शब्दो में, चेतन ने पैदा की है और चेतन ही करता चला जा रहा है। इसका निष्कर्ष है कि सारी बुराइयों को चेतन ही टिकाए हुए है। अचेतन में कोई बुराई नहीं होती। अचेतन मे तो जो होता है वह होता है। न अच्छाई होती है और न बुराई होती है। चेतन ही सब टिकाए हुए है, पर कब तक—यह प्रश्न है। जब तक चेतन अपने चेतनस्वरूप का अनुभव नहीं करता, तब तक ये दोष टिके हुए रहते हैं।

ध्यान चेतन-स्वरूप के अनुभव की प्रक्रिया है। ध्यान अपने स्वरूप के जागरण की प्रक्रिया है। जब तक स्वरूप की विस्मृति बनी रहती है तब तक ये सारे दोष चेतन मे टिके रहते हैं। उनको आधार और सहारा मिलता रहता है। इतना वातानुकूलित स्थान मिल गया है उनको कि वहां न सर्दी का भय है और न गर्मी का भय है। जितने पाप हैं, दोष हैं, बुराइया हैं—ये सारे चेतन के आधार को पाकर मजे से जी रहे हैं, पनप रहे हैं। जिनको आधार प्राप्त है, वे आराम से जी रहे हैं और जो आधार देने वाला है, वह बुरे हाल मे जी रहा है। बडी विचित्र स्थिति है। ऐसा होता है। मकान मालिक दु.ख पाता है और किरायेदार सुख से जीता है। किरायेदार से मकान खाली करा पाना सहज नहीं है। इन दोषों से चेतना को मुक्त कर पाना सहज-सरल नहीं है। इस अर्थ में लोगो की धारणा एकदम गलत नहीं है कि स्वभाव को बदला नहीं जा सकता। असंख्य काल से जो संस्कार चेतन पर अधिकार किए बैठे हैं, उन्हें सरलता से उखाडा नहीं जा सकता। किन्तु ध्यान एक ऐसी प्रक्रिया है जिससे चेतना पर आई हुई चिकनाहट को धीरे-धीरे साफ किया जा सकता है। और जब चिकनाहट धुलती है तब उस पर चिपके रहने वाले तत्त्व भी धुलते जाते हैं। किरायेदार को कानून की ओर से कुछेक अधिकार प्राप्त हैं। उससे मकान खाली नहीं कराया जा सकता। पर जब मकान जर्जर हो जाता है, मूसलाधार वर्षा होती है, तुफान आता है तो वह मकान ढह जाता है। उस स्थिति में सारे किरायेदार बोरिया-बिस्तर समेट कर अन्यत्र चले जाते हैं। मकान अपने आप खाली हो जाता है। ध्यान एक ऐसी मूलसाधार वर्षा है, ऐसा तूफान है कि मकान को खंडहर बना देता है और तब सारे किरायेदार—दोष निकल भागते हैं। यह है बदलने की प्रक्रिया। सब कुछ बदल जाता है।

इस दुनिया मे कुछ परिवर्तनीय है और कुछ अपरिवर्तनीय। जो अपरिवर्तनीय है, जो ध्रौव्याश है उसे नहीं बदला जा सकता। किन्तु जो पर्याय हैं, उन्हे बदला जा सकता है। कोई भी पर्याप अपरिवर्तनीय नहीं होता। क्रोध की अवस्था एक पर्याय है, मान और अहकार की अवस्था एक पर्याय है, लोभ की अवस्था एक पर्याय है, प्रियता और अप्रियता की अवस्था एक पर्याय है। ऐसे हजारो पर्याय हैं। वे कभी अपरिवर्तनीय नहीं होते। उन्हे बदला जा सकता है। सारे संबंध और सभी कर्म पर्याय हैं। उन्हे बदला जा सकता है। मूल तत्त्व को नहीं बदला जा सकता। मूल तत्त्व दो ही हैं—चेतन और अचेतन। ये नहीं बदले जा सकते। चेतन अचेतन में या अचेतन चेतन में नहीं बदला जा सकता। पर्याय बदले जा सकते हैं। जब यह तथ्य जान लिया जाता है तब सारे सबंध-विजातीय भाव टूटने लग जाते हैं। उस स्थिति मे यह स्पष्ट अनुभव होने लगता है कि ध्यान विसंबध की प्रक्रिया है। ध्यान करने वाले व्यक्ति की चेतना संबंधातीत होने लग जाती है। यह व्यवहार मे कुछ अटपटी-सी बात लगती है। पर यह होता है। उस व्यक्ति का सारा रस बदल जाता है, मर जाता है। जब वह परम रस मे मग्न हो जाता है, तब ये नीचे के रस तुच्छ हो जाते हैं, रसहीन हो जाते हैं। पदार्थ मे रसानुभूति तब तक ही होती है जब तक रसातीत अवस्था का अनुभव नहीं हो जाता। ध्यान से सबंधातीत अवस्था का उदय होता है और तब सब कुछ विसबधित हो जाता है। पदार्थ पदार्थ मात्र रह जाता है और चेतना चेतना मात्र रह जाती है। पदार्थ को चेतना के साथ जोडने वाला सूत्र है—आसक्ति। वह ध्यान की प्रक्रिया से कट जाता है, तब पदार्थ उपयोगिता मात्र रह जाता है। जीना है तो श्वास लेना ही होगा, भोजन और पानी का उपयोग करना ही होगा। जीना है तो कपडे और मकान का उपयोग करना ही होगा। इन सब मे उपयोगिता की दृष्टि बनी रहती है, मूर्च्छा या आसक्ति टूट जाती है, यह एक नई स्थिति का निर्माण है।

ध्यान के द्वारा चिन्तन मे सृजनात्मक शक्ति का विकास होता है। उसका साधन बनता है—अनावेश। यह है आवेश का अभाव। चिन्तन का एक दोष है—सदेह। आदमी सदेह बहुत करता है। वह खतरा उठाता है, इसलिए सदेह करता है। एक कहावत है—दूध से जला छाछ को भी फूक-फूक कर पीता है। इसमे सचाई है। आदमी जब ठगा जाता है तब हर बात मे सदेह करने लग जाता है। यदि प्रवंचना के तत्त्व समाज मे नहीं होते तो आदमी मे

सन्देह पैदा नहीं होता। प्रवचना के तत्त्व हैं, इसलिए सदेह होने लगा।

एक व्यापारी बाहर से माल लेकर आया। रास्ते में चुंगी की चौकी थी। वह आंख चुराकर चला गया। चुंगी के अधिकारी को पता लग गया। अब वह अधिक सतर्क रहने लगा। इससे पहले चुगी चुराने का प्रसंग नहीं आया था, इसलिए अधिकारी विश्वस्त रहते थे। स्वयं व्यापारी आकर उनको बता जाता, चुंगी दे जाता। अब एक आदमी ने प्रवचना की और अधिकारी सारे व्यापारियो की तलाशी लेने लग गया। पहले तलाशी नहीं ली जाती थी, क्योकि प्रवंचना का तत्त्व उभरा नहीं था, कोई प्रवंचना नहीं करता था। एक ने प्रवचना की और सबको परिणाम भुगतना पडा।

प्रवंचना संशय को पैदा करती है। प्रवचना के बिना संदेह उत्पन्न ही नहीं होता। आज सामाजिक वातावरण ही ऐसा बन गया है कि हर आदमी विश्वसनीय बात में भी अविश्वास करता है। वह किसी का भरोसा नहीं करता। बेटा बाप का भरोसा नहीं करता और बाप बेटा का भरोसा नहीं करता। नेपोलियन ने एक बार कहा था—मेरे शब्दकोश में 'असंभव' जैसा शब्द ही नहीं है, वैसे ही आज के शब्दकोशो से 'विश्वास' जैसे शब्द को निकाल देना चाहिए। सर्वत्र सशय ही संशय। संशय के बिना कोई बात ही नहीं होती। चिंतन का एक दोष है—संशय। जब आदमी संशय के आधार पर चिन्तन करता है तब चिन्तन विधायक नहीं होता, त्रुटि रहित नहीं होता। वह कभी भी संतुलित चिन्तन नहीं हो सकता।

जीवन में आस्था का स्थान बहुत ऊचा है। जिस जीवन में आस्था नहीं होती, वह जीवन आधारशून्य होता है। उस जीवन मे सफलता का वरण नहीं हो सकता। आस्था के तीन आधार स्तम्भ हैं—क्षमता, कर्तृत्व और सार्वभौम नियमों की ज्ञप्ति।

पहल तत्त्व है—क्षमता। प्रत्येक व्यक्ति को यह विश्वास होना चाहिए कि उसमें असीम क्षमता है।

दूसरा तत्त्व है—कर्तृत्व। हर आदमी मे यह भरोसा होना चाहिए कि वह उस कार्य को कर सकता है। उसमे कर्तृत्व शक्ति है।

तीसरा तत्त्व है—सार्वभौम नियमो का ज्ञान। शक्ति के र्साविभौम नियमों का ज्ञान और उन पर विश्वास होना चाहिए।

आस्था का अर्थ किसी पर भरोसा करना नहीं होता। उसका अर्थ है

अपने आप पर भरोसा करना। कोई किसी पर भरोसा नहीं करता। सब स्वयं पर भरोसा करते हैं। जब आदमी में अपनी क्षमता पर विश्वास, अपने कर्तृत्व पर विश्वास और सार्वभौम नियमो पर विश्वास होता है तब वह पूर्ण आस्थावान् बनता है। हम जानते हैं कि हमारे में असीम शक्ति है, अनन्त शक्ति है। हम यह भी जानते है कि यदि आदमी सम्यक् पुरुषार्थ करता है तो असंभव लगने वाला काम भी सभव बन जाता है। व्यक्ति का पुरुषार्थ और प्रयत्न फलवान् होते हैं। कर्तृत्व की भी एक सीमा है। इस दृष्टि से आदमी को सार्वभौम नियम भी जान लेने चाहिए। यदि कोई आदमी इस दिशा मे प्रयत्न और पुरुषार्थ करे कि मनुष्य मरे ही नहीं, उसे मौत आए ही नहीं तो यह सार्वभौम नियम को न जानने का परिणाम होगा। कोई यह कह सकता है, मैं संकल्प शक्ति का प्रयोग करूंगा, इच्छाशक्ति और एकाग्रता की शक्ति का प्रयोग करूंगा, ध्यान का प्रयोग करूंगा और फिर यह घोषणा करूंगा कि मैं कभी नहीं मरूंगा, पर ऐसा होगा नहीं। संकल्पशक्ति और इच्छाशक्ति धरी रह जाएगी। एक दिन आएगा, आदमी मर जाएगा। क्यो ! क्योकि उसने सत्य को समझा ही नहीं। मृत्यु सर्वाभौम नियम है। कोई भी इसका अपवाद नहीं हो सकता।

यह भी एक सार्वभौम नियम है कि बिना बदले इस दुनिया मे कुछ भी नहीं रह सकता। जिसने एक आकार लिया है, उसे दूसरा आकार लेना ही पडेगा। जिसने एक परिणमन किया है उसे दूसरा परिणमन करना ही पडेगा। बदलने और परिणत होने की सीमा हो सकती है, काल की अवधि हो सकती है। यह अवधि दस वर्ष की हो सकती है, हजार और लाख वर्ष की हो सकती है, असंख्य काल की हो सकती है। पर यह अटल नियम है कि बदलना ही पडेगा। हम एक परमाणु को ले। वह आज काले रंग का है। एक निश्चित अवधि के बाद उसे अपना रंग बदलना ही होगा। रंग स्वत: बदल जाता है। बदलने वाला दूसरा कोई नहीं है। यह एक सार्वभौम नियम है। यह एक ऐसी नियति है कि जिसे कभी टाला नहीं जा सकता। जो एक रग मे अभिव्यक्त हुआ है तो उसे दूसरा रंग भी लेना होगा। एक स्पर्श मे आया है तो उसे दूसरा स्पर्श भी लेना होगा। जितने पर्याय हैं, वे सारे बदलते हैं। उन पर्यायो को बदलने से नहीं रोका जा सकता। उन्हें कभी शाश्वत नहीं बनाया जा सकता। जन्म एक पर्याय है। मृत्यु भी एक पर्याय है। जिसने जन्म लिया है, उसे मरना ही पडेगा।

हठयोग के ग्रन्थो मे अनेक स्थलों पर यह उल्लेख मिलता है कि अमुक द्रव्य का प्रयोग करो, अमर हो जाओगे। आयुर्वेद के ग्रन्थ भी इस बात का उल्लेख करते हैं कि अमुक रसायण का प्रयोग करो, अजर-अमर बन जाओगे। सभव है व्यक्ति अजर तो बन जाए, पर अमर नहीं बन सकता। यह आवश्यक नहीं है कि हर आदमी बूढा होकर ही मरे। आदमी जवानी में भी मर सकता है और जवानी को लम्बे समय तब टिकाए भी रख सकता है। अजर रहने की बात समझ मे आ जाती है पर अमर वाली बात समझ मे नहीं आती। अमर तो कोई होता ही नहीं। यह भ्रम पैदा हो गया कि ग्रन्थो मे अमर होने की बात लिखी पडी है, प्रयोग लिखे पडे है तो यह अवश्यंभावी घटना है। अमर हो सकते है। कुछेक लोग ऐसी घोषणा भी कर देते है कि मैं नहीं मरूंगा। मैने साधना के द्वारा मृत्यु पर विजय प्राप्त कर ली है। बडी मूर्च्छा हो जाती है। लिखने वालो ने लिखा होगा किसी अपेक्षा से। उनकी अपेक्षा यह रही होगी कि अजर-अमर हो जाएगा अर्थात् अकाल मौत नहीं मरेगा। यह अपेक्षा विस्मृत हो गई और यह बात पकड ली गई कि आदमी अमर हो जाएगा। यह बहुत बडी समस्या पैदा हो गई।

संशय का अर्थ है—सभावना की अस्वीकृति। संशय करने वाला व्यक्ति सभावना को सर्वथा अस्वीकार कर देता है। हम आस्था का निर्माण करे और सभावना को स्वीकार करे। आस्था से सभावना का स्वीकार होता है। चिन्तन की त्रुटि कहा होती है, इसे हम समझे। कोई नई बात सामने आती है और आदमी तत्काल कह देता है—ऐसा कभी संभव नहीं होगा।

आज वायुयान आकाश मे हजारों फुट ऊंचे उडता है। इसमे किसी को संदेह नहीं है। सब लोग जानते है, किन्तु पहले की बात है। एक अमेरिकन पादरी से एक कॉलेज के प्रिंसिपल ने कहा—'यह असंभव बात है। ऐसा हो ही नहीं सकता।' नियति की बात है कि उसी पादरी के दो लडकों ने पैंतीस वर्ष पश्चात् पहली बार आकाश मे उडान भरी।

संभावनाओं को अस्वीकार करना सबसे बडी त्रुटि है।

कई बार पत्रो मे पढते हैं, वैज्ञानिक जीन का निर्माण करने मे लगे हुए है। वे जीन के निर्माण मे सफल हो रहे है और सभव है वे जीन का निर्माण भी कर ले। लोग कह देते है, यह असभव कल्पना है। जीन का निर्माण कैसे किया जा सकता है ?

यह सभावना की अस्वीकृति अज्ञान के कारण होती है। सम्भावना को अस्वीकार क्यो किया जाए ? उसके लिए अवकाश सदा से रहा है। विकास की सारी कहानी सभावना-स्वीकृति की कहानी है।

जैन आचार्यो द्वारा रचित एक प्राचीन ग्रन्थ है–'जोणिपाहुड' (योनिप्राभृत)। उस ग्रन्थ मे जीव और अजीव, चेतन और अचेतन की जितनी योनियां हो सकती हैं, उनका वर्णन है। आश्चर्य होता है कि आज इतनी वैज्ञानिक गवेषणाओ के बाद भी 'परखनली' मे शिशु को उत्पन्न करने की प्रक्रिया पूर्णत. सफल नहीं हुई है। किन्तु उस योनिप्राभृत ग्रन्थ मे बतलाया गया है कि किसी भी प्रकार के प्राणी को उत्पन्न किया जा सकता है। उसमे उदाहरण मिलते हैं कि अमुक व्यक्ति ने हजारो भैंसे बनाए, घोडे बनाए आदि-आदि। घटना आती है एक भक्त राजा अपने गुरु के पास जाकर बोला–गुरुदेव! शत्रु ने नगर पर आक्रमण कर दिया है। आप कोई रास्ता बताए। मैं उसका सामना करने मे असमर्थ हूं। आपको ही बचाना होगा।' गुरु ने करुणा दृष्टि से भक्त राजा को देखा। मन करुणा से भर गया। उन्होने उपाय खोजा। योनिप्राभृत ग्रथ के ज्ञान का उपयोग किया। तालाब मे कुछ द्रव्य फेका और तत्काल उसमे से हजारो घुडसवार निकलने शुरू हुए। वे निकलते ही गए। शत्रु सेना ने देखा। वह घबरा गई। उसने सोचा–कितना विशाल है इस राजा की अश्वसेना! शत्रु सेना भाग गई।

दूसरा प्रसंग है। आचार्य मध्यरात्रि मे अपने शिष्यो को योनिप्राभृत की वाचना दे रहे थे। उस दिन का प्रसंग था–मत्स्यो के उत्पादन की विधि। रास्ते से एक मच्छीमार गुजर रहा था। उसने कान लगाकर सारी विधि सुन ली। दूसरे ही दिन उसने उस विधि का प्रयोग किया। तालाब मछलियो से लबालब भर गया। आचार्य उसी रास्ते से रोज आते जाते थे उन्होने सोचा कि जो तालाब आज तक मछलियो से शून्य रहता था, उसमे इतनी मछलियां कहां से आ गईं। आचार्य ने सोचा कि संभव है किसी ने यह विधि सुन ली है।

दूसरे शब्दों मे हम इस उत्पादन विधि को जिनेटिक इन्जीनियरिंग कह सकते हैं। यह विधि बहुत प्राचीन है।

इन सारी बातों का निष्कर्ष यह है कि हम कभी भी सम्भावना के द्वार को बन्द न करें। आस्था के निर्माण का अर्थ है–सम्भावना की स्वीकृति। जहा

सम्भावना की स्वीकृति होती है वहां चिन्तन सम्यक् हो जाता है। वहां कोई आग्रह नहीं होता। आग्रह वहीं पनपता है जहां सम्भावना को स्वीकार नहीं किया जाता।

गलत चिन्तन का आधार है आवेश। राजा खुले पैर घूम रहा था। अचानक एक कांटा चुभा। बहुत पीडा हुई। राजा ने मंत्री से कहा—देखो, कांटे का कितना दर्द होता है ? मेरी रियासत मे अनेक लोग खुले पैर चलते होगे। उनके पैरो मे कांटे चुभते होगे। तुम ऐसा करो कि हमारे रियासत की सारी भूमि को चमडे से मढ दो। फिर किसी को कांटा नहीं चुभेगा। यह एक आवेश से प्रेरित आदेश था। राजा ने नहीं सोचा, यदि सारी पृथ्वी चमडे से मढ जाएगी तो अनाज पैदा कैसे होगा? आदमी क्या खाएगा? पशु क्या खाएंगे?

यूनान का राजा था मिडास। उसने देवता से वर मांगा—'मैं जिसको छूऊ, वह सोने का बन जाए।' देवता ने वरदान दे दिया। अब जिस किसी पदार्थ के हाथ लगाता है, वह सोने का बन जाता है। लडकी आई दौड़ी-दौडी। पिता मिडास ने प्यार से उसे छुआ।'वह निर्जीव हो गई। सोने की बन गई। राजा ने भोजन को हाथ लगाया, पानी को छुआ, सब स्वर्णमय बन गए। भूख और प्यास से वह छटपटाने लगा। सोचा मैंने गलत चिन्तन किया है। गलत वर मांग डाला। देवता का स्मरण किया। देवा आया। क्षमा मांगी। बोला—'देव! मै जैसा था वैसा ही मुझे रहने दो। अपना वरदान वापस ले लो।'

मनुष्य आवेश और तनाव की स्थिति में गलत सोच लेता है। उस स्थित मे वह कभी भी सही निर्णय नहीं ले सकता। यदि यह बात पूर्णत: समझ ली जाती है तो बहुत सारे वकीलो और जजो की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। तनाव के कारण ही व्यक्ति न्यायालय की शरण में जाता है। वहां जाने वाला भी पछताता है और नहीं जाने वाला भी पछताता है। वह बूर का लड्डू है। न खाने वाला भी पछताता है और खाने वाला भी पछताता है। यदि आवेश की स्थिति समाप्त हो जाए तो न्यायालय में चलने वाले सत्तर प्रतिशत मुकदमे वैसे ही समाप्त हो जाते हैं।

मैंने सुना है कि पश्चिम जर्मनी मे एक प्रयोग किया जा रहा है। जो व्यक्ति क्रिमिनल केस लेकर आता है, उसे एकान्त में ५-६ घंटे बिठाया जाता है। फिर उससे पूछताछ की जाती है। उन्होने निष्कर्ष के रूप मे बताया कि सत्तर प्रतिशत व्यक्ति तो विना शिकायत किए ही लौट जाते हैं, क्योकि वे

आवेश की वशीभूत होकर न्यायालय मे आए थे। आवेश मिटा और वे शान्त हो गए।

विधायक और निषेधात्मक चिन्तन के ये कुछेक पहलू हैं। चिन्तन को विधायक बनाने के लिए परिस्थितियो को बदलना जरूरी होता है। उनको बदलने का एकमात्र विकल्प है—चित्त की एकाग्रता, चित्त की निर्मलता।

कैसे सोचें ? (३)

आज मौसम सुहावना हो गया। मंद-मंद वर्षा, हल्की फुहारें। भयंकर गर्मी के बाद एक फुहार भी आदमी को आनन्द देती है। मौसम का स्वभाव है, वह एक रूप नहीं होता। कभी गर्मी, कभी ठंढक। दुनिया मे एक रूप कोई भी नहीं है। मौसम ही क्या ? कोई भी एक रूप नहीं है। सब बदलते रहते हैं। आदमी भी कभी ठडा होता है, कभी गर्म हो जाता है। न जाने कितनी बार होता है ऐसा। यह परिवर्तन एक अटल नियम है। इसे कभी नहीं टाला जा सकता। सब बदलते हैं। हमारे विचार भी बदलते हैं। वे भी शाश्वत कहां हैं ? कुछ लोग कहते हैं कि ये विचार तो शाश्वत हैं ? दोनो का विरोधाभास-विचार और शाश्वत-दोनो का योग ही कहां ? विचार का अर्थ होता है चलने वाला। चलने वाला शाश्वत कैसे होगा ? कभी शाश्वत नहीं हो सकता। जो चल है वह अचल नहीं हो सकता और जो अचल है वह चल नहीं हो सकता। चल और अचल का योग तो हो सकता है। एक द्रव्य मे चलांश भी होता है और अचलांश भी होता है, दोनो अंश मिल सकते है, किन्तु जो अचल है वह चल नहीं हो सकता और जो चल है वह अचल नहीं हो सकता। जो ध्रुव है वह परिवर्तनशाली नहीं हो सकता और जो परिवर्तनशील है वह कभी ध्रुव नहीं हो सकता। प्रत्येक द्रव्य में दोनों प्रकार के धर्म मिलते हैं-ध्रौव्यांश और चलांश, परिवर्तनशीलता और अपरिवर्तनशलता। विचार सदा परिवर्तनशील होता है। कहते हैं आज इस आदमी का विचार बदल गया। इसमें क्यों आश्चर्य होना चाहिए ? विचार यदि न बदले तो उसमे आश्चर्य होना चाहिए। विचार बदले उसमे कौन-सा आश्चर्य है ? विचार का काम ही है बदल जाना। कल जो विचार था वह आज नहीं होगा और आज जो विचार है वह आने वाले कल मे नहीं होगा। अगर एक ही विचार पूरे जीवनकाल में टिक जाए तो मानना चाहिए बडा रूढीवादी आदमी है। इतने लम्बे समय तक एक विचार टिक गया। विचार का काम है-सतत प्रवाह, गतिशीलता बदलते जाना, बदलते जाना। जो पकडकर बैठ जाते है कि मैने तो एक विचार पकड लिया है, अब छोडूगा नहीं। वह बडा अहकार और गर्व का अनुभव करता है, सोचता मै बडा मजबूत आदमी हू कि पकडी हुई बात को छोडता नही। अरे, कौनसी बडी बात कर दी तुमने ? यह तो मूर्खता की बात है। बात है मूर्खता की और मान लेता है गर्व की बात। गर्व से कहता है कि मैं कितना दृढ आदमी हू। पत्थर बहुत मजबूत होता है। हड्डी बहुत मजबूत हो जाती है तो बहुत खतरा

होता है। हड्डिया लचीली रहती है तो आदमी स्वस्थ रहता है। बीमारी का पहला लक्षण है हड्डियों का कठोर हो जाना। हड्डी अकड गई, कडी पड गई तो मान लें, स्वास्थ्य चला गया। इसलिए एक बात पर डट जाना, कोई विशेषता की बात नहीं है, परन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि आदमी मूर्खता की बात को भी बहुत विशेषता की बात मान लेता है। यही विचार का अन्तर है। सम्यक् विचार और सम्यक् चिन्तन नहीं होता है तो आदमी गलत बात को सही मान लेते है और मूर्खता को समझदारी मान लेते है। आश्चर्य की बात यह है कि उन्हें यह भान भी नहीं होता कि वे मूर्खता कर रहे हैं। बहुत लोग ऐसे होते हैं जिन्हे अपनी मूर्खता का कभी पता ही नहीं चलता।

दो सहेलिया मिलीं। बाते चलने लगीं। एक सहेली ने अपनी सहेली से कहा—आजकल औरतें अपने पतियों की निदा बहुत करती है। निदा करना बुरा है। ऐसा नहीं करना चाहिए। मुझे भी देखो, मेरा पति कितना आलसी है, नालायक है, कितना मूर्ख है पर मै कभी किसी को नहीं कहती कि मेरा पति ऐसा है, वैसा है।

अजीब स्थिति होती है हमारे चितन की। आदमी मूर्खता करता ही चला जाता है और उसे भान ही नहीं होता कि मैं मूर्खता कर रहा हू। मूर्खता पर भी एक मुलम्मा चढाने का प्रयत्न करता रहता है।

विचार का क्षेत्र भी ऐसा ही होता है। बडा विचित्र होता है विचार का ससार। वहां विरोधाभास पलते हैं, वहां विसगतिया पलती हैं। वहां समझदारी की ओट में मूर्खता पलती है। ऐसा है विचार का क्षेत्र। अविचार मे तो ऐसा होता नहीं। तीन स्थितिया है—अविचार, विचार और निर्विचार।

एक अविचार की स्थिति वह है जिसमे व्यक्ति चिन्तन करना जानता ही नहीं। छोटे प्राणी हैं, वे चिन्तन करना नहीं जानते। मनुष्य मे भी कुछ ऐसे अविकसित मनुष्य है, उनका मस्तिष्क अविकसित होता है। वे विचार करना नहीं जानते। यह अविचार है विचार की अक्षमता।

दूसरी अवस्था है—विचार। इस अवस्था मे प्राणी चिन्तन करता है, सोचता है।

तीसरी अवस्था है—निर्विचार। यह है ध्यान की अवस्था। इस अवस्था में चले जाने पर विचार समाप्त हो जाते है। न कोई कल्पना, न कोई स्फूर्ति और न कोई चिन्तन। सारे दरवाजे बन्द हो जाते है। यह हमारी निर्विचार अवस्था है। निर्विचार का अनुभव शब्दातीत अनुभव होता है और उसमे उस चेतना का जागरण होता है जो चेतना इन्द्रियो से, मन से, बुद्धि से और विवेक से परे है। सबसे परे की चेतना अतीन्द्रिय चेतना की अवस्था बन जाती है।

वहां केवल आत्मा का अनुभव शेष बचता है, बाकी स्मृतियां लुप्त हो जाती हैं। वह एक परम अवस्था है। उसकी चर्चा शब्दो में नहीं हो सकती। यह अनुभव का विषय है। बुद्धि की सीमा का जो विषय है वह शब्दों द्वारा प्रतिपादित किया जा सकता है। जो बुद्धि से परे का संसार है, वह शब्दातीत होता है। उसके बारे मे कहा जाए तो भी कुछ नहीं बनता और न कहे तो भी मन नहीं मानता। कहने और न कहने की दोनो स्थितियों मे आदमी उलझा रहता है। किन्तु हमारा संसार बुद्धि का ससार और विचार का संसार है, वहां ये बाते होती है, विरोधाभास होते हैं। जितना विरोधाभास वैचारिक जगत् मे होता है उतना कहीं नहीं होता। एक आदमी आज एक बात कहता है वही आदमी कल दूसरी बात कह देता है।

चर्चिल ने कहा था कि कुशल राजनीतिज्ञ वह होता है जो सुबह एक बात कहता है और शाम को उसका खण्डन कर देता है इस चतुराई के साथ कि सुबह मैंने कहा था वह भी ठीक था और अब जो कह रहा हूं वह भी ठीक है।

विचार के क्षेत्र मे कभी विरोधाभासो को टाला नहीं जा सकता। तर्कशास्त्र मे स्थान-स्थान पर कहा जाता है—यहां अमुक बात का विरोधाभास है, यहां अमुक बात का विरोधाभास है। अरे, जब शास्त्र ही तर्क का है, तर्कशास्त्र है, जहां विचार ही कर रहे हो तो विरोधाभास नहीं आएगा तो और क्या आएगा।

गर्भवती मां ने छोटे मुन्ने से पूछा—अरे तुम क्या चाहते हो, मुन्ना या मुन्नी ? छोटा बच्चा था, बोला—मां ! तुम्हे कष्ट न हो तो छोटा-सा पिल्ला चाहिए, न मुन्ना, न मुन्नी।

कहां से आएगा ? जो है नहीं वह कहा से आयेगा। जो होगा, वही आएगा। विचार मे और क्या आएगा ? विचार का काम है, संगति और विसंगति दोनो पैदा करना। विचार का काम है विरोध और अविरोध दोनो पैदा करना। कोई भी विचार, बुद्धि या तर्क ऐसा नहीं हो सकता जो केवल अविरोध पैदा करे, केवल सगति या सामजस्य पैदा करे। द्वन्द्व ही पैदा होगा विचार के द्वारा, क्योकि वहा गतिशीलता है। यह नहीं हो सकता कि चलने वाला चलता ही रहे, लडखडाये नहीं। जो चलता है वह लड़खडाता है। घोडे पर चढता है वह गिरता भी है। चलना और लडखड़ाना, चढना और गिरना—दोनो साथ जुडे हुए हैं। विचार की इस द्वन्द्वात्मक दुनिया मे हम एक बात की अपेक्षा रखे कि यही होगा, वह नहीं होगा, यह होना चाहिए, वह नहीं होना चाहिए, तो यह हमारी भ्रांति होगी, कोई तथ्य नहीं होगा। यह विचार की

प्रकृति है, विचार का स्वभाव है, इसलिए हम विचार पर भी विचार कर रहे हैं। और इसलिए कर रहे हैं कि आदमी अच्छा भी सोचता है, बुरा भी सोचता है। विधायक भी सोचता है और निषेधात्मक भी सोचता है। सृजनात्मक भी सोचता है और ध्वसात्मक भी सोचता है। हम चाहते हैं कि निषेधात्मकता का, ध्वसात्मकता का पक्ष कम होता चला जाए। इसलिए विचार पर विचार कर रहे हैं, यह सोच रहे हैं कि कैसे सोचे ?

इस प्रश्न मे विचारो के परिष्कार की बात आती है। उसका एक उपाय है कि यदि हम निर्विचार और विचार का सतुलन कर सके तो विचार को विधायक बना सकते हैं, सृजनात्मक बना सकते हैं, ध्वंसात्मकता को कम कर सकते हैं। केवल विचार ही करेगे तो यह संभव नहीं होगा, क्योकि विचार मे तो स्फुलिग होगा, विचार मे तो टक्कर होगी, संघर्ष होगा। निर्विचार का पलडा जैसे-जैसे भारी होता चला जाएगा, विचार का शोधन और परिष्कार भी होता चला जाएगा, बीच मे आने वाले अवरोध और विसंगतियां कम होती चली जाएंगी। विचार के शोधन का और कोई उपाय नहीं है। विचार के परिष्कार का और कोई उपाय नहीं है। सुना है, पुराने जमाने मे एक कम्बल होता था। उसका नाम था रत्न-कम्बल। वह बहुत बढिया होता था। आज से ढाई हजार वर्ष के पहले के समय मे उसका मूल्य था सवा लाख मुद्रा। उस सस्ते जमाने मे इतना भारी मूल्य ! किन्तु वह कम्बल होता था वातानुकूलित।गर्मी मे बहुत ठंडा और सर्दी में बहुत गर्म। बिलकुल एअरकन्डीशन। उसकी धुलाई पानी से नहीं होती थी। उसकी धुलाई होती थी आग में। आग मे डाल दो, कम्बल बिलकुल मैल रहित हो जाएगा। किन्तु जब तक आग मे धुलाई नहीं होती, कम्बल से मैल नहीं उतरता। विचारो के मैल की धुलाई पानी से नहीं होती। विचार से विचार की धुलाई नहीं होता। बुद्धि और तर्क से विचार की धुलाई और सफाई नहीं हो सकती। विचार के मैल को दूर करने, विचार को निर्मल बनाने का एक ही उपाय है, निर्विचार की आग मे विचार को डाल दिया जाए, वह अपने आप निर्मल बन जाएगा। विचार के सारे मैल अपने आप साफ हो जाएगे, और फिर उसमे से सृजनात्मकता निकलेगी। उसमे से विधायकता निकलेगी, उसमे से आस्था निकलेगी तथा पुरुषार्थ, पराक्रम और ज्योति निकलेगी। कोई सघर्ष नहीं निकलेगा।

भय के वातावरण मे जो चितन होता है, भय से पीडित मस्तिष्क का जो चिंतन होता है वह सदा निषेधात्मक होता है। डरा हुआ आदमी क्या सोचेगा ? भय पहले ही आदमी को कुठित बना देता है। जैसे ही मस्तिष्क मे भय का प्रवेश हुआ, भय का सवेदन-केन्द्र सक्रिय हुआ, चितन पहले ही कुठित बन जाएगा। क्या उस मस्तिष्क से हम स्वस्थ चितन की अपेक्षा रख सकते

हैं ? कभी सम्भव नहीं। स्वस्थ चिन्तन के लिए पहली शर्त है—अभय होना। अभय मानस, अभय मस्तिष्क, भयमुक्त सारा वातावरण। इसी परिवेश में स्वस्थ चिंतन का प्रादुर्भाव होगा, स्वस्थ चिन्तन निकलेगा। डरा हुआ आदमी कभी ठीक बात नहीं सोच सकता। बडा आश्चर्य होता है मुझे, आदमी डरता क्यो है ? वह डरता है अपने ही गलत चिन्तन के कारण। व्यक्तित्व का निर्माण होता है विचार से। और उसने कुछ ऐसे विचार, कुछ ऐसी मान्यताए और अवधारणाए बना लीं कि एक स्थिति के आते ही तत्काल सारा वातावरण भय से प्रताडित हो जाता है। क्यों ? जिस व्यक्ति ने थोडा-सा अध्यात्म को समझा है, जिस व्यक्ति ने धर्म के लेश को भी समझा है, जिस व्यक्ति के जीवन पर या झुलसते हुए जीवन पर धर्म की एक फुहार भी गिरी है तो उसका पहला परिणाम होगा—अभय। जो अभय नहीं होता, वह धार्मिक नहीं होता, आध्यात्मिक नहीं होता। जो अभय नहीं होता, वह स्वस्थ नहीं होता। बीमारियो की जड है—भय। कलह की जड है—भय और अन-आध्यात्मिकता की जड है—भय। सबकी जड है—भय। जब तक मन से भय नहीं निकलता तब तक आदमी क्या आत्मा का अनुभव कर सकता है ? लोग बडी-बडी बाते करते हैं आत्मा और परमात्मा के बारे मे। अरे ! कहां आत्मा और कहां परमात्मा ! इन अतीन्द्रिय और सूक्ष्म तत्त्वो के बारे में चर्चा करने का अधिकार तुम्हे कहा है ! मन से भय ही नहीं निकला—शरीर का भय, बीमारी का भय, बुढापे का भय, मौत का भय, पदार्थ के वियोग का भय, वस्तु के चले जाने का भय, प्रिय व्यक्ति के चले जाने का भय-सारे भय तो दिमाग पर सवार है, चारो ओर चेतना की शक्तियां भयाक्रांत हो रही हैं और चर्चा करना चाहते हो आत्मा की और परमात्मा की ? भय मे से कहीं आत्मा निकलेगी ? नहीं। भय मे से तो भूत निकलेगा, आत्मा-परमात्मा नहीं निकलेगा। भय का काम है भूत पैदा करना। और भूत होता ही क्या है ? कोई होता होगा, पर अधिकांश लोगो को जो भूत दीखता है वह तो भयकारी भूत दीखता है। भय ही भूत बनकर आता है। एक ऐसा मानसिक प्रक्षेपण होता है कि जैसे ही डर लगना शुरू होता है तो भूत की आकृति सामने उभर आती है। अपना मानसिक प्रक्षेपण, अपना मानसिक प्रतिबिम्ब और अपने भयभीत मन की प्रतिकृति के अतिरिक्त कुछ भी नहीं आता। क्या भय से ग्रस्त मानस कभी सूक्ष्म चर्चा का अधिकारी होगा ?

भगवान् महावीर ने एक सूक्ष्म बात कही थी। उन्होने अहिंसा को ही धर्म नहीं बतलाया। लोग तो यही कहते है कि उन्होने अहिंसा को ही धर्म बतलाया। पर मै जो समझ पाया हू उसके आधार पर यह कह सकता हू कि भगवान् महावीर ने जितना बल अभय पर दिया उतना बल अहिंसा पर नहीं

दिया। अहिंसा की एक भावना है—अभय भावना। जब तक अभय की भावना पुष्ट नहीं होती, जीवन में अहिंसा का अवतरण ही नहीं होता। क्या डरपोक आदमी कभी अहिंसक बनेगा ? बन ही नहीं सकता। जिस व्यक्ति मे प्राणो का मोह है, वह डरता है कहीं मर न जाऊं, वहा जाता हू कहीं मर न जाऊ। अरे! मरने का भय और फिर अहिंसक ! बडी विचित्र बात है। एक भाई ने कहा कि जैनो की संख्या भी बहुत बडी है, सिक्खो से कम नहीं है किन्तु सिक्ख लोग जो चाहते हैं करवा लेते हैं, जैन लोग नहीं करवा पाते। मैंने कहा—लंबी चर्चा मे तो नहीं जाना चाहता, पर एक बात तो बहुत साफ है कि सिक्ख लोग मरने से नहीं डरते, जैन लोग मरने से डरते हैं। हमने सुना है अग्रेजो के समय मे दिल्ली मे जो गुरुद्वारा बन रहा था, बडा प्रतिरोध किया गया था। ब्रिटिश सरकार का शासन था। वह गुरुद्वारा बनाने के विरोध मे थी। पर सामने जब बलिदान आने लगे, सरकार काप उठी और स्वीकृति देनी पडी। जहां मरने का डर नहीं, वहां कुछ भी अशक्य नहीं। सारी आवश्यकताए मरने के भय के साथ जुडी हुई हैं। जीवन के साथ मोह होता है कि कहीं मर न जाऊ।अरे! ! तुम्हारे चले जाने से कहीं दुनिया तो खाली नहीं हो जाएगी ? और पीछे से बहुत रोने वाले भी नहीं है। सामने तो सब कहते हैं पर मरने के बाद कौन किसकी चिता करता है ? दो-चार दिन कोई औपचारिकतावश चिता कर लेता होगा, फिर तो कोई स्मृति नहीं। बस, एक बार वर्षगांठ आती है, याद कर लेता है, वह भी पूरे मन से नहीं, एक याद को या व्यवहार को निभाना है, आज उसकी पुण्यतिथि है, हम मंगल कामना करते हैं। इतना-सा पर्याप्त है। हमारा ही यह जीवन का मोह है। जब तक जीवन का मोह और आसक्ति नहीं छुटती तब तक विधायक विचार की स्थिति भी नहीं होती। विधायक विचार की पहली शर्त है—जीवन और मौत के प्रति अभय।

हम तात्त्विक चर्चा में बहुत रस लेते हैं। तत्त्वचर्चा को बहुत महत्त्व देते हैं, पर प्रयोग के बिना जो तत्त्व-चर्चा होती है उसमे मक्खन नहीं होता, होता है तो बहुत कम होता है। कोई आदमी बिलौना करे और नवनीत निकले अच्छी बात है। सामने दही है, बिलौना करे तो नवनीत निकलेगा, पर बहुत बार तो हम ऐसा करते हैं कि दही नहीं होता, पानी को लेकर बिलौना शुरू कर देते है। कोरी हाडी और कोरी मथनी से ही बिलौना शुरू कर देते हैं। कभी वह भी नहीं होता, केवल कल्पना से ही बिलौना शुरू कर देते हैं। इससे मक्खन नहीं निकलता। नवनीत तभी मिलेगा जब बिलौना भी चले और सामने यथार्थ भी हो, यानी दही भी होना चाहिए। कोरी तत्त्वचर्चा मेरी दृष्टि मे या तो पानी का बिलौना है या बिना पानी का बिलौना है। दही बिलकुल

भी नहीं है। कोरी मथनी चल रही है और कोरी हांडी पडी है या पानी से भरी हुई हांडी पडी है। तत्त्वचर्चा के साथ-साथ प्रयोग होना चाहिए, अभ्यास होना चाहिए। कोरा सिद्धांत नहीं, उसका व्यवहार होना चाहिए।

शिक्षा के दो रूप सदा से रहे हैं। मैं यह बात केवल आज के आधार पर नहीं कह रहा हूं, अनुभव के आधार पर कह रहा हूं। प्राचीन पद्धति के आधार पर भी कह रहा हूं। प्राचीनकाल में शिक्षा के दो रूप माने गये थे—एक ग्रहण शिक्षा और दूसरी आसेवन शिक्षा। जानो और उसका आसेवन करो। अभ्यास करो। तब तो पूरी बात समझ में आएगी। बहुत लोग आते हैं, जल्दी मे आते हैं और कहते हैं कि महाराज ! मुझे अभी-अभी जाना है, केवल दो चार मिनिट का समय है। मेरा मन बहुत चंचल है, विक्षिप्त है, बडा परेशान हूं, बडी कठिनाइयां हैं। ऐसा कोई समाधान दें कि मन की स्थिति ठीक बन जाए, मन की परेशानी मिट जाए। मैं कहता हूं कि तुम भी भले आदमी हो, बडे विचित्र आदमी हो ! इतनी बड़ी तो मन की समस्या और परेशानी और फिर दो मिनट में समाधान चाहते हो ? हमारे पास कोई जादू का डंडा नहीं है। मैं शक्तिपात में विश्वास नहीं करता। जादू के डंडा और चमत्कार में विश्वास नहीं करता। मैं आशीर्वाद देने में भी विश्वास नहीं करता। मैं तो विश्वास करता हूं कि सामने वाले व्यक्ति का विश्वास जागे। पुरुषार्थ जागे। स्वय सत्य खोजे। हमारे प्रेक्षाध्यान का सूत्र है—स्वय सत्य खोजो। हर व्यक्ति अपना सत्य खोजे। दूसरे पर भरोसा न करे। दूसरे पर भरोसा करना भी बहुत खतरनाक होता है। भरोसा करना पडता है। वह भी एक सीमा तक। सीमा से बाहर भरोसा करना खतरनाक होता है। गुरु पर भी जितना भरोसा करना चाहिए उतना ही करना चाहिए। ऐसा न सोचे कि गुरु सब कुछ कर देगा। ऐसा सोचेंगे तो धोखा हो जाएगा। कुछेक गुरु अपने शिष्यो को बडा प्रलोभन देते हैं, बडे मीठे आश्वासन देते हैं कि चिंता मत करो, सब कुछ ठीक हो जाएगा पर सब धोखा निकलता है। जब स्थिति सामने आती है तब कहता है गुरुजी! आपने इतना कहा था, हुआ तो नहीं ? अरे, गुरु का इतना कहना माना ही क्यो ? तुम मान बैठते हो कि सब कुछ हो जाएगा और जब मान बैठते हो तो फिर शिकायतें, फिर गुरु का अपवाद ! चाहे धर्म हो, चाहे भगवान् हो, चाहे गुरु हो, चाहे आत्मा हो, चाहे कोई हो, प्रत्येक के साथ विश्वास करने की एक निश्चित सीमा होती है। सीमा तक तो करना ही पडेगा। बिना सीमा काम नहीं चलेगा। सीमातीत कोई भी बात करते हैं वहां कठिनाई पैदा होती है। हम इस बात मे विश्वास करते हैं, प्रेक्षाध्यान के संदर्भ मे यह बात चलती है कि हम सत्य खोजे, अपना सत्य स्वयं खोजे। अपने आप अपने रास्ते को तय

करे। हम सहारा देगे, आलंवन देगे, निमित्त बनेगे। थोडा-सा धक्का दे देगे। मोटर का इन्जिन नहीं चलता, तब पांच-दस आदमी मिलते हैं और एक बार कार को थोडा-सा धक्का दे देते हैं। बात यहां तक तो ठीक है, पर रोहतक जाना है, क्या सारे रास्ते धक्के देते जाएंगे ? यह कभी सम्भव नहीं होगा। आखिर तो इन्जिन की अपनी शक्ति होनी चाहिए, स्थिति होनी चाहिए, धक्का कभी-कभी दिया जाता है, सदा नहीं दिया जाता।

यह अभय की खोज हमारे जीवन की महत्त्वपूर्ण खोज है। हम अभय बने, डरना छोडें। जिस व्यक्ति ने अभय का पाठ नहीं पढ़ा, उसका विचार सही नहीं होगा। उसका विचार भय से प्रभावित विचार होगा।

दूसरी बात है, समता मे से जो विचार स्फूर्त होता है यह विचार संतुलित होता है। जहां हीनता और अहंकार की ग्रन्थि आ जाती है वहां विचार अस्वस्थ बन जाता है, विकृत बन जाता है। एक बडी कसौटी है स्वस्थ विचार के परीक्षण की कि विचार समता की दृष्टि से किया गया है या नहीं किया गया है। मुझे लगता है, आदमी का जीवन प्राय. दो प्रकार के संवेदनो मे ही बीतता है। प्रियता का सवेदन और अप्रियता का सवेदन। विचार की पृष्ठभूमि का यदि हम सूक्ष्म विश्लेषण करें तो पता चलेगा कि कहीं न कहीं सूक्ष्म बात छिपी हुई है—प्रियता छिपी हुई है या अप्रियता छिपी हुई है। हर बात प्रियता से प्रभावित होती है या अप्रियता से प्रभावित होती है। ऐसा विचार जिसके साथ, जिसकी पृष्ठभूमि में, प्रियता और अप्रियता दोनो न हो, भाग्य से ही शायद वर्षों मे आता होगा। हम सोचे, वही बात एक प्रिय व्यक्ति कहता है, बहुत अच्छी लगती है और सारा विचार बदल जाता है और वही बात उन्हीं शब्दों मे कोई अप्रिय व्यक्ति कहता है तो मन मे घृणा और तिरस्कार का भाव जाग जाता है। यह क्यो ? हम विचार की स्वस्थता पर विचार कर रहे हैं। बहुत ध्यान से देखे तो यह बात छिपी हुई नहीं रहेगी कि जिस विचार को हम स्वस्थ मानते हैं वह विचार भी बहुत अस्वस्थ हो जाता है—इस पक्षपात के कारण और प्रियता और अप्रियता की अनुभूति से जुडे होने के कारण।

हमारे जीवन मे अनेक घटनाएं घटित होती हैं। उन घटनाओ के पीछे दो सबसे बडे कारण होते हैं—राग और द्वेष, प्रियता और अप्रियता। या तो राग के कारण हम अनेक प्रवृत्तिया करते हैं या द्वेष के कारण अनेक प्रवृत्तियां करते हैं। रुचि और अरुचि, प्रियता और अप्रियता, राग और द्वेष, आकर्षण और विकर्षण—ये हमें बाट लेते हैं। हमारा ऐसा कोई धरातल नहीं जहां हम इनसे हटकर सोच सकें, विचार कर सके।

आदमी बुराइयां करता है, अप्रामाणिक व्यवहार करता है, दूसरों को

धोखा देता है, ये सारे चिंतन, ये सारे मनोभाव कहां उभरते हैं ? एक ओर प्रियता खींच रही है कि यह मेरा परिवार, मेरा पुत्र मेरी पत्नी सुखी रहे। मेरा घर बडा बने, मेरे पास अपार धन हो, पदार्थ की कमी न रहे। जहां प्रियता होगी वहा अप्रियता निश्चित ही होगी, कहने की जरूरत नहीं। एक आदमी बाजार में जाता है और पूरी छानबीन करके शुद्ध घी अपने घर मे ले जाना चाहता है, क्योकि वह अपने परिवार को मिलावटी चीजें खिलाना नहीं चाहता। और वही व्यक्ति दवा बेचता है तो मिलावटी दवा बेच देता है दूसरो को, क्योंकि उसमे अप्रियता है, प्रियता नहीं है। इसलिए वहां संकोच भी नहीं होता कि मैं क्या कर रहा हू। इस प्रियता और अप्रियता की अनुभूति ने विचारो को इतना प्रभावित किया है कि इस आधार पर सारी बुराइया और कार्मिक बुराइया पनप रही है। समत्व का कोण विकसित हुए बिना विचारो की जो मलिनता है, विचारो का जो द्वन्द्व है उसे समाप्त नहीं किया जा सकता।

ध्यान का एक काम होता है प्रियता और अप्रियता के संवेदन से परे हटकर समता के अनुभव को जगा देना। जिस ध्यान के द्वारा समता का अनुभव नहीं जागता वह वास्तव मे ध्यान नहीं हो सकता। ध्यान कोरी प्रीति नहीं है, ध्यान कोरा विश्राम नही है, ध्यान कोरा आराम नहीं है। बस, निठल्ले बैठ गये, आखे बद कर लीं, कोई काम नहीं, कोई चिंता नहीं। दस दिन तक मकान (प्रज्ञा-प्रदीप) से बाहर जाना नहीं, बैठ गए, विश्राम मिला। पूछने पर कहते हैं, ध्यान बडा अच्छा लगा। क्यो लगा ? इसलिए कि इतना आराम मिला। अरे, परिणाम क्या हुआ ? निष्पत्ति क्या हुई ? वे लोग मकान से बाहर न जाना, विश्राम मिलना, इसी को ध्यान की निष्पत्ति मान लेते है। जब वे इस सीमा से बाहर जाते है तब ज्यो के त्यो, जैसे थे वैसे, वही दुनिया और वही नटखटपन। यदि यही ध्यान है तो ध्यान सीमाप्रतिबद्ध ध्यान हो गया, देशप्रतिबद्ध ध्यान हो गया। नींद में नटखट बच्चा भी शांत रहता है। थोडे बहुत हाथ-पैर पछाड लेता होगा। फिर भी शात रहता है। नींद मे आदमी सोता है तो कब लडाई करता है ? नींद मे हर आदमी अच्छा हो जाता है, बुरा आदमी नींद लेते समय भीतर मे तो बुरा ही रहता है पर ऊपर से अच्छा हो जाता है। बुरे स्वप्न, बुरी कल्पनाए, बुरे चिंतन चलते रहते हैं। चेतन मन थोडा सो जाता है तो अचेतन मन तो खुलकर खेलने लग जाता है। पर बाहर से फिर भी अच्छा लगता है। खोट की सीमा मे सोया रहता है तो बहुत सारी बुराइया नहीं करता, न झूठ बोलता है, न धोखा देता है, न गालिया देता है, कुछ भी नहीं करता। वह तो ठीक भी रहता है मूर्च्छा मे।

आदमी ठीक रहता है, कुछ भी नहीं करता। मूर्च्छित रहता है।

ध्यान यदि परिवर्तन नहीं लाता, विचारो और दृष्टिकोण में परिष्कार नहीं लाता और इस दीवार से बाहर जाने पर कोई परिवर्तन का अनुभव नहीं होता तो ध्यान का अर्थ होगा नींद और ध्यान का अर्थ होगा मूर्च्छा। इससे ज्यादा कुछ भी नहीं होगा।

ध्यान एक परम जागरण है। उसमे चेतन मन तो सो जाता होगा किन्तु अवचेतन मन, भीतर की चेतना इतनी जागती है कि फिर यह दीवार की सीमा उसके लिए समाप्त हो जाती है। जैसा यहां, घर में जाकर भी वैसा। यहा तो बहुत शात रहा, घर में जाकर वही कलह, वही लडाइया, तो घर वाले लोग सोचेगे कि ध्यान करने वाले से हम ध्यान न करने वाले अच्छे हैं।

धर्म के क्षेत्र मे आज प्रतिक्रियाएं होती हैं। कहा जाता है, आज का प्रबुद्ध मानस धर्म को नहीं चाहता। यह हो नहीं सकता। जो पढा-लिखा है उससे ऊपर की चीज है धर्म। नीचे खडा आदमी ऊपर की बात को कैसे नहीं चाहेगा ? पर जब धर्म के क्षेत्र मे ये सारी प्रतिक्रियाएं आती हैं कि धर्म करने वाला आदमी धर्म करता ही चला जाए और परिणाम कुछ भी न आए तो वह धर्म किस काम का ? पचास वर्ष धर्म करके भी यदि एक इंच भी नहीं बदला तो वह सोचता है कि धर्म इतना प्रभावहीन है कि कुछ भी परिणाम नहीं लाता, तो करें तो क्या फर्क पडने वाला नहीं है। ऐसी शक्ति के प्रति किसी का आकर्षण नहीं होता। यदि आग पर पैर रखने, न रखने मे फर्क नहीं पडता तो फिर सकोच ही किसको होगा। जब लोग जानते हैं कि आग पर पैर रखा और जला। सब डरते हैं। सबके मन में एक आकर्षण है कि आग है, संभल कर पैर रखना।

धर्म एक आग बने, सब लोगो का ध्यान आकर्षित हो कि यह आग है, ध्यान रखना होगा, तब अपने आप उसके प्रति सावचेतता होगी। मैं सोचता हू कि धर्म की यह निर्बल अवस्था इसलिए बनी कि उसके साथ ध्यान छूट गया। आन्तरिक चेतना का स्पर्श छूट गया। केवल बाह्य चेतना का प्रभाव जुडा रहा और धर्म निष्प्रभावी हो गया।

जब तक आग राख से ढकी हुई आग होगी, ज्योति कभी प्रकट नहीं होगी। ज्योति तभी प्रकट होगी जब राख को हटा दिया जाए, राख को हटाकर आग को शुद्ध रूप मे प्रकट किया जाए। ध्यान एक प्रक्रिया है विचार पर आई राख को हटा देने की। जो व्यक्ति राख को हटा देता है, उसकी ज्योति आंच मे पका हुआ होगा, सोने की भाति निर्मल होगा, सारे जीवन को प्रभावित और चमक देने वाला होगा।

चिन्तन का परिणाम

हमारा जीवन अस्तित्व और आकांक्षा–दोनों के बीच में चल रहा है। हम हैं, हमारा अस्तित्व है। हम होना चाहते है, यह होने की आकाक्षा है। अस्तित्व रहता है, होता है, पर बात उसमे नहीं होती। आदमी मे बदलने की, कुछ होने की, एक आकाक्षा होती है, चाह होती है। कोई भी आदमी जिस स्थिति में है उसमे शायद सतुष्ट नहीं होता, कुछ और होना चाहता है, जहां है वहा से कुछ और आगे जाना चाहता है। जिस बिन्दु पर है उस बिदु पर टिका रहे, ऐसा शायद ही कोई आदमी हो। होने की चाह मे से अनेक सभावनाए जन्म लेती है। होना है तो आयाम खोजने होगे। उपाय खोजने होंगे, अपाय का निरसन करना होगा और एक पूरे वातावरण की सृष्टि करनी होगी। आदमी सत्य को उपलब्ध होना चाहता है, सफल होना चाहता है, स्वस्थ होना चाहता है, विकास चाहता है। ये सारे परिणाम चाहता है।

मनुष्य की एक मनोवृत्ति है और वह बहुत भयकर मनोवृत्ति है। इस मनोवृत्ति ने समस्याओ को जन्म दिया है और आज भी देती जा रही है। पर समाधान नहीं हो पा रहा है। वह मनोवृत्ति है–परिणामगामी। हम परिणाम को चाहते हैं, परिणाम को मिटाना चाहते हैं और परिणाम को बदलना चाहते हैं। तीनो बाते परिणाम के आधार पर ही करना चाहते हैं। मिटाना है तो परिणाम को और पाना है तो परिणाम को। परिणाम पर ही हमारा सारा ध्यान जाता है। प्रवृत्ति और वृत्ति पर हमारा ध्यान नहीं जाता।

एक अधिकारी नया-नया आया था। आलू की फसल बहुत अच्छी थी। जाकर देखा तो पत्ते ही पत्ते दिखाई दे रहे थे। केवल पत्ते और कुछ नहीं। उसने कहा, मुझे तुम लोगों ने गलत सूचना दी। तुमने कहा, आलू की फसल बहुत अच्छी हुई है पर यहां तो पत्ते ही पत्ते है, आलू कहा हैं ? बिलकुल झूठी बात थी तुम्हारी। वे मन ही मन हंसे और बोले–महाशय ! आलू जमीन में होते है। ऊपर पत्ते ही पत्ते होते हैं, आलू नहीं होते। जमीन को थोडा कुरेद कर देखा, तो आलू ही आलू थे।

पत्तो के आधार पर आलूओं का निर्णय नहीं किया जा सकता। जो भीतर होता है, उन्हे बाहर नहीं पाया जा सकता है। हमारी मनोवृत्ति ऐसी है कि हम ऊपर की बात पर ही अधिक विश्वास करते हैं, भीतर जाने का प्रयत्न ही नहीं करते। भीतर में गए बिना कुछ मिलता नहीं। परिणाम सदा भीतर रहता है। परिणाम के नीचे दो बातें रहती हैं। एक प्रवृत्ति और एक प्रवृत्ति के

नीचे रहती है वृत्ति। मूल है वृत्ति। वृत्ति को पकडे तो प्रवृत्ति की व्याख्या की जा सकती है। और प्रवृत्ति को पकडे तो परिणाम की बात समझ मे आ सकती है। केवल परिणाम के आधार पर होने वाले सारे निर्णय गलत होते है, मिथ्या होते है और भ्रम में फसाने वाले होते हैं। हम क्रोध को मिटाना चाहते हैं, बुराई को मिटाना चाहते हैं, अज्ञान को मिटाना चाहते हैं और अनुशासनहीनता को मिटाना चाहते हैं, आक्रामक मनोवृत्ति को मिटाना चाहते हैं, सग्रह की मनोवृत्ति और इसी प्रकार की सारी बुराइयो को मिटाना चाहते हैं। हम ही नहीं, सारा समाज और सरकार इन्हे मिटाना चाहती है। सब लोग मिटाना चाहते हैं, पर बुराइयो मे क्या जादू है, कितनी ताकत है, कितनी शक्ति है कि वे बुराइयां और अधिक पनपती जाती है। उनकी पौध बढ रही है। न जाने उन्हें कहां से सिचन मिल रहा है। वे खुशहाल हो रही हैं। आदमी शायद कभी-कभी बर्बाद हो जाता है, पर वे बुराइया आबाद हो जाती हैं। उलटा चक्का क्यो चल रहा है ? बुराइयो को किसका सरक्षण प्राप्त है ? आदमी किसके संरक्षण से वचित है ? यह हमारे सामने बहुत बडा प्रश्न है। मुझे प्रतीत होता है कि इस प्रश्न पर हमने कभी गभीरता से चिंतन नहीं किया। यदि हमारा गंभीर चिन्तन होता तो ठीक मूल की बात तक हम पहुंच पाते और समाधान खोज पाते। पर हम तो केवल बुराइयो को मिटाना चाहते हैं। हिंसा एक परिणाम है। क्रोध एक परिणाम है। बुराई एक परिणाम है। कोई आदमी मिलावट करता है, जमाखोरी करता है, सग्रह करता है, यह सब परिणाम है। अनुशासनहीनता एक परिणाम है। हम परिणाम को मिटाना चाहते हैं, मूल बात को मिटाना नहीं चाहते। मूल जब तक विद्यमान है तब तक ये परिणाम तो आते ही रहेगे। मूल मजबूत है तो ये परिणाम फलते-फूलते रहेगे। क्रोध अपने आप नहीं आता। क्रोध के नीचे एक प्रवृत्ति होती है और प्रवृत्ति के नीचे एक वृत्ति होती है। जब तक वृत्ति को मिटाने की बात हम नहीं सोचते, तब तक प्रवृत्ति को भी नहीं मिटाया जा सकता और परिणाम को भी नहीं मिटाया जा सकता।

मनोवैज्ञानिको ने वृत्तियों का विश्लेषण किया है। मनुष्यो मे कुछ मौलिक वृत्तियो के आधार पर उनकी सारी प्रवृत्तिया चलती हैं, परिणाम आते हैं। धर्म-शास्त्रो ने बहुत गहरा विश्लेषण किया था वृत्तियो का और प्रवृत्तियो का। उन्होने कभी नहीं कहा कि प्रवृत्तियो को मिटाओ। मैं प्रश्न उपस्थित करता हू बहुत बार लोगो के सामने, और विशेषत उनके सामने जो दीक्षित होना चाहते हैं, घर से विरक्त होकर सन्यस्त होना चाहते हैं, श्रमण बनना चाहते हैं, कि क्या अहिंसा को साधा जा सकता है ? क्या ब्रह्मचर्य को साधा

जा सकता है ? क्या अपरिग्रह को साधा जा सकता है ? लोग कहते हैं–ये सब साधे जा सकते हैं। हमने संकल्प कर लिया है कि हिंसा नहीं करेगे, झूठ नहीं बोलेगे, चोरी नहीं करेगे, अब्रह्मचर्य का सेवन नहीं करेंगे, परिग्रह नहीं रखेगे।

प्रश्न है–सकल्प ले लिया, पर यह सिद्ध हो गया क्या ? यदि संकल्प लेने मात्र से सारी बाते सिद्ध होतीं तो दुनिया मे सबसे बडा शब्द का चमत्कार होता कि जो भी कहा, सिद्ध हो गया। हर कोई आदमी कहेगा कि मैं गरीबी नहीं चाहता। गरीबी को मिटा दूगा–बात सिद्ध हो जाती। यह जो बुराई है इसे मिटा दूंगा। एक जादू का डडा जैसा हो जाता। पर केवल शब्द के उच्चारण से कोई काम सधता नहीं। हमारे पास कोई ऐसा चिन्तामणि रत्न नहीं है कि जो भी मुंह से कहा और सामने प्रस्तुत हो जाए। कहा है चिन्तामणि ? कहां है कल्पवृक्ष और कहा है कामधेनु ? जो मन मे कल्पना की, जो कामना की, चिन्ता की और वह सिद्ध हो गया। ऐसा तो कुछ भी नहीं है। फिर मात्र एक सकल्प के स्वीकार से, एक शब्द के उच्चारण से वह बात कैसे बन जाएगी? इस पर गभीर चिन्तन हुआ। तीर्थकारो ने, आचार्यों ने एक मार्ग बताया कि गुप्ति की साधना करो, व्रत सिद्ध होगा। मनो गुप्ति, वचन गुप्ति और काया गुप्ति–इन गुप्तियो की साधना से व्रत सिद्ध होगा। मन स्थिर है, अहिंसा सिद्ध हो जाएगी। मन निर्मल है, स्थिर है तो ब्रह्मचर्य सिद्ध हो जाएगा। मन स्थिर है, निर्मल है तो अपरिग्रह सध जाएगा। पर जब तक मन उतना ही चचल है, मन बन्दर बना हुआ भटक रहा है, दौड लगा रहा है, पदार्थ के प्रति दौडता है, व्यक्ति के प्रति दौडता है, घटनाओ के प्रति दौडता है, उतनी ही चंचलता, उतना ही विक्षेप और उतना ही आसक्तिभाव, सब चलता है तो क्या अहिंसा सध जाएगी? ब्रह्मचर्य सध जाएगा ? साधु बनने मात्र से सब कुछ सध जाएगा? अगर ऐसा सुगम उपाय मिले तो मैं तो चाहूंगा कि सारी दुनिया ही साधु बना लिया जाए। किसी को असन्यासी रहने की आवश्यकता ही नहीं है। एक शब्द का उच्चारण किया और बन गया। पर अगर ऐसा होगा तो 'पुनर्मूषको भव' वाली बात आ जाएगी। जो साधक अपनी साधना के परिपाक के बिना आगे बढ जाता है, उसे पीछे लौटने की बात भी करनी पडती है।

एक चूहा था। उसे बिल्ली का बहुत भय सताता था। एक बार एक ऋषि ने उसे वरदान दिया और वह बिल्ली बन गया। बिल्ली का भय मिटा और अब कुत्ते का भय सताने लगा। ऋषि ने उसे कुत्ता बना दिया। कुछ दिन बीते। ऋषि ने पूछा–अभय हो गए ? वह बोला–अभय कैसे ? अब शेर से डर लगता है। ऋषि ने उसे शेर बना दिया। अब भी भय नहीं मिटा। उसने एक ऋषि से कहा–अब मुझे किसी भी पशु से भय नहीं लगता, केवल शिकारी से डर लगता है। ऋषि ने पूछा–अब क्या चाहते हो ? मनुष्य बना दूं ? उसने

कहा—नहीं, मैंने स्पष्ट अनुभव कर लिया है कि सभी अवस्थाओ मे डर बना का बना रहता है। डर मिटेगा नहीं, चाहे बिल्ली, कुत्ता, शेर या शिकारी बन जाओ। मुझे तो पुन चूहा ही बना दो। ऋषि ने कहा—'तथास्तु पुनर्मूषको भव।' वह चूहा बन गया।

डर मिटेगा नहीं, चाहे कुछ भी बन जाओ। वृत्ति बदले बिना आदमी कुछ भी बन जाए, कोई परिवर्तन नहीं होता। मूल बात है, भय की वृत्ति बदलने पर ही भय मिटता है।

वृत्ति की प्रधानता हमे स्वीकार करनी होगी। वृत्ति बदलती है गुप्ति की साधना से। गुप्तियां तीन हैं—मन की गुप्ति, वचन की गुप्ति और काया की गुप्ति। हिंसा हमारी वृत्ति का एक परिणाम है। जब तक मनुष्य मे प्रियता और अप्रियता का सवेदन तीव्र है तब तक वह अहिंसक कैसे बन सकता है ? जब तक मनुष्य मे प्रियता और अप्रियता का सवेदन तीव्र है तब तक वह ब्रह्मचारी कैसे बन सकता है ? जब तक मनुष्य मे प्रियता और अप्रियता की गहरी अनुभूति है तब तक वह अपरिग्रही कैसे बन सकता है। हमारी जैसी वृत्ति होगी, वैसी ही हमारी प्रवृत्ति होगी। हमारा सारा आचरण और सारा व्यवहार हमारी मौलिक वृत्ति के आधार पर होता है। वृत्ति प्रवृत्ति को जन्म देती है। प्रवृत्ति परिणाम लाती है। यह एक पूरी श्रृखला है। इस श्रृखला मे से एक को भी नहीं छोडा जा सकता।

आज की समस्या इसीलिए उलझी हुई है कि हम केवल परिणाम को मिटाना चाहते हैं। औरो की बात छोड दे, धार्मिक लोग भी परिणाम को मिटाना चाहते हैं। आदमी आता है, सीधा कहता है—महाराज ! गुस्सा बहुत आता है। इसे छोडना चाहता हू। झगडे की आदत छोडना चाहता हू। ये सारे परिणाम है इनके पीछे भी तो कुछ है। उसकी भी खोज होनी चाहिए। क्रोध आता है, उसके पीछे भी कोई शारीरिक कारण होता है। क्रोध के पीछे मानसिक कारण होता है, पौद्‌गलिक कारण होता है। क्रोध के पीछे छिपा हुआ एक कारण है—सस्कार। क्रोध का सस्कार है, एक वृत्ति है। राग और द्वेष की वृत्ति काम कर रही है। वह वृत्ति प्रवृत्ति को जन्म देती है। आदमी किसी के प्रति आसक्त होता है, किसी से घृणा करता है। किसी से डरता है, किसी से प्रेम करता है। वह इन सारी प्रवृत्तियो को जन्म देता है और ये प्रवृत्तिया फिर अपना परिणाम लाती हैं। जब घर मे विवाद होता है, कलह होता है और झगडा होता है तब यही कहा जाएगा कि लडो मत, विवाद मत करो, झगडा मत करो। पर वह लडने वाला क्यो नहीं लडेगा ? लडने की सामग्री तो पूरी भीतर में पडी है। लडने के कारण भी तो भीतर मे सक्रिय हैं। लडने की पूरी

शक्ति भीतर मे काम कर रही है और हम आदमी से कहते हैं, लडो मत। हमने चूल्हा सुलगा दिया, ईंधन जला दिया और कहते हैं कि लपट! ऊपर मत उठो। गर्मी मत दो। अरे ! तुमने अपने हाथ से चूल्हा जलाया, ईंध ᵣ डाला, आग सुलग उठी, भभक उठी आग, और कहते हो कि गर्मी मत दो, यह कैसे संभव होगा। आच एक परिणाम है, ताप एक परिणाम है। उस परिणाम को कैसे मिटाया जा सकता है ? आग हो और ताप न हो यह कैसे सभव हे ? यदि ताप को मिटाना है तो आग को बुझाना होगा। आग को बुझाना नहीं चाहते और ताप से बचना चाहते है—यह विपर्यास है। आदमी ने कुछ ऐसे उपाय भी किए है पर परिणाम को मिटाने के सारे उपाय तात्कालिक होते है, वे स्थायी नहीं होते और बहुत फलप्रद भी नहीं होते। अपनी सारी समस्याओ और उलझनो पर हम ध्यान दे तो निष्कर्ष यही आएगा कि हम केवल परिणाम की परिक्रमा कर रहे हैं। यह परिक्रमा इतनी बडी परिक्रमा हो जाती है कि जिसका कभी अन्त नहीं होता और समस्या का कोई समाधान भी नहीं होता। हम मूल तक नहीं पहुच पा रहे हैं। ऐसी भ्रांति होती है कि मूल सामने है पर मूल पर ध्यान नहीं जाता।

एक आदमी अपनी पत्नी को लेकर चुनाव अधिकारी के पास गया और शिकायत की कि मेरी पत्नी का नाम मतदाता की सूची में नहीं है। अधिकारी ने देखा और कहा इसका नाम तो मृतक की सूची मे है। पत्नी बोली—मै जीवित खडी हू। मृतक की सूची मे कैसे ? पति बोला—तुम बेवकूफ हो, क्या इतना बडा अधिकारी झूठ बोलेगा।

बडी विचित्र परिस्थिति होती है। मूल जीवित खडा है, हमारे सामने उपस्थित है, पर हम अधिकारी की बात पर विश्वास करेगे, जीवित आदमी की बात पर विश्वास नहीं करेगे। हमारी सारी वृत्तिया जो जीवित हैं—लडाने वाली वृत्ति जीवित है, गुस्सा लाने वाली, अहंकार पैदा करने वाली वृत्ति व संग्रह करने वाली वृत्ति जीवित है, सारी बुराइयों को जन्म देने वाली हमारी वृत्तियां जीवित हैं, हम उन पर विश्वास नहीं करेगे, अधिकारी पर विश्वास करेगे कि क्या इतना बडा अधिकारी झूठ थोडे ही बोलता है ? हम उस धर्म-गुरु की बात मे विश्वास करेगे, जो यह कहता है बस, तुम मेरी शरण मे आ जाओ, सब कुछ मिट जाएगा। उस पर भरोसा करेगे, अपनी जीवित वृत्तियो पर भरोसा नहीं करेगे। हमारे लिए समस्या का समाधान करना है तो एक ही उपाय सामने है कि हम परिणाम पर ज्यादा भरोसा न करे। न हम परिणाम को ज्यादा चाहे और न परिणाम को मिटाना चाहे। वृत्तियो पर ध्यान केन्द्रित करे और उनके संदर्भ मे प्रवृत्तियों का विश्लेषण करें कि कौन-सी वृत्ति किस प्रवृत्ति को जन्म दे रही है। परिणाम की चिता अलग से करने की जरूरत नहीं। वह तो अपने

आप आने वाला है। जो अपने आप हो उसके लिए अधिक प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती। वह तो स्वत प्राप्त होगा। उसे तो आना ही होगा, आप चाहे या न चाहे, प्रयत्न करे या न करे। अपेक्षा नहीं होती। हमारा कितना मतिभ्रम है कि जो स्वत: आने वाला है उसके लिए सारा का सारा प्रयत्न चल रहा है और जो पैदा करने वाला है, जहा से आदमी बदल सकता है, जहा से आदमी अच्छा बन सकता है, जहा से आदमी बुरा बन सकता है, जहां मन की शाति उपलब्ध हो सकती है, जहां सफलता और असफलता, विकास और ह्रास, शांति और अशाति, सत्य की उपलब्धि और अनुपलब्धि--ये सारी बाते हो सकती है उस बिन्दु की खोज हम करना नहीं चाहते। यह ध्यान की प्रक्रिया उस बिदु की खोज की प्रक्रिया है, परिणाम की प्रक्रिया नहीं है। परिणाम चाहने वाले लोग, तात्कालिकता मे विश्वास करने वाले व्यक्ति, केवल वर्तमान को उपलब्ध होने वाले व्यक्ति, वर्तमान की घटना पर व्यग्रता से चिंतन करने वाले व्यक्ति, कभी भी इस प्रक्रिया को उपलब्ध नहीं हो सकते और न ही वे ध्यान के गहरे सत्य तक जा सकते है। समग्रता से किसी वस्तु का विश्लेषण किये बिना जो होना चाहिए वह नहीं होता, न ठीक परिणाम आता है, न ठीक प्रवृत्ति आती है।

हमने चितन के संदर्भ मे पाच सूत्र प्रस्तुत किए। पहला सूत्र है—समग्रता की दृष्टि। हमारी दृष्टि समग्रता की होनी चाहिए। समग्रता की दृष्टि होती है तो सत्य के प्रति हमारा झुकाव होता है। फलत· परिणाम यह आता है कि हमे सत्य उपलब्ध हो जाता है। यदि हमारे मूल मे वृत्ति है आग्रह की, ऐकातिक आग्रह की वृत्ति बैठी हुई है भीतर में, तो हमारा सारा प्रयत्न मिथ्या होगा। हम जो भी सत्य को पकडेगे, वह अधूरा होगा। वह सापेक्ष बात नहीं होगी, वह निरपेक्ष बात होगी। परिणाम होगा विवाद। कोई भी क्षेत्र विवादमुक्त नहीं है। जितने विवाद चलते हैं, राजनैतिक प्रणालियो के क्षेत्र मे हों, चाहे दार्शनिक क्षेत्र मे, चाहे सामाजिक प्रणालियो के क्षेत्र मे, वे सारे विवाद इस एकागी आग्रह के कारण चल रहे हैं। प्रत्येक दर्शन, प्रत्येक व्यक्ति यह प्रमाणित करना चाहता है कि उसकी प्रणाली, उसकी पद्धति सबसे अच्छी है। बात तो बहुत अच्छी है। यह विश्वास भी होना चाहिए कि बहुत अच्छी है। किंतु जब एकागी बात आ जाती है, अधूरी बात आ जाती है तो किसी की भी अच्छी नहीं। यह सही है कि भाषा मे उतरने वाली कोई भी बात सर्वथा अच्छी नहीं होती, पूर्ण नहीं होती। कोई व्यक्ति कहे कि यह बात सबसे अच्छी है तो इसके साथ और जोड देना चाहिए कि बात अधूरी है और अधूरी अच्छी भी हो सकती है पर वह पूरी बात तो हो नहीं सकती। भाषा का वह काम नहीं कि वह पूरे सत्य को अभिव्यक्ति दे सके। सत्य अनत है पर भाषा बहुत सीमित है। दुनिया के

शब्द कोशो मे दो-तीन लाख से ज्यादा शब्द नहीं है। शब्द करोडो मे नहीं, केवल लाखों मे है। लाख की संख्या में रहने वाले सीमित शब्द उस असीम सत्य को अथवा सान्त शब्द अनत को अभिव्यक्ति कैसे दे सकेंगे ? कभी संभव नही।

कुछ लोग आत्मा-परमात्मा की चर्चा करते हैं, बडे उलझ जाते हैं। हसी आती है। आत्मा तक वह व्यक्ति कभी नहीं पहुचता जो शब्द की परिभाषा से आत्मा को देखना चाहता है। परमात्मा तक वह व्यक्ति कभी नहीं पहुच सकता जो पारिभाषिक शब्दावली मे परमात्मा को व्याख्यायित करता है। शब्द जिसको छूता नहीं, शब्द जिसका स्पर्श नहीं कर सकता, वह शब्द उसका प्रतिनिधित्व कैसे करेगा ? जिस व्यक्ति का किसी राष्ट्र से सम्बन्ध नहीं और वह उसका प्रतिनिधि बन जाए, कितनी झूठी बात होगी ? कौन उसे मानेगा और वह कैसे उस राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करेगा। भाषा मे कोई क्षमता नहीं कि वह सत्य का प्रतिनिधित्व कर सके। यह तो एक अन्धे आदमी की लकडी जैसी है। न देख पाने के कारण अधा आदमी लकडी को टिका-टिका कर चलता है। क्या अधे की लकडी को हम अधिक मूल्य दे। उसका जितना मूल्य है उतना ही उसे दे। यह ठीक है कि भाषा के बिना हमारे जीवन का संपर्क नहीं होता, सामाजिक संपर्क नहीं होता। हमारे सम्बन्ध नहीं होते। हमारा काम नहीं चलता। इसलिए भाषा को भी एक स्थान देना पडता है। पर भाषा की आखिर क्षमता कितनी है ? भाषा की क्षमता अधूरी है। एक बात कहता है आदमी। भाषा की ऐसी स्थिति होती है कि बहुत बार सुलझते-सुलझते आदमी उलझ जाता है। उलझाने मे हमारे शब्द बहुत बडे सहयोगी बनते है। पता नहीं चलता और आदमी उलझ जाता है। उस भाषा के सहारे हम कैसे परम सत्य की बात सोच सकते है? मुझे तो कभी-कभी बडा अटपटा लगता है कि सत्य, परम सत्य जैसे शब्द गढे गए, क्या यही हमारी मानसिक भ्रांति नहीं है? आत्मा के बारे मे जो कहा जा रहा है, कौन कह रहा है? कौन बतला रहा है? आत्मा तो बोलती नहीं। आत्मा तो अपने आपको प्रकट करती नहीं। आत्मा तो गहरे मे, गहरे मे और गहरे मे है। सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम है। फिर कौन अभिव्यक्ति दे रहा है ? एक बडा प्रश्न है।

हर भाषा पर बहुत भरोसा न करे। मन पर भी बहुत भरोसा न करे। कुछ लोग आते है और कहते है, आत्मा के बारे मे बातचीत करना चाहता हूं। मैं पूछता हू–क्यो ? किसलिए ? वह कहता है, आत्मा को जानना चाहता हू। कुछ आते है और कहते हैं कि आत्मा का दर्शन चाहता हूं। मैं बहुत सीधा उत्तर देता हू कि आत्मा को जानना चाहते हो या आत्मा के बारे मे

वाद-विवाद करना चाहते हो ? कोई नहीं कहता कि वाद-विवाद करना चाहता हूं। सब यही कहते हैं, जानना चाहता है। जानना चाहते हो तो बात छोडो, ध्यान करो मन को शांत करो, मौन करो, अन्तर्मौन करो और शरीर को स्थिर करना सीखो, सिद्ध करना सीखो। दरवाजे के पास जाओ। यह शरीर तो दरवाजा है। बडा विचित्र है, हमारे तत्त्वज्ञानी लोग दरवाजे के पास जाना नहीं चाहते, वे तो चाहते हैं बिलकुल सीधे भीतर पहुच जाएं। डाइरेक्ट अप्रोच होना चाहिए, कोई बिचौलिया नहीं होना चाहिए। रास्ता तो पार करना पडेगा, बीच के रास्ते पार करने पडेगे, सीधे कैसे पहुच जाएगे। वे चाहते है सीधे पहुंच जाए। हमने मान लिया है कि आत्मा और परमात्मा की चर्चा करता है वह तत्त्वज्ञानी है और जो शरीर की चर्चा करता है वह तत्त्वज्ञान से परे चला जाता है। शरीर गन्दा है, उसकी क्या चर्चा करनी है ?

मैंने देखा, जो लोग मन, वचन और काया—इन तीनो की साधना मे लग जाते हैं वे आत्मा तक और परमात्मा तक भी पहुच जाते हैं किन्तु इनकी साधना किए बिना जो लोग बातों मे उलझ जाते है, अनन्त काल बीत जाता है, लेकिन उन्हें न आत्मा मिलता है, न परमात्मा मिलता है, वे उलझते ही चले जाते हैं, उलझते ही चले जाते हैं, उन्हे कभी रास्ता नहीं मिलता। आदमी की वृत्ति ऐसी होती है कि वह जो सामने होता है उस पर ज्यादा ध्यान दे देता है, समग्रता की दृष्टि से विचार नही करता। समग्र दृष्टि के बिना सम्यग् परिणाम भी नहीं होता। मुझे एक कहानी याद आ रही है—

चार मित्र चले जा रहे थे। उन चारो मे तीन थे वैज्ञानिक और एक था अवैज्ञानिक। वैज्ञानिक होना एक बात है और बुद्धिमान होना दूसरी बात है। वे तीन थे वैज्ञानिक, किन्तु बुद्धिहीन। और चौथा था अवैज्ञानिक किन्तु बहुत बुद्धिमान। चारों जा रहे थे। जंगल आया। वहां एक शेर का अस्थिकंकाल पडा था। वैज्ञानिको ने देखा, तत्काल वैज्ञानिक दृष्टि जागी और वे परस्पर बात करने लगे, आज तो प्रयोग का अवसर है। सुन्दर अवसर मिला है, प्रयोग करना है। प्रयोग के द्वारा इसको जीवित कर देना है, अस्थिपंजर मे प्राण फूकने है। तीनो ने परामर्श किया। एक ने कहा, इसमे मास और चमडी मैं उत्पन्न कर दूंगा। दूसरे ने कहा, इसमे रक्त मैं पैदा कर दूगा। तीसरे ने कहा, इसमे प्राण-संचार मैं कर दूंगा। चौथा बोला, परिणाम क्या होगा? ठहरो, मुझे पेड पर चढ जाने दो। वह पेड पर चढ गया। ऊपर बैठा-बैठा देखता रहा। तीनो ने अपना-अपना प्रयोग किया। कंकाल मे प्राण-संचार हुआ और एक शेर खडा हो गया। वह भूखा था। उसने अपने सामने खडे तीनो वैज्ञानिको को मार डाला। उनका मास खा भूख शान्त की। चौथा अवैज्ञानिक,

किन्तु बुद्धिमान देखता रहा।

हम समग्रता की दृष्टि से चिंतन करे, एकागी दृष्टिकोण से नहीं। जब कोई भी बात एकागी दृष्टिकोण से पकडी जाती है, जहां समग्रता की बात नहीं होती, वहां हमारी वृत्ति भी ठीक काम नहीं करती, प्रवृत्ति भी ठीक काम नहीं करती और उसका सम्यक् परिणाम भी नहीं होता। समग्रता की दृष्टि मे तीनो बाते जुडी हुई हैं। समग्रता के आधार पर चिन्तन करने वाला केवल परिणाम के आधार पर निष्कर्ष नहीं निकालेगा। समग्रता की दृष्टि से चिन्तन करने वाला व्यक्ति केवल प्रवृत्ति के आधार पर परिणाम नहीं निकालेगा और समग्रता की दृष्टि से चिन्तन करने वाला व्यक्ति कोरी वृत्ति के आधार पर कोई निष्कर्ष नहीं निकालेगा। वह तीनो का अध्ययन करेगा।

मनोविज्ञान मे आज व्यावहारिक मनोविज्ञान का अध्ययन हो रहा है। व्यवहार के आधार पर मनुष्य की मानसिक अवस्थाओ का अध्ययन हो रहा है, वृत्तियो का अध्ययन हो रहा है। लगता है कि मनुष्य ने समग्रता की दिशा को पकडा है। एक बच्चा, माता-पिता का अनुशासन नहीं मानता, बडा उद्दण्ड है, हर किसी से लड लेता है, बच्चो को मारता है, पीटता है, गालियां बकता है, उसमे ये सारी प्रवृत्तियां हैं। प्रवृत्ति को भी माता-पिता मिटाना चाहते हैं। बच्चा लडेगा, मा को पता चलेगा, एक चांटा जड देगी, क्योकि उस प्रवृत्ति को मिटाना चाहती है। क्या चाटा जडा और प्रवृत्ति मिट गई ? अगर ऐसे मिट जाती तो सारे बच्चे सुधर जाते। पर आज तक हमने देखा है, जिन बच्चो को पीटते हैं, वे सुधरने की अपेक्षा ज्यादा बिगडे हैं, खराब हुए हैं। क्यो बिगडते हैं, क्योकि हमने एक बात को पकडा है कि प्रवृत्ति मिटे। माता नहीं चाहती कि बच्चा हर किसी से लडे। माता नहीं चाहती कि बच्चा अनुशासनहीन रहे। वह उस प्रवृत्ति को बदलना चाहती है। पर क्या प्रवृत्ति बदल जाएगी ? जब तक उसकी वृत्ति नहीं बदलेगी, प्रवृत्ति भी नहीं बदलेगी। हमारा सारा प्रयत्न होना चाहिए वृत्ति को बदलने का। हमने प्रेक्षाध्यान के सदर्भ मे मूल बात को पकडा है कि बच्चे की प्रवृत्ति को बदलना है तो हमे वृत्ति पर ध्यान देना होगा। जब तक पिच्यूटरी और थायराइड ग्लैण्ड को जागृत नहीं किया जाता, तब तक हजार बार कहने पर भी, हजार प्रयत्न करने पर भी बच्चे को नहीं बदला जा सकता। सीधा उपाय एक ही है, बच्चे की आदतो को बदलना है तो दर्शन-केन्द्र पर ध्यान का अभ्यास कराओ, प्रवृत्तियां अपने आप बदल जाएगी। वृत्ति को बदलना है तो प्रवृत्ति को बदलो। प्रवृत्ति बदलेगी तो परिणाम बदलेगा। लोग बडे आग्रही होते हैं, पूरी बात को कभी नहीं पकडते, अधूरी बात पर भरोसा करते हैं। अधूरी बात पर भरोसा करते हैं, अधूरी बात

पर सारा निर्णय लेते है। अधूरी बात कहीं से थोडी सुन ली, पूरी बात नहीं, पूरा पता नहीं, और तनकर बैठ जाते हैं कि उसने ऐसा कह दिया। अरे, कब कहा, किस संदर्भ में, किस लहजे मे कहा, किस परिस्थिति मे कहा, यह सारी बात तो जानो। सारी बात जानने से शायद उस समय अहकार का पारा उतर जाता है। क्रोध का नशा भी उतर जाता है। पर पूरी बात को कोई नहीं जानता। कोरे शब्द कान में पडने चाहिए, उसने मेरे लिए ऐसा कह दिया, मैं खबर लेना चाहता हूं, मैं भी देखूगा कि कैसे कह दिया ? द्वन्द्व युद्ध शुरू हो जाता है। इन अधूरी बातो से जीवन की इतनी अस्त-व्यस्तता हो जाती है कि ये सारी समस्याए समाज मे उलझती चली जाती हैं।

कोई आदमी स्वयं बदलना चाहे, कोई अपने बच्चे को बदलना चाहे, कोई अध्यापक अपने विद्यार्थी को बदलना चाहे, राष्ट्र के कर्णधार राष्ट्र को बदलना चाहें तो वे पहला प्रयत्न परिणाम को बदलने का करेगे। वे कहेगे—स्मगलिग, ब्लैक मार्केटिग नहीं होना चाहिए, यह नहीं होना चाहिए, वह नहीं होना चाहिए। थोडे आगे जाएंगे तो प्रवृत्तियो को मिटाने की बात आएगी कि ये प्रवृत्तियां नहीं चलनी चाहिए। बडा आश्चर्य होता है कि वृत्तियां तो विद्यमान रहेगी और प्रवृत्तियां बदल जाएगी, परिणाम बदल जाएगा! अगर ऐसा होता तो आज दुनिया स्वर्ग बन जाती। सोने की बन जाती। पर ऐसा कभी नहीं होता। हम इस सच्चाई को गहराई से अनुभव करे कि वृत्ति को बदले बिना प्रवृत्ति को बदलने की कोई संभावना नहीं है और प्रवृत्ति नहीं बदलेगी तो परिणाम के बदलने की भी कोई संभावना हमारे सामने नहीं है। हम पूरी बात को पकडें। समग्रता की दृष्टि से चिंतन करे। उसके तीन पहलू हैं—परिणाम, प्रवृत्ति और वृत्ति। ऊपर से चलते हैं तो यह क्रम बनता है, नीचे से चलते हैं तो कार्य-कारण की श्रृंखला मे वृत्ति मूल कारण है, प्रवृत्ति उसका कार्य है और परिणाम प्रवृत्ति का कार्य है—ये कार्य-कारण की श्रृंखला मे तीनो जुडते हैं। तीनो सच्चाइयो का अनुभव करे। एक साथ अनुभव करे, ध्यान केन्द्रित करे इन पर। हमने धैर्य के क्षेत्र मे भी एक सबसे बडी भूल की है और वह भूल यह है कि ध्यान को छोड दिया। और बातो को पकडे रखा, ध्यान को छोड दिया। हमने वृत्ति को बदलने वाली प्रवृत्ति को छोड दिया। हम परिणाम चाहते हैं कि धार्मिक आदमी को बदलना चाहिए। लोग पूछते हैं, अरे, इतना धर्म किया जाता है पर समाज नहीं बदला। मुझे आश्चर्य होता है, अनन्तकाल तक धर्म चलेगा फिर भी समाज नहीं बदलेगा। तो जिस समाज मे, जिस धर्म के क्षेत्र मे, वृत्ति तक पहुचने की प्रवृत्ति नहीं है वहा यह परिणाम नहीं आएगा। ध्यान की खोज इसलिए हुई थी कि प्रवृत्ति को जन्म देने वाली वृत्ति तक हम पहुच सके। इसके बिना हजार प्रयत्न करने पर भी हम सफल नहीं होगे।

शिक्षा के क्षेत्र मे मस्तिष्क को बदलने का प्रयत्न किया जा रहा है, किन्तु वृत्तियो को बदलने का और उनके परिष्कार का प्रयत्न नहीं किया जा रहा है।

यह सबसे बडी सच्चाई हमे अनुभूत हो रही है कि ध्यान के द्वारा दृष्टि का परिवर्तन और चारित्र–आचरण का परिवर्तन किया जा सकता है। दृष्टि की मूढता पैदा करने वाली मूर्च्छा और आचरण और व्यवहार में मूढता पैदा करने वाली मूर्च्छा–ये दोनो मूर्च्छाए हमारे सामने हैं। जब तक ये दोनों परिष्कृत नहीं होगी, तब तक दृष्टि और चारित्र का परिष्कार नहीं किया जा सकेगा। न मनुष्य का दृष्टिकोण बदलेगा और न चरित्र का कोई परिष्कार होगा। कुछ भी नहीं होगा। जो लोग प्रेक्षाध्यान मे बैठे हैं, जिन्होने प्रेक्षाध्यान का अभ्यास शुरू किया है, जो लोग चाहते हैं कि सचाइयो का अनुभव कर सके, समझ सके, उन लोगो के लिए बहुत जरूरी है, वे गहराई से अनुभव करे कि वे यहा न क्रोध को मिटाने आए हैं, न अहंकार को मिटाने आए है, न और दीखने वाले परिणामो को मिटाने आए हैं, वे आए हैं केवल वृत्ति के अनुसधान के लिए, उस वृत्ति की खोज के लिए जो वृत्ति इन सारे परिणामो को पैदा करती है, जिसके कारण ये सारे परिणाम आते हैं। ये परिणाम जब मिट जाते हैं तब सही दृष्टि होती है, सम्यक् दृष्टि होती है। अभी तो दृष्टि सम्यक् नहीं है। सारी दृष्टि आवेश के आधार पर चल रही है।

एक आदमी ने दूसरे से कहा–मैंने देखा कि तुम्हारी पत्नी अपने प्रेमी से बात कर रही थी। उसे गुस्सा आ गया। उसने हाथ मे बन्दूक ली और पूछा, कहां है ? बोला, बगीचे मे। उसने कहा–अभी जाता हू गोली से मार देता हूं। चला आवेश मे, बगीचे मे जा पहुचा और इतने मे ध्यान आया, अरे! मेरा ब्याह अभी तो हुआ ही नहीं।

एक बनी बनाई धारणा है कि अपनी पत्नी किसी प्रेमी से बात करे उसे गोली मार देनी चाहिए। मन का आवेश बना हुआ है, धारणा बनी हुई है। स्मृति खोई हुई है। यह पता नहीं है कि ऐसा हुआ है या नहीं। बस ! अपनी पत्नी किसी प्रेमी से बात करे–यह कैसे सहन हो सकता है ? गोली मार देना ही उसे दीखता है।

आज कुछ ऐसी ही विचित्र स्थिति चल रही है। आदमी आवेश से आविष्ट होकर मान्यता और धारणा के आधार पर ऐसे-ऐसे निर्णय कर लेता है कि उसे अपनी स्मृति ही नहीं कि वह क्या कर रहा है।

ध्यान के द्वारा हमारी खोई हुई स्मृति जागे। हम समग्रदृष्टि से अनावेश की परिस्थिति मे सही चिन्तन करे, सही निर्णय ले और सही निर्णय के आधार पर अपनी समस्या के मूल को खोजे और वहीं से समाधान प्राप्त करे।

अपने बारे में अपना दृष्टिकोण (१)

व्यक्ति शरीर की सीमा में जीता है। यह शरीर एक प्राकृतिक सीमा है। कोई भी व्यक्ति शरीर से मुक्त नहीं है। और इस सीमा से भी मुक्त नहीं है। जहां सीमा होती है वहा कुछ बात अलग बन जाती है। एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से अलगाव है, चाहे कितना भी सट कर बैठा हो, चाहे कितना ही निकट का सम्बन्धी हो, फिर भी इस अलगाव को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योकि शरीर ने एक सीमा बना दी। दो व्यक्ति पास में बैठे हैं। दोनो का संवेदन भिन्न-भिन्न हो रहा है। एक चिन्ता मे डूब रहा है, दूसरा प्रसन्नता का अनुभव कर रहा है। चाहे सगे भाई हैं, पिता-पुत्र हैं, कुछ भी हैं और बहुत निकट बैठे है, गाढ मित्र हैं, गहरा संबध अनुभव कर रहे हैं, बहुत परिचित हैं, फिर भी सवेदन दोनो का भिन्न-भिन्न चल रहा है, एक बहुत प्रसन्न, दूसरा बहुत अप्रसन्न। यह क्यो ? कहा है—**पत्तेयं विन्नु, पत्तेयं वेयणा।** ज्ञान प्रत्येक का होता है और सवेदन प्रत्येक का होता है, अपना-अपना होता है। ज्ञान अपना-अपना होता है। गुरु का ज्ञान शिष्य के काम नहीं आता। पिता का पुत्र के काम नहीं आता और बडे भाई का ज्ञान छोटे भाई के काम नहीं आता। जैसे पैसा काम आता है वैसे ही यदि ज्ञान भी काम आता तो घर में एक ही आदमी पढ लेता, सबको पढने की जरूरत नहीं होती। घर मे एक आदमी कमा लेता है फिर दूसरा कोई आदमी कमाए या न कमाए, काम चल सकता है। यदि पैसे की तरह ज्ञान का विनिमय होता तो एक आदमी पढ लेता, उससे सारे आदमी अपना काम चला लेते। फिर शायद इतने स्कूलो और कॉलेजो की जरूरत नहीं होती और विद्या-सस्थानो मे इतनी भीड-भाड की भी जरूरत नहीं होती। इतनी सिर पच्ची भी नहीं होती। कौन किस लिए पढता ? एक पढा हुआ है, सबका काम चल सकता है।

ज्ञान अपना-अपना होता है। सवेदन भी अपना-अपना होता है। एक आदमी का सवेदन दूसरे आदमी मे संक्रात नहीं होता। हर आदमी का अपना-अपना सवेदन होता है। जिस घटना का सम्बन्ध पाच व्यक्तियो से है, पाचो व्यक्तियों पर भिन्न-भिन्न सवेदन और भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाएं होगी। एक व्यक्ति एक घटना को लेकर इतना पीडित होता है कि रोटी हराम हो जाती है, जीवन बडा दु खी बन जाता है। दूसरा व्यक्ति जो उसी घटना से

संबद्ध है, इतने में टाल देता है, 'चलो, दुनिया मे ऐसा ही होता है।' बात समाप्त।

एक भाई मेरे पास आकर बोला, 'मुझ पर हर बात का बड़ा प्रभाव होता है। कष्ट का अनुभव करता हूं। कोई भी बात हो जाती है तो सारे दिन वही बात दिमाग में चक्कर लगाती है। बडा परेशान हू, क्या करूं ?' मैंने कहा—तुम एक सूत्र का आलम्बन लो, एक सूत्र का उपयोग करो। जो भी घटना घटे, तुम यही कहा करो, 'दुनिया में ऐसा ही होता है, यह तो दुनिया का स्वभाव है, यह नई बात है ? क्या आश्चर्य है ? न हो तो आश्चर्य मानना चाहिए, हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

एक मित्र दूसरे मित्र को ठगे तो आश्चर्य होता है कि मेरे मित्र ने मुझे ठग लिया है। अरे ! तुमने सचाई को समझा ही नहीं, मित्र की प्रकृति को समझा ही नहीं। एक मित्र दूसरे मित्र को ठगे, यह क्या आश्चर्य है। यह तो दुनिया की प्रकृति है, यह तो दुनिया का स्वभाव है, बात समाप्त हो जाती है जब हम यह मान लेते हैं कि यह होता है, दुनिया में यह तो चलता है तो फिर कोई कठिनाई नहीं होती।

प्रत्येक व्यक्ति के संवेदन मे बहुत अन्तर होता है। यह सवेदन की भिन्नता है, ज्ञान की भिन्नता है और शरीरगत पर्यायो की भिन्नता है। जन्म, शैशव, यौवन, बुढापा, मृत्यु और रोग—ये सब शरीरगत होते हैं, प्रत्येक होते हैं। एक व्यक्ति के शरीर मे अपना शैशव, अपना यौवन, अपना बुढापा, अपना जन्म, अपनी मौत होती है। ये सब बातें प्रत्येक मे होती हैं, अपनी-अपनी होती हैं। यह सीमा हमारा शरीर कर रहा है। शरीर ने इन सारी सीमा-रेखाओं को खींचा है। इनका निर्वाह शरीर कर रहा है।

हमारे जीवन के दो पहलू बन जाते हैं एक वैयक्तिक और दूसरा सामाजिक पर हम उस दुनिया में जी रहे हैं जहा संक्रमण होता है, छूत की बीमारियां होती हैं। एक बीमारी होती है और वह बीमारी फैल जाती है, दूसरों पर भी आक्रमण कर देती है। विचारो का भी संक्रमण होता है। एक आदमी के मन मे एक विचार उठता है। ऐसा होता है कि वही विचार एक साथ हजारो लोगो के मन में उठ जाता है। विचार भी संक्रमणशील हैं। रोग भी संक्रमणशील है। जब संक्रमण के सूत्र से हम जुडे हुए हैं तो हम नहीं कह सकते कि हमारा व्यक्तित्व कोरा वैयक्तिक है। यदि केवल वैयक्तिक दृष्टि से हम चिन्तन करते हैं तो हमारा चिन्तन सही नहीं होता। यदि हम केवल सामाजिक दृष्टि से चिन्तन करते हैं तो भी हमारा चिन्तन सम्यक् नहीं होता।

जीवन की दो प्रणालिया हैं—एक समाजवादी जीवन की प्रणाली और

दूसरी वैयक्तिक जीवन की प्रणाली। सामाजवादी प्रणाली का आग्रह है कि व्यक्ति का कोई मूल्य नहीं है। व्यक्ति पुर्जा है, एक यंत्र है। उसका कोई स्वतंत्र मूल्य नहीं है। समाजवादी चिन्तन के लोग इस बात पर इतना अतिरिक्त भार दे रहे है कि व्यक्ति का व्यक्तित्व ही समाप्त होता चला जा रहा है। कोई मूल्य ही नही रह गया। कोई मूल्य नहीं, चाहे तब गोली मार दे, चाहे तब फांसी पर चढा दे और चाहे तब उसे समाप्त कर दे। मात्र एक उपयोगिता रह गई कि मशीन ठीक काम दे रही है तो काम ले, काम नहीं दे रही है बाहर फेक दे। ऐसा होता है जापान मे। पहले ऐसा होता था कि जब मां-बाप बूढे हो जाते उन्हे जगल मे फेक दिया जाता। बूढा हो गया, अब काम का तो रहा नहीं। आदमी को तो वह चाहिए जो काम का हो। जो निकम्मा हो गया वह हमारे किस काम का। फिर वह चाहे मा हो या बाप। वर्षो तक यह परम्परा चली है जापान मे। बूढे मा-बाप को, बूढे आदमियो को पुत्र स्वयं जंगल मे फेक आते थे। वे सडते, मर जाते। कितना विचित्र दृष्टिकोण होता है मनुष्य का। केवल स्वार्थ और स्वार्थ। यह सामाजिक दृष्टिकोण भी एकागी दृष्टिकोण बन गया।

दूसरी ओर वैयक्तिक दृष्टिकोण की प्रबलता है। उसमे आदमी अपनी ही बात सोचता है। अपने ही हित की बात सोचता है, अपने ही स्वार्थ की बात सोचता है। अपने से आगे दूसरे की बात सोचने की उसकी तैयारी नहीं है।

नितान्त व्यक्तिवादी दृष्टिकोण और नितान्त समाजवादी दृष्टिकोण—ये दोनो दृष्टिकोण आज समूचे समाज को उलझाए हुए है और हमारी समस्याए भी उनके साथ उलझी हुई है।

हम स्वस्थ चिन्तन की चर्चा करते है। हमे इन दोनो दृष्टियों का समन्वय करना होगा। व्यक्तिवादी और समाजवादी दृष्टिकोण का समन्वय किए बिना एक स्वस्थ जीवन-प्रणाली का सूत्रपात नहीं किया जा सकता। वर्तमान की उलझनो को देखता हू तो मुझे यही लगता है कि जिन देशो मे यह समाजवादी प्रणाली प्रचलित है, वहा वैयक्तिक स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है।

व्यक्ति के लिए तीन बाते बहुत महत्त्वपूर्ण होती हैं—स्वतंत्रता, स्वावलम्बन और अपने पुरुषार्थ पर विश्वास। ये व्यक्तिगत जीवन के तीन बडे सूत्र हैं। मै इन्हे व्यक्तिगत जीवन के तीन बडे अवदान मानता हूं। बडी देन है—स्वतत्रता। आदमी जब स्वतत्र नहीं होता तो फिर यन्त्र मे और मनुष्य मे कोई अन्तर नहीं लगता। रोटी के लिए, सुविधा के लिए, उपयोगिता के लिए कोई अपनी स्वतत्रता बेच दे, उससे बडी दासता की मनोवृत्ति नहीं होती। हमारे समाज मे दासो की परम्परा रही है। नौकर अलग होता है, दास अलग होता है। नौकर वेतन लेता है, काम देता है। वह स्थायी नहीं होता। मालिक चाहता है

तो मालिक छोड देता है। नौकरी है, करे या न करे। किन्तु दासता की एक भयंकर परम्परा थी। व्यक्ति बिक जाता था। गाय को खरीदा, भैंस को खरीदा। खरीदने के बाद गाय और भैस मालिक की हो जाती है। वैसे ही आदमी बिक जाता, मालिक खरीद लेता, दास उस मालिक का हो जाता, फिर वह दास कभी छोड नहीं सकता। मालिक चाहे मारे, पीटे, सताए कुछ भी करे—दास कभी छोड नहीं सकता था। यह गुलामी की मनोवृत्ति, दासता की मनोवृत्ति कभी छूटती नहीं है। रोटी के लिए आदमी बिक जाए, सुख-सुविधा के लिए आदमी बिक जाए, यह गुलामी की मनोवृत्ति है। कोई भी मनुष्य इसके लिए बिकना नहीं चाहता, गुलाम बनना नहीं चाहता। अपने स्वतंत्र अस्तित्व को वह कायम रखना चाहता है। दुनिया मे जितनी स्वतंत्रता प्रिय है उतनी शायद कोई बात प्रिय नहीं है।

मनुजी ने एक बहुत अच्छा वाक्य लिखा है—'सर्वं आत्मवशं सुख, सर्वं परवश दु.खम्।'

उनके सामने प्रश्न था कि सुख और दु ख को परिभाषित कैसे किया जाए ? सुख क्या ? दुःख क्या ? सुख की क्या परिभाषा हो सकती है ? किसी कवि ने तो कह दिया—

सुख-दुख क्या है ? मनोभावना, जिसने जैसा कर माना।
मधुकर ने तो अपने मरने को अनन्त सुखमय जाना।।

यह तो एक साहित्यिक परिभाषा है। साहित्यिक मूल्य की परिभाषा साहित्यिक होती है। किन्तु मनुजी ने एक बहुत मर्म की बात लिखी है। उन्होने एक सुन्दर परिभाषा दी सुख की—**सर्व आत्मवश सुखं**—अपनी स्वाधीनता ही सुख है। **सर्व परवशं दुःखम्**—परवश होने का नाम ही दु·ख है। आदमी परवश हो गया। इसका मतलब है उसने दु ख मोल ले लिया। परवश होना और दु.खी होना दो बाते नहीं होती। स्ववश होना और सुखी होना, इसमें कोई अर्थभेद नहीं होता।

स्वतत्रता—यह हमारा सबसे बडा सुख है। जो सुख रोटी खाने की अनुभूति मे नहीं मिलता वह सुख स्वतंत्रता की अनुभूति में मिलता है। रोटी खाना अच्छा तो है पर जहा स्वतत्रता नहीं होती, वहा रोटी खाना कैसा सुख हो सकता है ? मुझे एक कहानी याद आ रही है—

एक बार बादशाह ने सभासदो से पूछा 'बताओ, वह कौन-सी चीज है जो सबसे मीठी होती है।' कई लोगों से पूछा, सभासदो से पूछा। किसी ने कहा—रसगुल्ला सबसे मीठा होता है. किसी ने कहा—चाकलेट सबसे मीठी होती है। अब जिसको जो मीठा लगता था, उसने वही बताया।

मीठे के बारे मे जो प्रश्न पूछा जाए, एक उत्तर नहीं हो सकता। कोई कुछ बताता है, कोई कुछ बताता है। बीरबल बोला नहीं, चुप रहा। बादशाह को तो उससे पूछना था। सब बोले, सतोष नहीं हुआ, आखिर बादशाह को नाम लेकर पूछना पडा–'बीरबल ! तुम भी बोलो।' वह बोला–महाराज ! सब बोल रहे हैं, मेरे बोलने की क्या जरूरत है ? 'नहीं, तुम बताओ, सबसे मीठी क्या होती है ?' बीरबल बोला–'सबसे मीठी होती है-जबान।' बीरबल का उत्तर तो बडा बेतुका होता था। बादशाह ने कहा–तुम भी बडी उटपटांग बातें करते हो। जबान का क्या मीठा ? जबान कैसी मीठी ? गलत है तुम्हारी बात। या तो प्रमाणित करो या तुम्हारी बात गलत साबित होगी। उसने कहा, प्रमाणित करूंगा, आज नहीं अवसर आने पर करूंगा।

कुछ दिनों बाद बीरबल ने कहा-जहापनाह ! मैं बेगम साहिबा को अपने घर भोजन के लिए निमन्त्रित करना चाहता हूं। बादशाह बोला–ठीक है, जैसी तुम्हारी इच्छा। बीरबल ने भोजन की तैयारी की। भोजन के लिए बेगम गई। इतने बढिया भोजन बनाए कि बेगम साहिबा खाकर आश्चर्य मे पड गई कि इतने बढिया भोजन तो मेरे यहा भी तैयार नहीं होते। इतनी अच्छी तैयारी थी। न जाने कितनी बार प्रशसा की होगी।

यह मनुष्य का स्वभाव है। उसमे खाने की कोई ऐसी आसक्ति है कि बढिया चीज सामने आती है तो खाता है कम, और प्रशसा करता है ज्यादा। खाते समय भी प्रशसा करता है। बाद मे भी प्रशंसा करता है। चार प्रकार की चर्चाए होती हैं–आहार की चर्चा, काम-वासना की चर्चा, देश सबधी चर्चा और राज्य सबंधी चर्चा। जीवन का सबसे बडा भाग इन चर्चाओ में बीतता है। जो लोग यह कहते हैं कि समय नहीं मिलता, उनके जीवन का विश्लेषण किया जाए तो पता चलेगा कि उनके जीवन का बहुत सारा समय तो इन चार प्रकार की चर्चाओ-कथाओ मे बीत जाता है। फिर बेचारे के पास समय बचता कहा है ? कहां समय मिले ? किसी से कहा जाए कि ध्यान करो तो उत्तर मिलता है, मुझे फुरसत नहीं है। इतना व्यस्त हू, कर नहीं पाता और भी कोई अच्छा काम करने के लिए कहा जाए तो उत्तर मिलेगा कि समय नहीं है। न जाने कितने लोग सारे दिन राज्य की बात करते रहते हैं कि हमारा मत्री अच्छा नहीं, हमारा प्रधानमत्री अच्छा नहीं, हमारी नीतियां गलत हैं, यह हो रहा है, वह हो रहा है। आदमी इतनी चिता करता है, मानो सारे राष्ट्र का भार उसी के कंधो पर है और सारे दायित्व उसी को निभाने हैं। समय तो हमारा बीत जाता है इन निकम्मे कामो मे फिर समय बचे कहा से।

बेगम ने भी भोजन की बडी प्रशसा की। न जाने कितनी बार भोजन

को सराहा। कितनी बार कहा—कैसा आतिथ्य किया है ! कितना बढिया भोजन बनाया है। भोजन से निवृत्त होकर बेगम उठी, जाने लगी। बहुत प्रसन्न थी। जाते-जाते बीरबल ने अपने नौकर से कहा—देखो आंगन को बहुत अच्छी तरफ साफ करना है, यहा तुर्कनी ने भोजन किया है, खूब साफ करना।' बेगम ने सुना, उसका खाया-पीया सारा जहर हो गया। अब तक तो भोजन बहुत मीठा था और अब कडवा हो गया, इतना जहर बन. गया कि दिमाग चकराने लगा। भोजन इतना जल्दी हजम हो गया कि पता ही नहीं चला। भोजन समाप्त हो गया। आई। बादशाह ने पूछा, कैसा आतिथ्य किया ?

बेगम बोली, आपने मुझे कहां भेज दिया ?'

'क्या हुआ ?'

'खाया-पीया सारा हराम हो गया। सारा जहर बन गया।'

'क्या भोजन ठीक नहीं कराया ?'

'नहीं भोजन तो अच्छा कराया।'

'तो फिर क्या हुआ ?'

'जहापनाह ! खाने के बाद आने लगी तो बीरबल ने ऐसी बात कही—'भला, आपका सेवक होकर ऐसी बात कह सकता है ! धूर्त आदमी, एक दुश्मन भी ऐसी बात नहीं कह सकता। मेरा इतना अपमान किया।' उसने सारी बात बादशाह को सुनाई। बादशाह की भृकुटी भी तन गई। वह गुस्से में आया। सभा मे आकर बैठ गया। बीरबल आया तो सामने भी नहीं देखा। बीरबल ने देखा, काम तो बन गया। आखें, भृकुटी तनी हुई थीं। बीरबल आकर बैठ गया अपने स्थान पर। कुछ देर बाद बादशाह का गुस्सा कुछ शात हुआ, पारा थोडा नीचे उतरा, बादशाह बोला—बीरबल ! तुमने कितना बडा अपमान किया है ?

बीरबल बोला—मैंने तो कोई अपराध नहीं किया है।

'तुमने क्या कहा ?'

'कुछ भी नहीं।'

'तुमने भोजन करने के बाद बेगम साहिबा के लिए कहा था—'तुर्कनी बैठी थी, जगह रगड कर साफ करना।'

थोडा स्मृति पर जोर डालते हुए—'हां यह तो मैंने कहा था।'

'क्यो कहा ?'

'आपको प्रमाण देना था।'

'अरे ! कैसा प्रमाण ?'

'यही कि जबान का क्या मीठा और क्या खारा ! देखिए मेरी इस जीभ

ने मेरे सारे प्रयत्न को धूल में मिला डाला। मैंने कितना श्रम किया कितना खर्च किया। आप मुझे एक वर्ष मे जितना वेतन देते हैं वह तो मैंने एक ही दिन मे गंवा दिया। मैं तो पूरा खाली हो गया। मेरा इतना सारा श्रम तो बेकार गया। केवल एक जबान आपको याद रह गई, वह आपके सामने आ गई। मेरा सारा श्रम ऐसे ही चला गया। मुझे तो आपको प्रमाण देना था कि जीभ कितनी मीठी होती है और कितनी कडवी होती है।' बादशाह बिलकुल मौन और शांत हो गया।

जीभ मीठी होती है और जीभ कडवी होती है। हमारे जीवन की यही स्थिति है। हमारे जीवन का यही चित्र है जो हमारे सामने प्रस्तुत होता है। स्वतत्रता सबसे मीठी होती है। स्वतत्रता के साथ यदि रूखी रोटी भी मिलती है तो बहुत मीठी होती है और परतत्रता के साथ बीरबल का पूरा आतिथ्य मिलता है तो भी अत्यन्त कडवा और जहरीला होता है। हमें वास्तव मे मिठास का अनुभव ही कहां है।

मैने एक छोटे शिविरार्थी से कहा—तुम रोटी को स्वाद के लिए व्यजन के साथ मत खाओ। फिर देखो कि गेहूं कितना मीठा होता है। मुझे लगता है, नमक-मिर्च मसालो के साथ गेहू की रोटी खाने वालो को गेहूं के स्वाद का बिलकुल ही पता नहीं लगता। हमारे तो स्वाद ही बस दो हैं—नमक या चीनी। इसके सिवाय न गेहू के स्वाद का पता, न शाक-सब्जियो के स्वाद का पता। तोरु का, खीरे का स्वाद कैसा होता है, आपको पता कैसे चले ? उस पर तो नमक और मिर्च हावी जो जाते हैं।

स्वतत्रता का अपना इतना बडा स्वाद होता है किन्तु उस पर स्वतंत्रता के मसाले इतने हावी हो जाते है कि हमे स्वतंत्रता के स्वाद का पता ही नहीं चलता, अनुभव ही नहीं होता। जिस व्यक्ति ने एक बार भी गेहू की कोरी रोटी खाई है उसे पता लग जाएगा कि गेहू कितना मीठा होता है। जिस व्यक्ति ने एक बार भी स्वतंत्रता का अनुभव किया है उस व्यक्ति को पता लग जाएगा कि स्वतत्रता का स्वाद कितना होता है।

राणा प्रताप पहाडो मे घूमते रहे, बडे-बडे स्वार्थो को ठुकराते रहे। क्यो ठुकराते रहे ? क्यो इतने कष्टो को झेलते रहे ? क्यो इतनी बडी परिस्थितियो को सहन करते रहे ? जहां राजकुमार को खाने के लिए रोटी नही, रोटी के लिए बेचारा राजकुमार तरसता रहा। भूखा था, राजकुमार के लिए रोटी बनाई जा रही थी। रोटी बना कर रखी, इतने मे बिलाव आया, झपट कर ले गया, वह देखता रह गया, तरसता रह गया। भला एक राजकुमार इस अवस्था मे रहे, आखिर क्यो ? प्रताप ने स्वतत्रता का स्वाद

चख लिया था। उसे कोई भी दूसरा स्वाद अच्छा नहीं लग रहा था। न शासन का, न वैभव का, न राज्य का, न सत्ता का। उसे कोई भी स्वाद प्रभावित नहीं कर रहा था।

हमारी स्वतत्रता का सर्वोपरि मूल्य होता है। व्यक्ति को अस्वीकार करने का अर्थ होता है कि हम स्वतत्रता को अस्वीकार कर रहे हैं। वर्तमान की शासन प्रणाली, वर्तमान की जीवन प्रणाली और वर्तमान की नागरिक पद्धति को देखता हूं तो ऐसा लगता है कि धीरे-धीरे व्यक्ति का व्यक्तित्व और उसकी स्वतत्रता समाप्त होती जा रही है। व्यक्ति एक यत्र का पुर्जा बनता जा रहा है। कितनी परतत्रता ! व्यक्ति घर मे एक खिडकी निकालने के लिए स्वतंत्र नहीं है। कारपोरेशन की स्वीकृति चाहिए। यह तो ठीक है कि पडोसी को कठिनाई पैदा हो, ऐसी बात तो नहीं होनी चाहिए, वहां तो आपत्ति हो सकती है, पर किसी को कोई आपत्ति न हो, फिर भी वह बात मान्य न हो, यह विडबना है। इतना कानूनो से जीवन जकड गया है कि स्वतंत्रता तो शायद ढूढने पर भी न मिले। यह बहुत विचित्र स्थिति जीवन की होती जा रही है।

हमारे वैयक्तिक जीवन की दूसरी फलश्रुति है—स्वावलबन। स्वावलबन कहा है ? इतना परावलबन होता है कि आदमी दूसरे पर निर्भर होता चला जा रहा है। आपने अमरबेल का नाम सुना होगा। नाम तो बहुत सुन्दर, पर बडी खतरनाक बेल होती है। जिस पौधे पर चढ जाती है, उसकी तो अन्त ही समझिए। अपने पैरो पर खडी नहीं होती। दूसरे का आलंबन ढूढती है, दूसरो के सहारे खडी होती है। बडी अजीब प्रकृति है। जिसके सहारे खडी होती है उसे खाना शुरू कर देती है। कहा जाता है कि अमरबेल एक किलोमीटर तक अपना पैर फैला देती है। वह दूसरों पर फैलती है और दूसरो को समाप्त करती चली जाती है। परावलबन का सबसे अच्छा उदाहरण है—अमरबेल। आदमी भी कम परावलम्बी नहीं है, अमरबेल से कम खतरनाक नहीं है। वह भी दूसरो के कधो पर अपना वैभव, अपनी शान-एश्वर्य चलाता है और उनको चट करता चला जाता है।

बडे से बडा उद्योगपति, बडे से बडा धनपति नौकर रखता है। उसके आधार पर उसका सारा ठाट-बाट चलता है, बडप्पन चलता है। नौकर-चाकर न हो, आदमी काम करने वाला न हो तो बडप्पन की सारी मर्यादा टूट जाए। फर्क क्या पडे ? कोई फर्क नहीं पडता। बडप्पन तब चलता है जब सामने १०-२० काम करने वाले हो। तब लगता है कि कुछ है। जैसे एक मजदूर को सारा काम अपने हाथ से करना पडता है, वैसे ही यदि एक धनपति को भी सारा काम अपने हाथ से करना पडे तो अहंकार भी टूट जाता है और

बडप्पन का मानदण्ड भी टूट जाता है। थोथा घमड भी टूट जाता है। कहां चले, कैसे चले, फिर फर्क ही क्या पडे ? आदमी करोड़पति किसलिए बने ? इसलिए बनता है कि उसे सारी सुविधाए मिल जाती हैं। वह इतना परावलम्बी बन जाता है कि बिना नौकर के उसका आना-जाना, खाना-पीना सब बन्द हो जाता है। नौकर की उपयोगिता को वह स्वीकार करता है, पर उसकी आवश्यकताओ को नकारता जाता है। नौकर बीमार होता है तो वह सोचता है, अगले का भाग्य, अगला जाने, काम के समय सारा काम नौकर से होता है, पर समय पर उसे अंगूठा दिखा देता है। क्या यह परावलम्बन अमरबेल से कम है ?

बम्बई की एक घटना है। आफिस मे तार आया पडा था अधिकारी के टेबल पर। अधिकारी आया, आते ही जल्दबाजी मे तार पढा तो उसमे लिखा था, तुम्हारी 'मां मर गई है, जल्दी चले आओ।' उसने और कुछ नहीं देखा। उसकी मां भी बूढी थी। उसने सोचा—मेरी मा मर गई। वह उदास हो गया, गमगीन हो गया, बडा चितित था। जाने की तैयार कर रहा था। इतने में एक कर्मचारी आकर बोला—'सर ! मेरी मा मर गई, तार आया है। मुझे छुट्टी चाहिए। तार मैं आपकी टेबल पर रख गया था।' अधिकारी से सुना, वह राजी हो गया। मन की विषमता भी समाप्त, जाने की तैयारी भी समाप्त। अधिकारी ने कहा—बूढे मरते ही रहते हैं। आज मा मर गई, कल और कोई मर सकता है। आए दिन छुट्टी ही छुट्टी ! ऐसी डाट दी। बेचारे की हिम्मत ही नहीं हुई कि दूसरी बार कह सके, मुझे छुट्टी दो।

यह क्या है ? जिस आदमी के सहारे सारी सुविधाए उपलब्ध हो रही हैं, उस व्यक्ति में कठिनाई आती है तो आंखे बन्द हो जाती हैं। ऐसी अधापन आता है कि कुछ दिखाई ही नहीं देता। इस व्यक्तिवादी मनोवृत्ति ने ही समाजवादी प्रणाली को प्रेरित किया है। समाजवाद का विकास अकारण नहीं हुआ है। उसके पीछे एक प्रेरणा है। हर घटना के पीछे एक प्रेरणा होती है। व्यक्तिवादी दृष्टिकोण इतना सीमातीत हो गया, स्वार्थ इतना सघन हो गया कि दूसरे व्यक्ति की कठिनाइयो, सुविधाओ और असुविधाओ की ओर ध्यान देने का भी समय बचा नहीं। इस परिस्थिति ने ही एक प्रतिक्रिया पैदा की, एक आग पैदा की, एक चिनगारी पैदा की और एक नई बात सामने आई।

परावलंबन की कहानी वैयक्तिकता के साथ जुडी हुई है। आज व्यक्ति इतना परावलम्बी हो गया कि उसने स्वावलम्बन को बिलकुल भुला डाला है। लगता तो यह है, यदि दूसरा सामने काम करने वाला मिलता हो तो शायद कुछ लोग तो हाथ हिलाना भी पसद नहीं करेगे। मुह मे कौर डालना भी नहीं

चाहेगे। चाह रहे है कि ऐसी मशीन का निर्माण हो जो कोई रसोई ही न पकाए, मुह मे कौर भी दे। फिर ऐसी मशीन की खोज भी करनी होगी जो पचा भी दे। पचाने की भी फिर क्या जरूरत है ? इतनी सुविधावादी मनोवृत्ति बन जाती है कि आदमी हर बात के लिए दूसरो का मुह ताकता रहता है। इससे एक बहुत बडा अनर्थ हुआ है कि आदमी श्रम करना भूल गया।

हमारे शरीर का स्वभाव है श्रम–पुरुषार्थ। यह व्यक्तिगत जीवन की तीसरी फलश्रुति है। जिसे अपने पुरुषार्थ पर विश्वास नहीं होता, वह आदमी सब कुछ होने पर भी कुछ भी उपलब्ध नहीं कर पाता। परन्तु बहुत लोग इस ओर ध्यान नहीं देते, क्योकि बडा आदमी तो यह समझता है कि काम करना छुटपन की बात है। अपने हाथ से काम करना छुटपन की बात है और दूसरो के देखते काम करना तो और भी छुटपन की बात है। हम इस सचाई को समझे कि शरीर को श्रम आवश्यक है, जरूरी है।

मेरे मन मे बहुत बार प्रश्न होता था कि मजदूरो को कितना श्रम करना पडता है ? मुनियो को कितना श्रम करना पडता है ? वे गोचरी के लिए जाते है, पानी लाते है, धूप मे जाते हैं, वजन उठाते हैं, कितना काम करना पडता है ? चिन्तन आता था, किन्तु जैसे-जैसे इस सिद्धांत को समझा, मुझे यह सचाई समझ मे आ गई कि शरीर के जिस अवयव को श्रम नहीं मिलता, वह अवयव बेकार, निकम्मा और रुग्ण बन जाता है। आरोग्य का सबसे बडा सूत्र है–श्रम। प्रत्येक अवयव को श्रम चाहिए। यदि स्वस्थ रहना है तो हाथ को भी श्रम चाहिए। सभी को, हर अवयव को उचित श्रम चाहिए। जिस अवयव को श्रम नहीं मिलता, वहा रक्त का सचार ठीक नहीं होता। जहा रक्त का सचार ठीक ढग से नहीं होता, वह अवयव अपने आप रुग्ण बन जाता है। उसके लिए किसी कीटाणु के आक्रमण की, सक्रमण की अपेक्षा नहीं होती। आज के बढते हुए रोगो का सबसे बडा कारण है श्रम का अभाव। शिविर मे आते हैं, योगासन करते हैं। किसलिए ? यह बहुत बडी साधना नहीं है। साधना का दृष्टिकोण भी हो सकता है, पर योगासन कोरी साधना ही नहीं है। उसमे सबसे पहली बात है–कायसिद्धि, काया को साध लेना, काया को स्वस्थ रखना। शरीर स्वस्थ नहीं है तो ध्यान नहीं हो सकता। ध्यान के लिए शरीर स्वस्थ चाहिये। योगासन करते हैं, उसका स्वास्थ्य पर भी असर आता है।

प्रश्न होता है स्वावलम्बन और पुरुषार्थ मे क्या अन्तर है ? पुरुषार्थ हमारे शरीर की प्रक्रिया है। अगो को काम मे लेना और नियमित करना,

यानी शक्ति का उपयोग करना है पुरुषार्थ और अपनी शक्ति पर भरोसा करना है स्वावलम्बन। पहले स्वावलम्बन होता है। स्वावलम्बन होता है तो पुरुषार्थ होता है। अपनी शक्ति पर भरोसा नहीं है तो फिर स्वावलम्बन की बात नहीं आती। जिसे अपने पैरो पर भरोसा नहीं है, उसे लाठी लेनी पडती है या फिर बैशाखी के सहारे चलना पडता है। अपनी शक्ति पर भरोसा होना पहली बात है। यह स्वावलम्बन का दृष्टिकोण है और अपनी शक्ति का उपयोग करना, काम में लाना हमारा पुरुषार्थ है।

शिविर का आकर्षण है आध्यात्मिक साधना। मन मे यह दूसरा आकर्षण है कि यहा आने पर शरीर भी ठीक होता है। यह सबसे बडा आकर्षण है। होना तो चाहिए आध्यात्मिकता का आकर्षण। पर अमूर्त्त बात तक पहुचने के लिए आदमी को बहुत समय लगता है। मूर्त्त बात को पकडने मे कोई कठिनाई नहीं होती। वह तत्काल पकड मे आ जाती है, बहुत जल्दी समझ मे आ जाती है।

आदमी सुनता है कि अमुक गया, ध्यान किया और उसकी बीमारी ठीक को गई। यह ठीक हो गया, वह ठीक हो गया। एक कान से दूसरे कान तक बात पहुंचती है, आकर्षण हो जाता है। अभी एक भाई से मैंने पूछा, 'महाराष्ट्र से आए हो ? कितनी दूर से आए हो !' उसने कहा, 'कुछ गडबड है शरीर मे। स्वस्थ नहीं हूं। मैने सब जाच करवा ली। फिर भी कोई फर्क नहीं पडा तो यहा आया हू। यहां अपने आपको ठीक अनुभव कर रहा हूं।'

स्वास्थ्य की प्रेरणा भी अस्वाभाविक नहीं लगती। शरीर भी ठीक नहीं है तो बेचारा और आगे क्या करेगा ? जब चाकू ही ठीक नहीं है तो बेचारी स्त्री सब्जी कैसे काटेगी ? साधन तो चाहिए, कोई न कोई उपाय और उपकरण तो हमारे पास चाहिए। हमारा शरीर एक उपकरण है। यह धार है चाकू की जो सब कुछ ठीक-ठाक कर देती है। शिविर मे शरीर स्वस्थ क्यो होता है ? शिविर मे आने वालो की गोलिया क्यो छूट जाती हैं ? यहा घटा भर तक आसन और प्राणायाम करना होता है। जहा कहीं रक्त का अवरोध होता है, सारे रक्त की प्रणालिया स्वस्थ हो जाती है, सब ठीक-ठाक हो जाता है। आपने देखा होगा कि सडक पर इधर से भी गाडिया आती हैं, उधर से भी आती हैं, दाएं-बाए गाडियां क्रास करती है। पुलिस का आदमी खडा है। हाथ से दाए-बाएं करता है। एक ओर अवरोध एक मिनट का हुआ तो कभी-कभी तो सैकडो गाडियो की कतारे लग जाती हैं। हमारे शरीर मे न जाने वर्षों तक

यह अवरोध लगा हुआ है, बेचारे रक्त कणो की कितनी बडी कतार लगी हुई है कि उसे पार कराने मे भी आपको दिन लग जायेगे।

जब तक पूरा श्रम शरीर को नहीं मिलता, रोग समाप्त नहीं होते, हमारे रक्त की प्रणालियां स्पष्ट नहीं होतीं, स्वास्थ्य उपलब्ध नहीं होता। सचमुच शरीर को श्रम चाहिए। श्रम बहुत आवश्यक है। कोई श्रम न कर सके तो शायद योगासन का आलम्बन लेना पड सकता है। योगासन के द्वारा शरीर को भी स्वास्थ्य मिलता है। श्रम हमारे जीवन के लिए बहुत आवश्यक है।

स्वतंत्रता, स्वावलम्बन और पुरुषार्थ पर विश्वास—ये व्यक्ति की तीन वैयक्तित आवश्यकताए हैं। व्यक्ति की तीन सीमाए हैं, जो व्यक्ति को अलग व्यक्तित्व प्रदान करती हैं।

अपने बारे में अपना दृष्टिकोण (२)

व्यक्ति अकेला होता यदि उपयोगिता नहीं होती। उपयोगिता ने व्यक्ति को बांधा और समाज बन गया। व्यक्ति अकेला होता यदि अपेक्षा नहीं होती। व्यक्ति अकेला होता यदि योग नहीं होता। व्यक्ति जुडता है। उसमे योग की क्षमता है, जुडने की क्षमता है, संबध की क्षमता है। इस संबध की क्षमता से व्यक्ति ने समाज का निर्माण किया। योग और उपयोगिता--ये दो परस्परावलबन के आधार बन गए। तीसरा आधार बना प्रभाव। यदि एक दूसरे पर, एक दूसरे का प्रभाव नहीं पडता तो समाज नहीं बनता। उपयोगिता, प्रभाव और योग--ये तीन आधार हैं समाज की संरचना के। व्यक्ति अकेला नहीं रहा, समाज बन गया। उपयोगिता बहुत है, क्योकि अपेक्षाएं बहुत हैं। खाने को चाहिए, पीने को चाहिए, रहने को मकान चाहिए, कपडा चाहिए और भी न जाने क्या-क्या नहीं चाहिए। बहुत सारी अपेक्षाएं हैं। अकेला व्यक्ति कभी इन सारी अपेक्षाओ को पूरा नहीं कर सकता। उपयोगिता और अपेक्षाए जुडी हुई हैं। स्वावलम्बन की चर्चा मैंने की थी। वैयक्तिकता का एक लक्षण है--स्वावलंबन, किन्तु सही अर्थ मे, थोडे गहरे मे उतरकर देखा जाए तो स्वावलंबी--यह शब्द भी सापेक्ष ही है। एक अपेक्षा से ही आदमी स्वालंबी होता है। वहा सूत्र बनता है--परस्परावलबन। इसका अर्थ है--एक दूसरे को एक दूसरे का आलबन। एक दूसरे को एक दूसरे का सहारा। परस्परावलबन के आधार पर समाज का निर्माण होता है। एक आदमी खेती करता है, दूसरा व्यापार, तीसरा औजार का निर्माण करता है। चौथा खेती के साधनो का निर्माण करता है। इन सबका योग होता है और अनाज बाजार मे आ जाता है। किसान है खेती करने वाला पर यदि औजार नहीं है, ट्रेक्टर नहीं है तो कहां से खेती होगी ? हो नहीं सकेगी। किसान को औजार चाहिए, उपकरण चाहिए। उपकरण कहां से आएगा ? एक शिल्पी हल भी बना लेता है, ट्रेक्टर भी बना लेता है। यदि लोहा नहीं है, काठ नहीं है तो कहां से होगा निर्माण ! ये भी चाहिए, खदान भी चाहिए और मजदूर भी चाहिए जिससे कि खदान से लोहा निकाले और सप्लाई करे। इतना सब कुछ जुडा हुआ है। परस्परावलबन मे इतना सब कुछ योग है। सब एक दूसरे से जुडे हुए है। एक व्यक्ति अलग-सा लगता है, चलता है तो ऐसा लगता है, पर वह अकेला नहीं चल रहा है। उसके साथ सैकडों-सैकडों व्यक्ति चल रहे हैं। सैंकडो व्यक्तियो की परछाई

समाज की प्रकृति को विकृत बना दिया। प्रकृति मे विकृति होती है तो सारी समस्याएं पैदा होती है।

एक है तो कहानी, किन्तु सामाजिक प्रकृति के अतिक्रमण को बहुत ज्यादा उजागर करती है और उस पर बहुत प्रकाश डालती है—

एक आदमी चला जा रहा था। जगल में से गुजर रहा था। प्यास लग गई। पानी कहीं इधर-उधर दीख नहीं रहा था। प्यास गहरी होती गई। गरमी का दिन, दुपहरी का समय, खोजते-खोजते एक कुआ दिखाई दिया। वहां गया, देखा, पानी है, रस्सी पडी है, डोल भी पडा है—पर पानी निकालने वाला कोई नहीं है। उसने सोचा, पानी निकालू और प्यास बुझाऊं। दूसरे ही क्षण सोचा, मै पानी कैसे निकालू। मैं तो अमीरजादा हूं। मै पानी निकालूं और कोई देख ले तो बडप्पन चूर-चूर हो जाएगा। बडे लोग क्या समझेगे ? वे कहेगे, देखो, अमीरजादा पानी हाथ से निकालकर पी रहा है! बडी भद्दी बात होगी। वह बिना पानी निकाले, प्यास लिए, बैठ गया।

थोडी देर हुई, इतने में एक दूसरा आदमी आया। वही हालत। कंठ सूखे जा रहे हैं। बडी बुरी हालत हो रही है। गहरी प्यास, पानी पीने के लिए खोजते-खोजते वहीं आया। देखा, डोल पडा है, रस्सी है, कुएं मे पानी है और आदमी भी बैठा है। बोला, 'अरे भाई! प्यास बहुत लगी है, जरा पानी पिला दो।' उसने कहा, मैं अमीरजादा हूं, मैं कैसे पानी निकलूं, तुम निकालो। उसने कहा—मैं कैसे निकालूं, मैं नवाबजादा हूं। वह भी बैठ गया। पहले एक था, अब दो हो गए।

थोडी देर हुई, तीसरा आदमी आया। दूर से ही चिल्लाया—पानी-पानी। वे बोले नहीं। वह पास मे गया, बोला, अरे भाई! प्यासा हूं, पानी तो पिलाना चाहिए। वे बोले—आप शान्त रहे, ज्यादा हल्ला करने की जरूरत नहीं है। मैं अमीरजादा हूं, पानी नहीं निकाल सकता। दूसरा बोला मैं नवाबजादा हूं, मैं भी पानी नहीं खींच सकता। तुम निकालो। वह बोला, मैं कैसे निकालूं। मैं शाहजादा हूं। तीनों प्यासे बैठ गए।

थोडी देर हुई, चौथा आदमी आया। वह भी प्यासा था। वह कुएं पर आया। डोल, पानी और रस्सी को पडे देखा और देखा कि तीन आदमी उदास बैठे हैं। वह डोल के रस्सी बांध पानी निकालने लगा तो वे तीनो बोले, भाई! हमें भी पानी पिलाना। वह बोला—सब साधन तो थे। पानी निकालते और पी लेते। पहला बोला, अमीरजादा हू, पानी निकलूं तो इज्जत भ्रष्ट हो जाए। दूसरा बोला नवाबजादा हूं, पानी निकलू तो सारी मर्यादा खडित हो जाए। तीसरे ने कहा—मैं शाहजादा हूं—पानी निकालने के लिए थोडे ही जन्मा हूं ?

तब उस चौथे आदमी ने कहा—ठीक है। बैठे रहो। वह पानी निकालकर पीने लगा। तीनो बोल पडे—अरे ! हमें भी पिलाओ। उसने कहा, मै हरामजादा हू पानी पीता हू पिलाता किसी को नहीं। यह मेरी मर्यादा है। वह पानी पीकर चलता बना। उन्होने कहा, तुम क्यो हरामजादे बने ? उसने कहा—इन अमीरजादो, नवाबजादों और शाहजादो ने हरामजादो को पैदा किया।

कितना मार्मिक व्यग्य है ! यह पूरे समाज की स्थिति का चित्रण प्रस्तुत करता है। समाज मे हरामजादा कोई भी नहीं होता किन्तु जब समाज का एक बहुत बडा वर्ग अमीरजादा, शाहजादा और नवाबजादा बनकर बैठ जाता है तो हरामजादो को जन्म लेना ही पडता है और कोई चारा नहीं रह जाता। यह समाज की प्रकृति का विकृत स्वरूप हमारे सामने है। जहां परस्परावलंबन की बात छूट जाती है, आदमी यह अनुभव नहीं करता कि यह मुझे सहारा दे रहा है, यह आलबन दे रहा है, इसके सहारे मै जी रहा हू। जब यह बात लादी जाती है तो समाज रुग्ण होता है, सामाजिक जीवन अस्त-व्यस्त होता है, उसमे हिंसा बढती है, असत्य बढता है, क्रूरता बढती है और सारी कठिनाइया बढती हैं।

सामाजिक जीवन का सबसे बडा और पहला सूत्र है—परस्परावलबन—पारस्परिक सहयोग। एक दूसरे को सहारा। यह होता है तब और कुछ सामाजिक विशेषताये शुरू होती हैं। सामाजिकता का एक लक्षण होता है अनुशासन। अनुशासन कब आता है ? परस्परावलंबन के आधार पर अनुशासन विकसित होता है। सब चाहते है कि समाज मे अनुशासन आए। अनुशासन का विकास तब तक नहीं होता जब तक परस्परावलंबन की चेतना नहीं जाग जाती।

मालिक अपने नौकर पर अनुशासन करना चाहता है। स्वामी अपने सेवक पर अनुशासन करना चाहता है। किन्तु जब-जब सेवक को, नौकर को यह अनुभव होता है कि यह मेरे आलबन का मूल्यांकन नहीं कर रहा है, मुझे तो आदमी नहीं समझ रहा है, तो उसमे अनुशासन की चेतना नहीं जागेगी, प्रतिक्रिया की चेतना जागेगी। अनुशासन सहज भाव से आ जाता है, बताने की आवश्यकता नहीं। सहज भाव से तब आता है जब परस्परावलबन का अनुभव हो।

मुझे स्मरण है, देखा है अपनी आखो से कि दूसरे से सेवा लेना बहुत कठिन काम है। किन्तु जहा परस्परावलबन की चेतना होती है वहां दूसरे से सेवा लेना बहुत सरल बात है। हमारे सघ मे एक मुनि हुए, बहुत प्रशस्त और बहुत यशस्वी, मुनि मगनलालजी 'मंत्री' के विशेषण के द्वारा अभिहित होते थे।

वे सघ मे सबसे ज्यादा प्रतिष्ठित मुनि थे, और एक प्रकार से आचार्य के बाद उनका स्थान था दूसरा। सेवा मे साधु रहते। वृद्ध थे। सेवा मे नियुक्त मुनि पानी पिलाना भूल जाता, घंटा भर पानी नहीं पिलाता, प्यासे रह जाते पर यह नहीं कहते कि पानी नहीं पिलाया। जब उसे याद आती और वह आता तो उलाहना नहीं देते। उसे स्वय भान होता, वह कहता, मेरी गलती हो गई, भूल गया। वे कहते, नहीं भाई ! तुम्हारे भी बहुत काम हैं, बहुत काम करते हो, कोई बात नहीं। तुम जो इतना करते हो यह तो बडी बात है। मैं तो निकम्मा हू। उठ-बैठ भी नहीं सकता, चल भी नहीं सकता और तुम मेरी सेवा करते हो, यह कितनी बडी बात है ! कितना उसका मूल्यांकन करते, हजार उलाहना देने पर जो भावना उसमे नहीं जागती वह भावना जाग जाती, उसके मन में यह भावना आती कि इनकी जितनी सेवा की जाए, वह कम है। यह क्यों होता है ? परस्परावलबन के आधार पर होता है। दूसरे के सहारे का मूल्यांकन किया कि भई ! तुम कितनी बडी सेवा करते हो। उसके मन मे सेवा की भावना घर कर जाती।

यदि सेवा करने वाले को लताडा जाता है तो उसके मन मे प्रतिक्रिया जागती है और नाना प्रकार के असद् विचार आते हैं। यदि भूल होने पर भी उसके आलबन का मूल्य आंका जाए, सराहना की जाए तो भूल सुधर सकती है, अन्यथा नहीं।

सामाजिकता की एक बहुत बडी प्रकृति है परस्परावलंबन। उसका जितना मूल्याकन होता है उतना अनुशासन जागता है। अनुशासन कभी लाया नहीं जाता। अनुशासन पैदा होता है। अनुशासन तालाब का पानी नहीं है, ऊपर से बरसा हुआ पानी नहीं है। अनुशासन स्रोत से निकलता है। एक पानी आकाश से टपकता है, बरसता है और एक पानी जमीन से निकलता है। कुएं मे स्रोत होता है। ऐसे बडे-बडे स्रोत और झरने होते हैं जहां भूमि मे से पानी निकलता है। पहाड से पानी का प्रवाह चलता है। अनुशासन एक स्रोत है। यह वर्षा का पानी नहीं है। वर्षा का पानी होगा, वह सीमित होगा। तालाब मे जितना पानी डालो उतना पानी निकाल लो। थोडा-बहुत तो सूख ही जाएगा। किन्तु जो स्रोत होता है वह तो चलता ही रहता है। कुएं से आज भी पानी निकाला, कल भी निकाला, निकालते ही चले जाओ। एक-एक कुआं ऐसा होता है कि पूरे गाव को पानी दे देता है क्योंकि उसके स्रोत हैं, डाला हुआ पानी नहीं है। अनुशासन हमारे जीवन मे एक स्रोत होता है, स्रोत बनकर बहता है।

एक मालिक ने नौकर को अनुशासित करते हुए कहा—देखो, ध्यान

रखना। मुझे बिना पूछे कोई काम मत करना।' अनुशासन की बात तो बता दी। उसने स्वीकार कर लिया कि बिलकुल ठीक बात है। दूसरे ही दिन एक घटना घटी। मालिक के पास आया और बोला-'मालिक! बिल्ली दूध पी रही है, क्या करू ?' 'अरे ! मूर्ख ! पूछने आया है ? हटा देना था।' उसने कहा–आपने ही कहा था कि मुझे पूछे बिना कुछ भी नहीं करना है।

यह डाला हुआ पानी होता है। जितना कह दिया, उतना मान लिया। अनुशासन विवेक के साथ जुडा हुआ होता है। किन्तु जबरदस्ती थोपा हुआ, आरोपित नहीं होता। अनुशासन ऐसे ही ही नहीं आता। अनुशासन परस्परावलबन की अनुभूति के द्वारा आता है।

प्रश्न था स्वतत्रता का। वैयक्तिकता के साथ जुडी हुई है–स्वतत्रता और सामाजिकता के साथ जुडी हुई है–परतत्रता। दोनो शब्द हमारे बहुत प्रिय शब्द हैं, स्वतत्रता भी और परतंत्रता भी। स्वतत्र होना भी कोई बुरी बात नहीं है, परतत्र होना भी कोई बुरी बात नहीं है। हमने स्वतत्रता को ज्यादा अभिव्यक्ति दे दी और परतंत्रता को विपरीत अर्थ मे ज्यादा अभिव्यक्ति दे दी। इन दोनो को सापेक्षता के आधार पर समझना है। जहा हम निरपेक्ष बात करेगे, वहा सारी बात गलत हो जाएगी। उदाहरण के लिए सफेद रग अच्छा भी होता है और बुरा भी होता है। काला रग खराब कहा होता है, बहुत अच्छा होता है। जैसे ही सर्दी का मौसम आता है, हर आदमी काला बन जाता है। वह इस बात को जानता है कि काले रंग मे अवशोषण की क्षमता है कि बाहर से जो भी आता है वह उसे रोक देता है, भीतर नहीं जाने देता। यह काले रंग की विशेषता है।

न्यायालय में देखे, न्यायाधीश काले कपडे पहनकर जाते हैं। काले रग मे क्षमता है कि दूसरे के प्रभाव से बचा सकते हैं। ये रग भी, हमारी भावना के, आचार और व्यवहार के प्रतीक होते है। रगो का चुनाव ऐसे ही नहीं होता, बडी गहराई के साथ रगो का चुनाव होता है। जजो और वकीलो के काली पोशाक का जो चुनाव किया गया, बहुत अर्थवान् है कि एक न्यायाधीश को प्रभावित नहीं होना चाहिए। न्यायालय का वातावरण प्रभावमुक्त होना चाहिए। इसलिए काले रग का चुनाव किया गया। अगर न्यायाधीश लाल रंग के कपडे पहनकर बैठता तो दूसरो की बात कम सुनता और उत्तेजित होकर अपनी ही बात सुनानी ज्यादा पसन्द करता। इतना उत्तेजित हो जाता कि फिर बेचारे वकील तो खडे ही रहते। उनकी कोई नहीं सुनता फिर। लाल का चुनाव नहीं किया जा सकता, पीले का चुनाव नहीं किया जा सकता। कहावत है कि लाल-पीला हो गया। कोई नहीं कहता कि गुस्से मे आ गया।

यही कहता है कि वह लाल-पीला हो गया। लाल और पीला-दोनो गरम रंग हैं। रंग दो प्रकार के होते हैं-ठडा और गरम। नीला रग ठंडा होता है। लाल रंग और पीला रंग गरम होते हैं। न्याय करने बैठे और गरम रंग का कपडा पहने, गरम तो पहले ही हो जाएगा, न्याय कैसे कर पाएगा ? काले रंग का चुनाव किया गया। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण चुनाव है।

इस प्रकार हमने परतंत्र होने को सर्वथा बुरा मान लिया और स्वतंत्र होने को सर्वथा अच्छा मान लिया। यह न भूलें कि अनेकातदृष्टि से किया गया कोई निर्णय सही नहीं होता। हम अनेकांतदृष्टि को छोडकर सचाई तक नहीं पहुंच सकते। अनेकांत का निर्णय यह है कि स्वतंत्रता अच्छी भी है और बुरी भी है। परतंत्रता अच्छी भी है और बुरी भी है।

हमने सुना था कि जब हिन्दुस्तान आजाद हुआ तब लोगो ने स्वतंत्रता के बडे विचित्र अर्थ किए। इन्कमटेक्स ऑफीसर इन्कमटेक्स लेने की बात करता है तो व्यापारी कहता है कि मै टैक्स नहीं दूगा, क्योंकि अब हमारा देश स्वतत्र हो गया है। अब हम किसलिए टैक्स चुकाएं? किसान से वसूली करनी है, वह कहता है कि मै भी नहीं दूंगा-क्योकि आजाद हो गया हूं, अब किसलिए दूं ? एक आदमी ने फिर व्यंग्य कसा कि फिर तो यह बात हो गई कि एक आदमी सडक पर जाकर बैठ गया। उधर से ट्रक आया। उसने कहा कि भई, रास्ता रोक कर सडक के बीच क्यो बैठे हो ? उसने कहा, मेरा देश आजाद है, मैं आजाद हूं, मन चाहे वैसा करूं। ड्राइवर ने कहा, अच्छी बात है, मैं भी ट्रक चलाने के लिए आजाद हूं।

स्वतत्रता भी कोई अच्छी ही नहीं होती। इसके भी कई अर्थ हो जाते हैं। परतंत्रता भी कोई बुरी नहीं होती। एक बच्चा यदि परतंत्र नहीं होता, माता-पिता के कहे मे नहीं चलता है तो वह बिगड जाता है। एक अल्पमति वाला व्यक्ति, जिसका बौद्धिक विकास कम है, जिसमे सोचने-समझने की क्षमता कम है, वह व्यक्ति यदि अपने ही तंत्र के आधार पर चलता है और किसी दूसरे के तंत्र को स्वीकार नहीं करता, वह भी गलत रास्ते पर चला जाता है। दूसरे का तंत्र भी बहुत आवश्यक होता है। अनुशासन दूसरे के तत्र से जुडा हुआ है। कभी स्वीकार मत करो कि मेरा ही तंत्र चले। एक सीमा एक तक तुम्हारा तत्र चले, दूसरी सीमा तक दूसरे का भी तंत्र चले। जहा आवश्यक हो वहा तुम्हारा तंत्र और जहा आवश्यक हो वहां दूसरे का तंत्र।

विद्यार्थी अध्यापक के तंत्र को मानकर चलता है। शिष्य गुरु के तत्र को मानकर चलता है। शिष्य के मन मे भावना जाग जाए कि मैं गुरु बन जाऊं। हो सकती है भावना, पर इसे लेकर गुरु के आसन पर बैठ जाएगा तो अर्थ क्या

होगा ? शिष्य कभी ऐसे ही गुरु नहीं बन सकता। गुरुता प्राप्त किए बिना गुरु नहीं बन सकता। विद्यार्थी अध्यापक की कुर्सी पर बैठकर अध्यापक का काम नहीं कर सकता। पहले तत्र को लेना होता है और फिर तत्र को देना होता है। स्वतत्रता वास्तव मे परतंत्रता की एक निष्पत्ति है। यह परिणाम है कि जो व्यक्ति परतत्र रहा है वही व्यक्ति वास्तव मे स्वतत्र हो सकता है।

मुझे एक बात याद आती है। हम लोग जब आचार्यवर के पास पढते थे, आचार्यवर एक बात कहा करते थे कि देखो, अभी तुम मेरे अनुशासन मे रहो, मैं जो कहू वह करो, अपनी मनचाही मत करो, किसी से बाते मत करो, समय को व्यर्थ ही मत गवाओ। अगर मेरी यह बात ५-७ वर्ष मान लोगे तो जीवन भर इतने स्वतत्र हो जाओगे कि फिर चाहे सो करो। तुम्हे टोकनेवाला, रोकनेवाला कोई नहीं होगा। और अभी मेरी बात नहीं मानोगे तो जीवन भर इतने परतत्र रहोगे कि जीवन भर कोई न कोई तुम्हारे पर रहेगा, कहता ही रहेगा कि यह मत करो, वह मत करो, तुमने ठीक नहीं किया, रोका-टोकी जीवन भर चलेगी। यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि जो व्यक्ति अच्छा शिष्य होता है वही अच्छा गुरु बन सकता है। जिसने शिष्य का जीवन नहीं जीया वह गुरु का जीवन कभी नहीं जी सकता।

परतत्रता कोई बुरी बात नहीं है। सामाजिक जीवन का एक अग है अनुशासन और सामाजिक जीवन का दूसरा अग है परतंत्र रहना, दूसरे के तत्र मे रहना। आप उसे उस अर्थ मे न ले कि हमारे राष्ट्र मे किसी दूसरे का शासन हो। परतत्र का इतना ही अर्थ नहीं है। परतंत्र का अर्थ है जिसकी क्षमता विकसित नहीं है, जितनी क्षमता विकसित नहीं है, उस क्षमता को पाने के लिए दूसरे के तत्र को स्वीकार करना।

क्या यह आज नहीं हो रहा है ? ऐसा हो रहा है। सैकडो-सैकडो विद्यार्थी अध्ययन के लिए अमेरिका जाते है। जर्मनी मे जाते हैं, बाहर जाते है। वहा के यहा आते हैं। विद्यार्थियो का आदान-प्रदान हो रहा है। इसलिए हो रहा है कि जो कला वहां विकसित है और यहा नहीं है उसे सीखने के लिए विद्यार्थी वहा जाता है। इसका मतलब है कि परतत्र मे जा रहा है। जो बात वहा नहीं है और यहा है उसे सीखने के लिए विद्यार्थी यहा आ रहा है। हर किसी आदमी को सीखने के लिए दूसरे के यहा जाना होता है, क्योंकि हर बात हर आदमी मे विकसित नहीं होती। हर बात हर राष्ट्र और देश मे विकसित नहीं होती।

प्राचीनकाल मे धर्म सप्रदायो मे एक उपसपदा चलती थी। जैन शासन मे भी उपसंपदा का वर्णन आता है। एक संघ का साधु जब देखता है कि मेरे

संघ में मै जो पढना चाहता हू उस विद्या को पढाने वाला कोई नहीं है, तब वह गुरु के पास जाता और कहता, गुरुदेव ! मैं यह पढना चाहता हू, अपने सघ मे कोई पढाने वाला नहीं है, आप मुझे स्वीकृति दे कि मै इस संघ को छोडकर दूसरे संघ मे जाऊ, वहां पढकर फिर आपके पास आ जाऊं। गुरु उसे स्वीकृति देते। वह दूसरे सघ मे चला जाता और वहा उपसंपदा को स्वीकार करता, उनका शिष्य बनकर रहता, अध्ययन करता और अध्ययन करने के बाद अपने संघ मे लौट आता।

विशेषता को उपलब्ध करने के लिए ऐसा करना ही होता है।

सामाजिक जीवन की तीसरी बात है—समन्वय। एक आदमी में विरोध नहीं होता। किन्तु जहां दो आदमी होगे, वहा विरोध होना जरूरी है। इसे कभी टाला नहीं जा सकता। विचार का भेद, चितन का भेद, विचार का विरोध, चितन का विरोध रोका नहीं जा सकता। यह अनिवार्य बात है, निश्चित व्याप्ति है। जहा मतभेद है, विरोध है, वहा जीवन चलेगा कैसे ? पति कहता है उस मकान में रहना चाहता हूं। पत्नी कहती है इस मकान मे रहना चाहती हू, विरोध हो गया। सघर्ष, विरोध, विचार–भेद-यह सामाजिक जीवन की अनिवार्य शर्त है। उससे जीवन ऊबड-खाबड बन जाएगा। इस स्थिति मे समन्वय की बात आती है। अनेकांत का बडा सूत्र है—समन्वय। दो विरोधी बातो मे तीसरा रास्ता खोजो समन्वय का, सामञ्जस्य हो जाएगा। कभी एक बात को गौण करो, कभी दूसरी बात को, समन्वय स्थापित हो जाएगा। समन्वय होगा सहिष्णुता के आधार पर। जहा एक दूसरे को सहन नहीं करता, वहा समन्वय नहीं हो सकता। एक दूसरे को सहन करना होता है। कभी कोई किसी को सहन करता है, पिता पुत्र को सहन करता है और कभी पुत्र पिता को सहन करता है। पुत्र ने कहा, पिताजी ! आज से मै आपके साथ भोजन नहीं करूंगा। पिता बहुत समझदार था। उसने कहा—बेटा ! अच्छी बात है, कोई बात नहीं, आज से मै तुम्हारे साथ भोजन करूगा। अब कहा जाए बेटा ? इतना तो हो गया पर बात वहां की वहा रही। कल तक पुत्र पिता के साथ भोजन करता था अब पिता पुत्र के साथ भोजन करने लग गया। सामञ्जस्य हो गया। एक दूसरे को सहन करना पडता है।

आचार्यवर बहुत बार कहते हैं, मुझे भी कहा, देखो, आचार्य के लिए एक बात बहुत जरूरी होती है कि अवसर हो तो मौन रहना, अवसर हो तो कहना। यह जरूरी नहीं कि आचार्य कहे ही। कभी कहना श्रेयस्कर होता है और कभी न कहना (सहना) श्रेयस्कर होता है।

स्वय सहते हैं तो दूसरे भी सहन करते है। स्वय तो सहन करना जानता ही नहीं, पिता तो सहन करना जानता ही नहीं, मां तो सहन करना

जानती ही नहीं, सब कुछ बहू से, बेटे से सहन करवाना चाहती है।ऐसा दुनिया मे हुआ नहीं, होगा भी नहीं। सहन करना होता है। सहन करवाना होता है।

सामाजिकता का चौथा सूत्र है–सहिष्णुता।

सामाजिक जीवन का पाचवा सूत्र है–सह-अस्तित्व। एक साथ रहना। साथ मे रहने की बात तब फलित होती है जब समन्वय, सहिष्णुता, परस्परावलम्बन और परतत्रता–इन भावनाओं का विकास होता है।

चिंतन की चर्चा हो रही है, हम किस दृष्टि से देखें ? किस दृष्टि से सोचें ? अपने बारे मे कैसे सोचें ? हमारे जीवन के दो पक्ष हैं। जीवन का एक पक्ष है–वैयक्तिक। जीवन का दूसरा पक्ष है–सामाजिक। अपने बारे मे सोचते समय इन दोनो पहलुओ को सामने रखते हुए सोचें। एक पक्ष पर कभी न सोचें। केवल वैयक्तिकता की दृष्टि से न सोचे। केवल सामाजिकता और सामुदायिकता की दृष्टि से न सोचें। दोनो पहलुओं को सामने रखकर सोचे, और दोनो पहलुओ का विपर्यय भी न करे। आज का आदमी विपर्यय करना भी बहुत जानता है। जहा अपना स्वार्थ हुआ, आदमी व्यक्तिगत बन जाता है। किसी ने कहा अरे भई ! यह बुराई मत करो। अप्रामाणिक बात मत करो। अप्रामाणिक व्यवहार मत करो।

वह कह उठता है–'मैं क्या करता हू ? सारा समाज ही कर रहा है। मैं अकेला कहां से बचूगा ?' वह बिलकुल सामाजिक बन गया। चितन सामाजिक दृष्टि से हो गया।

किसी ने कहा–अरे ! इतना धन लेकर बैठे हो। लोग बाढ के कारण तकलीफ पा रहे हैं। तुम अकेले सुख भोग रहे हो।

वह कहता है, 'अपनी करनी, अपनी भरनी। हमने तो यह सिद्धांत सीखा है। मैं दूसरो की चिंता नहीं करता। मैं तो एक व्यक्ति हूं।' वहा वह व्यक्तिवादी बन जाता है। यह एक विपर्यय हो गया। जहां बुराई करने की बात है वहां तो समाज की शरण ले लेता है और जहां स्वार्थ की बात आए वहां कहता है–अगला जाने, मैं क्या कर सकता हूं। मैंने पुण्य किया है तब सुख भोग रहा हूं, उसने पाप किया है तो उसका उत्तरदायी मैं कैसे बनूगा ? वहां वह एकांतत. व्यक्तिवादी बन जाता है।

अपने बारे मे जो हमारे चितन के ये मिथ्या कोण हैं, इन कोणो के कारण भी हम समस्या को उलझा देते हैं।

ध्यान करने वाले व्यक्ति के लिए सम्यक् चितन जरूरी है और सम्यक् चितन के लिए जहा व्यक्तिवादी दृष्टिकोण होना चाहिए, वहा व्यक्तिवादी, जहा सामाजिक दृष्टिकोण होना चाहिए, वहा सामूहिक और सामाजिक ये दोनो दृष्टिकोण स्पष्ट रहे तो समस्या को सुलझाने मे हमे बहुत बडा सहयोग मिल सकता है।

दूसरे के बारे में अपना दृष्टिकोण

एक व्यक्ति गुरु के पास आया और बोला–'गुरुदेव ! दु.ख से छूटने का उपाय बताओ।' बडा प्रश्न था। थोडे शब्दो में बहुत बडा प्रश्न कि दु:खो की दुनिया में जीना और दु:ख से छूटने का उपाय करना। छोटी बात नहीं थी, बहुत बडी बात थी।

गुरु ने कहा, एक काम करो, जो आदमी सबसे सुखी हो उसका अंग-रखा ले आओ, फिर दु:ख से छूटने का गुर बताऊंगा। वह गया, एक घर मे जाकर पूछा–'भाई ! तुम तो सबसे सुखी हो।'

कोई न पूछे, तब तक सब ठीक है। तरंग न उठे तब तक समुद्र शांत है। तूफान न आए तब तक जल शात है, बवंडर न उठे तब तक सब ठीक है। किन्तु जब तूफान आता है, बवंडर आता है तब तरंग ही तरंग हो जाता है। मूल स्वभाव का पता ही नहीं चलता। प्रश्न न हो तब तक ठीक है, पर जब प्रश्न पूछा जाता है, ठीक बेठीक हो जाता है।

उसने कहा–सुखी ! मेरा पडोसी इतना बदमाश है, आए दिन मुझे सताता रहता है। भला, मैं कैसे सुखी हो सकता हूं, मैं तो अत्यन्त दु:खी हूं।

वह दूसरे घर गया और बोला–भई ! तुम तो बिलकुल सुखी हो ? कोई दु·ख तो नहीं ? घर का स्वामी बोला–'क्या बात पूछते हो ? सुख की बात ! ऐसी कर्कशा पत्नी मिली है कि दिन भर सिर खाती रहती है। मेरे जीवन मे तो सुख की कोई कल्पना ही नहीं की जा सकती।'

तीसरे के पास गया, चौथे के पास गया। किसी की पत्नी के पास गया तो वह पति को क्रूर बतलाती है। पति के पास गया तो वह पत्नी को क्रूर बतलाता है। पिता के पास गया तो वह पुत्र को उद्दण्ड बतलाता है। सैकडो-सैकडो घरो मे घूमा, परिक्रमा करता चला गया, हजारो घरों के आस-पास चक्कर लगाता गया, सब अपने आपको दु:खी बतलाते हैं, कोई सुखी नहीं बतलाता।

बडा आश्चर्य हुआ। उसने सोचा कब तक घूमूंगा। गुरु के पास आकर बोला–'मैं तो घूमते-घूमते थक गया। आपने कहा था, सबसे सुखी हो उस व्यक्ति का अंगरखा लाना। सबसे सुखी की बात दूर, मुझे तो कोई सुखी ही नहीं मिला। किसका अंगरखा लाता !'

गुरु ने कहा–'क्यो दु.खी हैं ? क्या दु ख है ?'

उसने कहा–'किसी का पडोसी खराब, किसी का बेटा खराब, किसी का बाप खराब, किसी का और कुछ खराब, किसी का और कुछ खराब। हर आदमी दूसरे आदमी के कारण दुःख भोग रहा है।'

गुरु ने कहा–सुख का गुर है दूसरे की ओर न झांकना, अपनी ओर झांकना। यह सुख का उपाय है, चले जाओ।

वह बोला–'इतनी-सी छोटी बात आप पहले ही बता देते। क्यो फिर मुझसे व्यर्थ ही चक्कर लगवाया ? क्यो मुझे घुमाया ? क्यो परिक्रमा करवाई? बहुत छोटी-सी बात थी, आप पहले ही बता देते।'

गुरु ने कहा, सत्य दुष्पाच्य होता है। सत्य सीधा पचता नहीं। अगर मैं पहले ही यह बात कह देता तो तू मेरी बात मानता ही नहीं। जब तूने स्वय अनुभव कर लिया, सबकी परिक्रमा कर ली, अब यह बात तेरी समझ मे आ सकती है कि सब लोग दूसरो को देख रहे हैं और दूसरो को देखने के कारण सब दु·ख का अनुभव कर रहे हैं। अब यह बात समझ में आएगी कि सत्य बहुत परिश्रम के बाद पचता है।

कहानी बहुत मार्मिक है और इस कहानी का फलित भी बहुत मार्मिक है कि दूसरे को देखने वाला कभी सुख का अनुभव नहीं करता। हर आदमी दुःख का अनुभव करता है। अपने आप नहीं करता, दूसरे के कारण दु·ख का अनुभव करता है। शत-प्रतिशत दु·ख का कारण है–दूसरा। बीमारी आती है, वह भी तो दूसरी है, अपनी तो है नहीं। बीमारी के कारण दु ख का अनुभव करता है, शत्रुता के कारण दु ख का अनुभव करता है, अप्रियता के कारण दु.ख का अनुभव करता है, पर के कारण दुःख का अनुभव करता है।

हमारे व्यक्तित्व के साथ एक 'स्व' जुडा हुआ है, दूसरे 'पर' जुडा हुआ है। व्यक्तित्व की एक सीमा मे हम अपने बारे मे चितन करते हैं और दूसरी सीमा हमारी है कि हम 'पर' के बारे मे चिंतन करते हैं। 'पर' शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं–स्वतंत्र और भिन्न। 'पर' इसलिए कि वह स्वतंत्र है और उसका अस्तित्व स्वतंत्र है। एक है भेदानुभूति और दूसरी है स्वतंत्रानुभूति।

हमने स्वतंत्रता को स्वीकारा है और भेद को स्वीकारा है। हमारे चिंतन में कुछ अलग-अलग कोण होते हैं। चिंतन, विचार हमेशा सापेक्ष होता है। अपने आप मे चिंतन का कोई अर्थ नहीं होता। चितन की उत्पत्ति और उसके विकास के लिए कोई आधार चाहिए, कोई दूसरा चाहिए। द्रव्य हो या क्षेत्र, काल हो या अवस्था, व्यक्ति हो या वस्तु, चितन के लिए कुछ न कुछ

चाहिए। ईंधन के बिना आग प्रज्वलित नहीं होती। आग को जलाने के लिए ईंधन चाहिए, सामग्री चाहिए। चिन्तन को प्रज्वलित होने के लिए भी ईंधन चाहिये, सामग्री चाहिये। चिन्तन के आग का प्रज्वलन है--'पर'। यदि यह 'पर' शब्द नहीं होता तो फिर चिन्तन की अपेक्षा ही नहीं होती।

हम अपने बारे मे कैसे सोचें ? हम दूसरे के बारे मे सोचते हैं तो कैसे सोचे ? जब हम सामाजिक जीवन जीते हैं, वहां केवल 'स्व' नहीं होता 'पर' भी होता है और 'पर' होता है इसलिए समाज बनता है। यदि केवल 'स्व' होता तो शुद्ध अध्यात्म होता, व्यवहार नहीं होता। हमारा सारा व्यवहार समाज के आधार पर चलता है, भेद के आधार पर चलता है। इस भेदानुभूति के क्षेत्र मे हम कैसे सोचे ? यह बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है।

चितन के दो पहलू होते हैं--विधेयात्मक और निषेधात्मक। हमारा एक दृष्टिकोण, एक चिंतन विधायक होता है। दूसरा निषेधात्मक होता है। अपने बारे मे भी हमारे दोनों प्रकार के चिंतन होते हैं और दूसरे के बारे में भी दोनों प्रकार के चिंतन होते हैं। किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि दूसरे के बारे में विधायक चिंतन कम होता है, निषेधात्मक चिंतन ज्यादा होता है। आदमी की आख में पता नहीं क्या है, वह अपनी विशेषता ज्यादा देखेगी और दूसरे मे कमी ही कमी देखेगी। किसी भी आदमी से पूछ लो, समझदार से समझदार आदमी से पूछ लो, दूसरे मे कमी का ही उल्लेख करेगा। शायद कोई भी आदमी दूसरे के बारे मे यह कहे कि नहीं, वह तो सर्वगुण-सम्पन्न है, भाग्य से ही यह शब्द निकलेगा। सम्भवत: नहीं निकलेगा और जो कम समझदार होता है वह दूसरों को समझदार मानता ही नहीं। वह तो सबसे ज्यादा अपने को ही समझदार मानता है और अपनी विशेषताओं को ही देखता है। वह दूसरे के बारे मे बहुत अजीब धारणाएं रखता है।

आज कोई सत्ता पर बैठा है, कोई अधिकार पर बैठा है। वह सारी जनता मे कमियां देखेगा। उसकी आलोचना करेगा और जब अपना प्रश्न आता है तो मौन हो जाएगा। यह तो नहीं कहता कि मुझ मे सारी विशेषता है, पर उसे अपनी कमी का अनुभव नहीं होता। दूसरे के बारे मे यह जो निषेधात्मक दृष्टिकोण है कि हमेशा कमी और खामी का दर्शन हमे होता है। इस चिन्तन के कारण, हम व्यक्ति को, जिसका जितना मूल्य होता है, उसे उतना मूल्य नहीं दे पाते।

सामाजिक जीवन में बडा प्रश्न है मूल्यों का। समाज चलता है मूल्यो के आधार पर। किंतु मूल्यांकन करना एक बहुत बडी समस्या है। हम सही

मूल्य आक नहीं पाते और इसलिए नहीं आक पाते कि हमारा दृष्टिकोण विधायक नहीं होता। जिस समाज में अहिंसा प्रतिष्ठित नहीं होती, उस समाज मे सही मूल्यांकन नहीं हो सकता।

मूल्यांकन की पहली शर्त है—अहिसा। मन मे हिंसा का भाव है। हिंसा को आप स्थूल अर्थ मे न ले। केवल मारने की बात ही हिसा नहीं, मारने की बात तो बहुत स्थूल बात होती है। हिंसा की बात हमारी चेतना की समग्र शुद्धता की स्वीकृति से संबधित है। चेतना मे जितना राग और द्वेष अधिक होता है उतना ही हमारा मूल्याकन गलत होता है। पर पता नहीं कैसे जुडे हुए हैं ये दोनों व्यक्ति के साथ कि हमारे सामने राग और द्वेष के सिवाय तीसरा आयाम उद्घाटित ही नहीं होता। प्रियता का, अप्रियता का दृष्टिकोण बराबर बना रहता है। किसी भी आदमी को देखता हूं तो शुद्ध दृष्टि से देख सकू, बडा कठिन काम है। आदमी को देखना ही सम्भव नहीं रहा। कोई भी आदमी कहता है कि मैं उसे देख रहा हूं। नहीं देख पा रहे हो। आदमी को तुम देखना शुरू करते हो, उससे पहले ही तुम्हारे बीच अनत दीवारें खडी हो जाती हैं। इतनी रुकावटे, इतनी बाधाएं, इतने विघ्न, संस्कारों की इतनी परते आ जाती हैं कि बेचारा आदमी कहीं रह जाता है, उसका चेहरा कहीं रह जाता है। कभी शत्रुता का भाव, कभी मित्रता का भाव, किसी के प्रतिस्नेह का भाव, किसी के प्रति करुणा का भाव और किसी के प्रति क्रूरता का भाव, कोई न कोई मनोभाव दर्शक और दृश्य के बीच दीवार बन कर आ जाता है। कोई आदमी किसी का शुद्ध चेहरा देख पाता हो, बहुत कम सम्भव है। सभव लगता नहीं कि एक आदमी दूसरे आदमी तक पहुंच सके। ठीक कहा है—

'मामपश्यन्नयंलोको, न मे शत्रुर्न मे प्रियः।
मां प्रपश्यन्नयंलोको, न मे शत्रुर्न मे प्रियः।।'

प्रश्न हुआ कि तुम्हारा शत्रु कौन है और तुम्हारा मित्र कौन है ? दो ही तो दुनिया में हो सकते हैं या तो कोई शत्रु होगा या कोई मित्र होगा। ठीक प्रश्न था कि कितने शत्रु और कितने मित्र ? कौन शत्रु और कौन मित्र ? उत्तर मिला, दूसरा मुझे कोई जानता नहीं, देखता ही नहीं, फिर वह कैसे मेरा शत्रु हो सकता है और कैसे मेरा मित्र हो सकता है ? शत्रु तब हो कि जब जाने। मित्र भी तब हो कि जब जाने। जब जानता ही नहीं तो वह कैसे शत्रु और कैसे मित्र हो सकता है ? जो जानता है और देखता है वह किसी का शत्रु
और कैसे मित्र हो सकता है ? जो जानता है और देखता है वह किसी का शत्रु
नहीं बनता और किसी का मित्र नहीं बनता। जो जानता है वह बनता नहीं

और जो बनता है वह जानता नहीं।

एक बहुत रहस्य भरी बात आचार्य ने कही, कोई किसी को जानता नहीं। कहते तो हैं कि मै अपने परिवार वालों को जानता हूं, अपने पडोसी को जानता हूं, दिल्ली वालों को जानता हूं, आस-पास के लोगों को जानता हूं, पर कोई किसी को सचमुच जानता ही नहीं। हर आदमी के बीच मे इतनी दीवारें चिनी हुई हैं, बडी-बडी दीवारे कि उनके पार झांकना संभव ही नहीं हो पा रहा है। केवल अपनी कल्पना का आदमी हमारे सामने होता है। एक कल्पना की इमेज और कल्पनाओ की मूर्ति हमारे सामने होता है। कल्पना के आधार पर हम काल्पनिक व्यक्ति को जानते हैं, हम मूल को नहीं जानते। परछाई को जानते हैं, मूल को नहीं जानते। यह सारी परछाइयो का दर्शन चल रहा है और प्रतिबिम्बो के आधार पर हमारी सारी लडाइयां चल रही हैं। बिम्ब तक कोई पहुंचता ही नहीं। केवल प्रतिबिम्ब और प्रतिबिम्ब, सिर्फ परछाई और परछाई ! होता यह है मूल चला जाता है और उसकी परछाई रह जाती है।

एक नगर में देखा, सडक पार कर रहे हैं, सामने एक मजबूत दीवार है। दरवाजा है और ताला लगा हुआ है। ऐसा लगता है कि कितनी व्यवस्था है, भीतर कोई जा ही नहीं सकता। थोड़ा आगे गए, मुडकर देखा, तो पीछे की सारी दीवार खडहर है, टूटी हुई है, नीचे गिरी हुई है। मकान रहा ही नहीं, मकान ही गिर गया। पार्श्व की दीवारे गिर गईं। तीन तरफ की दीवारे गिर गईं, मकान गिर गया, आगे की दीवारें खडी हैं, दरवाजा खडा है, ताला लगा है। मजबूत ताले को खोल नहीं सकते। बडी विचित्र बात है। आस-पास नहीं, पृष्ठभूमि नहीं। जीवन का आधार नहीं, जीवन का पार्श्व नहीं। और आगे बहुत मजबूत ताला लगा हुआ है। यह स्थिति बन जाती है व्यक्ति की कि मूल बात चली जाती है, परछाई रह जाती है। बिम्ब समाप्त हो जाता है, प्रतिबिम्ब शेष बच जाता है।

इस प्रतिबिम्ब की दुनिया मे बिम्ब को देखना बहुत कठिन समस्या है। सारी मित्रता, सारी शत्रुता बिम्ब के आधार पर नहीं हो रही है। जिसको मित्र मान रहे है उसका बिम्ब भी हमारे हाथ मे नहीं आया। जिसको शत्रु मान रहे है उसका बिम्ब भी हमारे हाथ में नहीं आया है। हो सकता है कि जिसे मित्र माना जा रहा है, वह ज्यादा शत्रु हो और जिसे शत्रु माना जा रहा है वह ज्यादा मित्र हो। हमारे पास ऐसी शुद्ध दृष्टि नहीं, ऐसी आंख नहीं जो मित्र या शत्रु को देख सके।

'मुढात्मा यत्र विश्वस्त:, ततो नान्यद् भयास्पदम्।
यतो भीतस्ततो नान्यद्, अभयस्थानमात्मन:।।'

जहां विश्वास करते हैं, उससे बडा कोई खतरा नहीं और जिसे खतरा समझते हैं उससे बडा विश्वास का कोई स्थान नहीं है। यह विपर्यय 'पर' के कारण चल रहा है। हमने 'पर' के प्रति, दूसरे के प्रति ऐसा दृष्टिकोण बना लिया कि जहां 'पर' आया वहां हमें खतरा दीखने लग जाता है और जहां 'स्व' आया वहां हमें कल्याण दीखने लग जाता है। 'स्व' और 'पर' के बारे मे यह धरणा क्यों बनी ? कब और कैसी बनी? कारण यही हो सकता है कि दूरी के कारण व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के प्रति ऐसा दृष्टिकोण बना लेता है। जहा अपनी बात आई वहां प्रियता और अप्रियता दोनो मे से चुनाव हो जाता हैं। जब 'पर' की बात आई वहां भी चुनाव हो जाता है।

ध्यान करने वाले व्यक्ति मे चिंतन का परिष्कार होता है, चिन्तन बदलता है। दृष्टिकोण बदलता है। उसमें 'पर' के प्रति एक स्वतंत्रता की अनुभूति जागती है। दूसरे व्यक्ति के स्वतंत्र अस्तित्व का अनुभव करना एक बहुत बड़ी फलश्रुति है। कोई आदमी किसी के स्वतत्र अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता, सही अर्थ मे स्वीकार नहीं करता।

पिता पुत्र को प्रिय मान लेता है पर उसके स्वतत्र अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता। वह स्वतंत्र होने की थोडी-सी भी बात करता है तो पिता तिलमिला उठता है। पति पत्नी के स्वतत्र अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता। मालिक नौकर के स्वतंत्र अस्तित्व को कैसे स्वीकार कर सकता है ? इसीलिए वह उसकी हर चाह पर नियत्रण लगाना चाहता है। यह नियंत्रणो का विकास इस आधार पर हुआ कि हमे दूसरे का स्वतंत्र अस्तित्व मान्य नहीं है। सिद्धान्तत: मान्य हो सकता है। पर वास्तव मे मान्य नहीं है। जहा भी स्वतत्रता की बात होती है, वहा बडी समस्या पैदा हो जाती है।

ध्यान की गहराई मे गए बिना, चेतना की परतो का विश्लेषण किए बिना, उनका साक्षात्कार किए बिना दूसरे व्यक्ति का स्वतंत्र अस्तित्व है, यह बात जानते हुए भी नहीं जानी जाती, समझते हुए भी नहीं समझी जाती।

हमारा चेतना का जगत् एक बहुत बडा विचित्र जगत् है, सूक्ष्म जगत् है। हम कभी चेतना के जगत् मे विहार नहीं करते। हमेशा हमारी दृष्टि वस्तु-निष्ठ रहती है और हमारा सारा चिन्तन भी वस्तु-निष्ठा रहता है।

एक पुत्र यदि वर्ष मे दस-बीस लाख रुपये कमाकर ला देता है तो पिता

को बहुत अच्छा लगता है। चाहे जैसे भी, येन-केन-प्रकारेण भी, वह कमाकर लाता है तो अच्छा लगता है। दूसरा पुत्र बहुत प्रामाणिक है, बहुत भला है, सच्चा है, ईमानदार है, दस-बीस लाख नहीं कमा पाता। अपना जीवन चला लेता है, थोडा बहुत ले आता है, बचा लेता है। वह आता है पिता के पास। पिता पूछता है, 'कितना कमाया वर्ष भर मे ?' वह कहता है—आय-व्यय समान। विशेष बचा नहीं। पिता कहता है—निकम्मे हो, जानते नहीं काम कैसे चलेगा ? कैसे शादियां होंगी ? कैसे घर का काम चलेगा ? प्रतिष्ठा कैसे बनी रहेगी ? पिता की बौछार होती है और वह निकम्मा करार दे दिया जाता है। एक लडका तो अच्छा हो गया और दूसरा लडका बुरा हो गया। क्यों ? हमारा चिंतन वस्तु-निष्ठ है, चेतना-निष्ठ नहीं है। यह कभी नहीं सोचा जाता कि इसने कितनी ईमानदारी से काम किया है। कितनी सचाई का अनुशीलन किया है, सचाई के आधार पर काम किया है, कितना भला है। इसने कभी किसी दूसरो को नहीं सताया, दूसरे को नहीं ठगा। चैतन्य का कोई मूल्यांकन नहीं होता, मूल्यांकन होता है वस्तु का।

दृष्टिकोण और चिंतन जब वस्तु-निष्ठ है और फिर हम कल्पना करें कि हमारे दु:ख कम हो, हम पूछें कि दु ख-मुक्ति का गुर क्या है ? सुख कैसे बढे ? हमारा चिंतन विधायक कैसे बने ? दूसरे के प्रति और समाज मे सृजनात्मक शक्तियां कैसे बढें यह कल्पना मात्र होगी।

बडा जटिल प्रश्न है कि हम दूसरे के प्रति कभी न्याय नहीं करते। जब अपने प्रति भी न्याय करना नहीं जानते तो भला दूसरे के प्रति क्या न्याय करेगे ? जो आदमी अपने प्रति न्याय करना नहीं जानता वह दूसरे के प्रति कभी न्याय नहीं कर सकता। जिस व्यक्ति का चिन्तन वस्तु-निष्ठ होता है वह अपने प्रति कभी न्याय नहीं कर सकता। वस्तु-निष्ठ चिन्तन वाला व्यक्ति परिग्रह हिंसा और असत्य में विश्वास करने वाला व्यक्ति कभी दूसरे के प्रति न्याय नहीं कर सकता। न्याय वही कर सकता है जिसकी दृष्टि मे अहिंसा की प्रतिष्ठा है, सत्य की प्रतिष्ठा है और अपरिग्रह-असंचय की प्रतिष्ठा है। आज हजारो-हजारो आवाजें हमारे सामने आती हैं कि कोई दूसरे का मूल्य नहीं आक रहा है। सदाचारी का कोई मूल्य नहीं आंक रहा है। भलाई का कोई मूल्य नहीं है। बुराई पनप रही है, भलाई नीचे जा रही है। सदाचार नीचे जा रहा है, दुराचार पनप रहा है। सब लोग परिताप व्यक्त कर रहे हैं। मानसिक व्यथा अनुभव करते हैं और व्यक्त करते हैं। पर लगता है परिताप और अभिव्यक्ति का कोई अर्थ नहीं है।

अहिंसा की प्रतिष्ठा तब तक नहीं हो सकती जब तक वस्तु-निष्ठ चितन रहेगा। सत्य की प्रतिष्ठा तब तक नहीं हो सकती जब तक चिन्तन वस्तु-निष्ठ होगा। अपरिग्रह की प्रतिष्ठा तब तक नहीं हो सकती जब तक चितन वस्तु-निष्ठ है। जब तक अपरिग्रह, सत्य और अहिंसा की प्रतिष्ठा नहीं होगी तो 'पर' के प्रति, दूसरे के प्रति, हमारा चिंतन विधायक नहीं हो सकेगा।

विधायक चितन के लिए बहुत जरूरी है कि जीवन मे, समाज मे, अहिंसा और अपरिग्रह के मूल्यों का विकास हो और उसके लिए जरूरी है कि 'पर' के स्वतंत्र अस्तित्व का मूल्याकन हम कर सके, दूसरे की स्वतंत्रता का मूल्याकन कर सके। हम कितना लाभ उठाते हैं दूसरे के द्वारा ? एक आदमी दूसरे आदमी से कितना लाभान्वित होता है ? आज विज्ञान की एक नई शाखा विकसित हुई है और उसके परिणाम, उसके निष्कर्ष बहुत अद्भुत हैं। जो पर्यावरण का सिद्धात सामने आया है, उसके आधार पर देखे तो हमारा सारा दृष्टिकोण विधायक हो सकता है। प्रकृति का एक कण भी इधर से उधर होता है तो सारे जगत् की व्यवस्था गडबडा जाती है।

'चूहो को समाप्त कर दिया जाए' यह आन्दोलन चल रहा है। पर चूहे समाप्त हो जाएगे तो सैकडो समस्याए पैदा हो जाएंगी। एक किसी जीव-जाति को समाप्त किया जाता है तो सैकडो समस्याए खडी हो जाती है।

मक्खिया निकम्मी नहीं हैं। मनुष्य जाति के लिए वह बहुत उपयोगी हैं। मच्छर भी मनुष्य जाति का बडा उपकार करते है। ये डक भी मारते हैं पर मनुष्य जाति के लिए बडे उपयोगी भी हैं। जितने छोटे जीव-जन्तु नुकसान पहुंचाने वाले हैं, वे आदमी का भला भी करते हैं। चूहे बहुत हैं, लगता है अनाज खा जाते है, नुकसान करते हैं, किन्तु चूहे मनुष्य का भला भी कितना करते हैं। चूहे समाप्त होते हैं तो बिल्लियां भी समाप्त होती हैं। चूहे समाप्त होते है तो बहुत सारे कीटाणु नष्ट करने वाली जातिया समाप्त होती हैं। इतना सारा जुडा हुआ है। प्रकृति का एक कण दूसरे कण से जुडा हुआ है। एक धागा कभी कोई काम नहीं कर सकता। हजारो-हजारो धागे जुडते हैं, कपडा बनता है। ओढने के काम आता है। बोरा बनता है। वह वजन डालने के काम मे आता है। न जाने कितना उपयोग होता है। एक ध ागा होता तो धागा ही रह जाता और जब सारे धागे जुड जाते हैं तो बहुत उपयोगी बन जाते हैं।

हमारी सारी दुनिया एक जोड है। कोई तोड नहीं है। मात्र एक योग है। योग से ही सारा जीवन चलता है। जगत् मे, प्रकृति मे जितनी जीव-जातिया

और प्रजातियां हैं, जितने पदार्थ हैं, उन सबका एक जोड है। जोड है इसलिए सब कुछ चल रहा है। जहां भी जोड में थोडा-सा टूटा, खरावी हो जाती है, सब कुछ लडखडा जाता है। एक की टूट के कारण प्रकृति की सारी व्यवस्था प्रभावित हो जाती है।

पर्यावरण-विज्ञान का अर्थ है कि जोड यथावत् बना रहे। जो जैसे हैं वैसे बने रहे। प्रकृति के कार्य मे हस्तक्षेप मत करो, उसमे तोड-फोड मत करो, नहीं तो बडी गडबडिया पैदा हो जाएंगी।

आज अणु-परीक्षणो के द्वारा तथा नाना प्रकार के अन्य परीक्षणो के द्वारा हमारी पृथ्वी पर जो एक आवरण बना हुआ है, वह क्षत-विक्षत हो रहा है। आदमी बडा चिन्तित है कि जब तक यह पर्यावरण सुरक्षित है, मोटाई है, तब तक सूर्य की तेज किरणो से हमारा बचाव होता है और जिस दिन यह आवरण कमजोर हो जाएगा और सूर्य की किरणे सीधी आने लगेंगी तो आदमी जी नहीं सकेगा, यह दुनिया जी नहीं सकेगी।

हम विधायक चितन का निर्माण करे, अपने चितन को विधायक बनाएं, दूसरे के चिंतन का मूल्यांकन करे। चिन्तन को विधायक बनाने के लिए अपनी चेतना को काटना बहुत जरूरी है। हमारी चेतना बहुत जुडी हुई चेतना है। उस पर जो जमा हुआ है, उसे काटना पडेगा, तराशना पडेगा। इतना होने पर ही वह समाज और 'पर' के सन्दर्भ मे फिट हो सकेगी। दूसरे के प्रति हमारी चेतना मे जो हिंसा का भाव है, असत्य का भाव है, परिग्रह का भाव है, दूसरो पर अधिकार करने का भाव है, उसे काटना होगा, तराशना होगा। यदि चेतना को नहीं तराशेगे तो दृष्टिकोण निषेधात्मक बना रहेगा।

दूसरे के प्रति हमारा विधायक चिन्तन बने, इसके लिए जरूरी है कि हम चेतन को चेतन की दृष्टि से देखे, उसका वस्तु-निष्ठ मूल्यांकन न करे। चेतना का अनुभव किए बिना वस्तु-निष्ठ दृष्टिकोण और वस्तु-निष्ठ चेतना को बदल देना सम्भव नहीं होता।

एक व्यक्ति के द्वारा दूसरे व्यक्ति मे संयम आता है, सादगी आती है, सहिष्णुता आती है, पर तब आती है जब अपनी दृष्टि स्व-निष्ठ बन जाती है, चेतना स्व-निष्ठ बन जाती है।

सारी समस्या और निषेधात्मक दृष्टि का मूल आधार है—हमारा पदार्थलक्षी दृष्टिकोण, पदार्थ के प्रति अतिरिक्त मूल्य की भावना। जिस दिन हम ध्यान के अतल गहराई मे जाकर इस सचाई का अनुभव कर सकेगे पदार्थ को उपयोगिता की दृष्टि से देख सकेगे, अधिकार जमाने की दृष्टि बदल

जाएगी, उस दिन आदमी आदमी होगा, दूसरा होने पर भी आदमी आदमी होगा, चेतन होगा और उसके प्रति हमारा दृष्टिकोण विधायक रहेगा। मै सोचता हू कि जीवन के प्रति उतरते-चढते क्षणो मे सामाजिक समस्याओ के उलटते-पलटते पृष्ठो मे आज एक बहुत बडी समस्या है। हजारो-हजारो समस्याओ की दुहाई और समाधान एक दो का भी उपलब्ध नही ! कैसा आश्चर्य ! धर्म के लोग भी समस्या उपस्थित करते है और समस्याओ का ताना-बाना इतना बडा हो गया है कि कहीं सिमटता नजर नहीं आ रहा है। इसका एक ही कारण है कि हमारी दृष्टि मे मूर्च्छा है। जब दृष्टि मे मूर्च्छा है तो हमारे चरित्र मे भी मूर्च्छा है। दो ही मूर्च्छाए होती है-दृष्टि की मूर्च्छा और चरित्र की मूर्च्छा।

ध्यान करने वाले व्यक्ति को इस सचाई को बहुत गहराई से समझना है कि पहले दृष्टि की मूर्च्छा टूटनी चाहिए, दृष्टिकोण का परिमार्जन होना चाहिए। उसका आधार है अनुभव और प्रयोग। सिद्धान्त की बात अधूरी रह जाती है बिना प्रयोग के। प्रयोग और सिद्धान्त—इन दोनो का जोड होता है और इस जोड मे से जो फलश्रुतिया निकलती है, वे बहुत मूल्यवान् होती है।

प्रतिक्रिया से कैसे बचें ? (१)

आज मेरा जन्म दिन है। यह अब बताने मे संकोच नहीं है, क्योकि आप पहले जान चुके हैं। मैं एक नए सकल्प के साथ प्रवेश कर रहा हूं और वह सकल्प है—'अहिंसा का और अधिक विकास।'

लोग जानना चाहते हैं मेरे जीवन के बारे मे और मेरे विकास के बारे मे। पूछते हैं कि आपने इतना अधिक कैसे लिखा ? इतना विकास कैसे किया? मै बताना चाहता हू कि मुझे एक सूत्र मिला और वह सूत्र मेरे जीवन मे सहज व्याप्त हो गया है। वह सूत्र है—प्रतिक्रिया से मुक्त रहना।

हिंसा के दो रूप हैं—प्रतिक्रिया और दूसरा प्रतिशोध। मारना भी हिंसा है, पर आदमी हमेशा किसी को मारने की मुद्रा में नहीं रहता, किसी को मारता भी नहीं है। यदि वह रोज किसी को मारने लगे तो स्वयं पगला जाए। मारने की बात तो यदा-कदा जीवन मे आती है। कोई आदमी अपराधी होता है, क्रूर होता है तो जीवन मे किसी को मार डालता है। यह मारने वाली हिंसा हमारी दुनिया मे कम चलती है। हिंसा के दो रूप ज्यादा चलते हैं—एक है प्रतिक्रिया और दूसरा है प्रतिशोध। प्रतिशोध से भी प्रतिक्रिया वाली बात ज्यादा चलती है।

जीवन मे प्रतिदिन पचासो बार प्रतिक्रिया करते हैं, पचासो बार हिंसा का जीवन जी लेते हैं। बहुत बार ऐसा होता है कि हमारा श्वास हिंसा का श्वास बन जाता है। हमारा उच्छ्वास हिंसा का उच्छ्वास बन जाता है। जीवन मे प्रतिक्रिया के बहुत प्रसंग आते हैं। मैंने बचपन से अपना एक सूत्र बनाया कि यदि मुझे अपने जीवन मे सफल होना है, कुछ काम करना है तो इस प्रतिक्रिया के चक्कर मे नहीं फंसना है। जो आदमी प्रतिक्रिया के चक्कर में फस जाता है, उसकी सारी सृजनात्मक शक्तियां समाप्त हो जाती हैं, केवल ध्वस और ध्वंस ही उसके सामने बचता है। वह कोई बडा काम नहीं कर सकता, क्योकि आखिर शक्ति का एक स्रोत है। ऊर्जा का एक प्रवाह है। उसे इधर मोड दे, चाहे उधर मोड दे। किधर भी मोड दे। शक्ति तो आखिर है जितनी ही है। उसको किस दिशा मे लगाना चाहते हैं, इसका चुनाव और निर्माण तो आपको ही करना है। शक्ति को ध्वंस मे भी लगाया जा सकता है और शक्ति को सृजनात्मक कार्यों मे भी लगाया जा सकता है। शक्ति को रचनात्मक बनाना है या शक्ति को ध्वंसात्मक बनाना है, यह हर व्यक्ति को चुनाव करना होता है।

मैंने चुनाव किया और मुझे प्रसन्नता है कि मैं प्रतिक्रिया से अधिक से अधिक बचा हू। इसका मुझे सतोष है। मुझे याद नहीं कि किसी के प्रति शत्रुता का भाव किया हो। मुझे मालूम हो जाता है कि अमुक आदमी मेरे बारे मे अनिष्ट सोच रहा है, पर मैंने हमेशा यह सोचा कि वह सोच रहा है, उसकी शक्ति नष्ट हो रही है। एक आदमी को वमन हो रही है तो क्या जरूरी है कि दूसरा भी वमन करे ? होता तो है, बडी दुर्बलता है। एक आदमी वमन करता है तो दूसरा भी वमन करने लग जाता है। पर जिसका मनोबल दृढ है, वह ऐसा नहीं करता।

हिंसा एक विकट समस्या है। हमारे जीवन मे हिंसा के बहुत प्रसग आते हैं। प्रसग आने पर हिंसा में न जाए, प्रतिक्रिया के प्रसंग आने पर प्रतिक्रिया मे न जाएं, अहिंसा और क्रिया का जीवन जी सके तो हमारी सबसे बडी उपलब्धि होती है।

क्रियात्मक जीवन जीना अपने स्वतत्र दायित्व का अनुभव करना है, स्वतंत्र कर्तृत्व का अनुभव करना है। व्यक्ति क्रियात्मक जीवन जीता है, वह कोई भी काम करता है तो कर्तृत्व के आधार पर करता है, दायित्व के आधार पर करता है, किन्तु दूसरे के हाथ का खिलौना बनकर नहीं करता। प्रतिक्रिया करने वाला तो दूसरे के हाथ का खिलौना है। जो प्रतिक्रिया का जीवन जीता है, वह कठपुतली है, खिलौना है।

कहानी तो बच्चो की है पर मार्मिक है। बाप और बेटा दोनो घोडे पर चढकर जा रहे थे। लोग मिले, बोले—देखो ! मरियल घोडा और उस पर बैठे हैं दो व्यक्ति। विचित्र आदमी है। तत्काल पिता के मन में प्रतिक्रिया हुई, वह नीचे उतर गया। अपना कोई चिन्तन नहीं था। चढा तब चिन्तन के साथ ही चढना था। अब लोगो ने कहा, वह नीचे उतर गया। बाप-बेटा थोडा आगे गए। दूसरे लोग मिले, बोले—देखो ! कैसा जमाना आया है। लडका जवान है, ऊपर बैठा हुआ जा रहा है। बाप बेचारा जूते घिसते-घिसते चल रहा है। काफी व्यंग कसा तो लडका नीचे उतर गया और बाप ऊपर चढ गया। थोडा आगे चले। लोग मिले, बोले—देखो ! बडी विचित्र बात है कि बाप तो ऊपर बैठा है और बेचारा छोकरा नीचे चल रहा है। यह सुनकर बाप भी उतर गया। दोनो उतर गए, दोनो पैदल चलने लगे घोडे की लगाम थामे। थोडा आगे चले, आदमी मिले, बोले—देखो ! कितने मूर्ख हैं। घोडा तो खाली चल रहा है, ये पैदल चल रहे है।

अब क्या करे ? प्रतिक्रिया का जीवन जीने वाला कहा जाए ? जाने का रास्ता नहीं बचता। सारे रास्ते बन्द हो जाते है। इतना विचित्र चिन्तन और

विचित्र बातें आती हैं कि कहीं टिक नहीं पाता।

एक संन्यासी बना था नया-नया। उसी गांव का था। तालाब के पास डेरा लगाए बैठा था। एक दिन सो रहा था। सिरहाने ईंट रखी हुई थी। महिलाए पानी लाने तलाब पर जा रही थीं। एक महिला बोली—देखो ! संन्यासी बन गया तो क्या हुआ ! अभी सिरहाने का मोह नहीं छूटा, और कुछ नहीं तो ईंट को ही सिरहाने दे रखा है। संन्यासी ने सुना और सोचा, ठीक नहीं किया मैने। उसने ईंट को निकाल कर बिना सिरहाने दिए ही सो गया। बहिने पानी लेकर वापस आईं, देखा और फिर बोलीं—देखो ! कितना कमजोर है यह संन्यासी ! हमने कहा और ईंट निकाल दी। सन्यासी ने सुना और ईंट फिर लगा ली। वही बहिन दुबारा पानी लेने आई, देखा और बोली, अच्छे सन्यासी बने तुम ! हमारे कहने से ईंट निकालोगे और हमारे कहने से ईंट लगाओगे तो फिर संन्यासी बनोगे ही नहीं। संन्यासी बनना है तो हम कहते रहेगे, तुम्हे जो करना है वह करते रहो। हम कहते हैं उसकी प्रतिक्रिया से तुम चलोगे तो सन्यासी नहीं बन पाओगे।

इस दुनिया मे जीना और प्रतिक्रिया के साथ जीना, यह सबसे बडी समस्या है। अहिंसा की सबसे बडी फलश्रुति है कि कौन क्या कहता है, इससे निरपेक्ष होकर अपने धर्म के आधार पर चलो, अपने धर्म के आधार पर करो। जब तक हमारी प्रतिक्रियात्मक वृत्ति की सफाई नहीं होती, धुलाई नहीं होती तो कौन अहिंसक बन सकता है ? अहिंसा की बहुत बडी बात लोग करते हैं, पर केवल स्थूल बात पर ही अटक जाते हैं। बस इतना-सा कि पैर से चींटी मर जाती है तो लगता है कि हिंसा हो गई और भारी से भारी प्रतिक्रिया हो जाती है तो लगता ही नहीं कि हिंसा हुई है।

आज की अनुशासनहीनता का कारण क्या है ? सबसे बडा कारण है—प्रतिक्रिया। दूसरे की बात सुनना, दूसरे की बात मानना यह तथ्य हमारे जीवन से निकलता जा रहा है। लोग सोचते है, अपनी जो धारणा हो, उससे ही काम करना, दूसरा कौन कहने वाला है ? सीख मानना, शिक्षा स्वीकार करना यह हमारी आदत मे ही जैसे नहीं रहा। आज की नई पीढी मे असहिष्णुता, दूसरे की बात स्वीकार न करना, अनुशासन को न मानना—ये तथ्य जो पनप रहे है, यह भी हिंसा है। यह उग्र होती जा रही है। इसमे दोनो ही कारण बनते हैं—कहने वाले कहना नहीं जानते और मानने वाले मानना नही जानते।

अनुशासन जीवन में बहुत आवश्यक होता है। सामाजिक जीवन हो और अनुशासन न हो तो वह सामाजिक जीवन मात्र हड्डियों का ढांचा रह

जाता है। हमारा शरीर चल रहा है। यह हड्डियो का ढाचा ही तो है। एक अस्थिककाल है। हर मनुष्य का शरीर, हर प्राणी का शरीर एक अस्थिकंकाल है। पर यह चलता है। किस आधार पर चलता है ? इसमे प्राण की शक्ति काम करती है। प्राण के द्वारा यह शरीर चल रहा है। यदि प्राण की शक्ति न हो तो यह ढाचा मात्र रह जाता है, चल नहीं सकता।

अनुशासन हमारे जीवन की प्राण-शक्ति है। प्राण है पर अहिंसा का विकास हुए बिना अनुशासन का विकास नहीं हो सकता। जितनी हिंसा उतनी अनुशासनहीनता। जितनी अहिंसा उतना अनुशासन। अहिंसा का एक रूप होता है—क्रियात्मक जीवन, प्रतिक्रियाविरति, प्रतिक्रिया से मुक्ति।

पचतंत्र की एक कहानी है बन्दर और बया की। बया का घोसला एक पेड पर था और उसी पेड पर एक बन्दर बैठा था। वर्षा का मौसम था। तेज वर्षा हो रही थी। बदर काप रहा था। बया अपने घोसले में बैठी थी। गहरी वर्षा होने लगी। बन्दर की कपकपी को देखा तो बया बोली, 'अरे बन्दर ! तुम तो आदमी जैसे हो। तुम्हारे हाथ है, पैर हैं। तुम सब कुछ कर सकते हो। एक घर क्यो नहीं बना लेते ? इतना सुनते ही बन्दर गुस्से से भर गया। वह झपटा और बया के घोसले को तोडकर नीचे गिराते हुए बोला—'असमर्थो गृहारम्भे, समर्थो गृह-भञ्जने—अरे! तू उपदेशी देती है ? कौन है तू उपदेश देने वाली ? मेरे सब कुछ हैं, हाथ हैं, पैर है, मैं अपना घर बनाने मे तो समर्थ नहीं हूं, पर दूसरे के घर तोडने मे तो समर्थ हू।'

यह एक प्रतिक्रिया का जीवन है। बया ने अच्छी बात कही थी, कोई बुरी बात नहीं कही थी। उसने कोई बुरा शब्द भी नहीं कहा था। पर आदमी (बन्दर) का अह इतना फुफकारता है, वह सोचता है कि मुझे कहने वाला कौन ? हर आदमी अपने आपको सर्वोपरि माने बैठा है। माने या न माने, करे या न करे, पर भीतर मे इतना प्रबल अहकार है कि वह सोचता है, मुझे कौन कहने वाला ? क्या मैं नहीं समझता ? क्या मै नहीं जानता ? मैं मूर्ख हू ? यह ज्यादा समझदार है मुझे कहने वाला ? इतना क्रूर और इतना डरावना यह अह का नाग, हमारे भीतर बैठा है। वह जहरीला है। जब कभी कोई सामने आता है तो वह डक मारने को तैयार रहता है।

अहंकार हमारे भीतर है तब अहिसा का विकास कैसा होगा ? प्रतिक्रिया से मुक्त हम कैसे हो सकेगे ? मैं कोई साधु की बात नहीं कर रहा हूं। केवल साधु-सन्यासी के जीवन की बात नहीं कर रहा हूं। मैं सामाजिक जीवन के सदर्भ मे कुछ चर्चा कर रहा हू। सामाजिक जीवन मे भी एक सीमा तक अहकार को कम करना जरूरी होता है। जो संन्यासी बन गया, उसके लिए

तो अहकार को कम करना जरूरी है ही, किन्तु संन्यासी तो नहीं बना पर सामाजिक जीवन जी रहा है, उसके लिए भी आवश्यक है कि अहकार को कम करता चले। कम करता चले।

महारानी विक्टोरिया गई। दरवाजा खटखटाया। भीतर था प्रिंस अलबर्ट। उसने पूछा, कौन है ? उसने कहा—महारानी विक्टोरिया। दरवाजा खुला नहीं। फिर खटखटाया और फिर पूछा कौन है ? उसने फिर कहा—'आपकी प्रिय पत्नी विक्टोरिया।' तत्काल दरवाजा खुल गया। महारानी के लिए दरवाजा नहीं खुल सकता और प्रिय के लिए दरवाजा खुल सकता है। जब अहकार बैठा है तो सामने वाला व्यक्ति भी तन जाता है। एक का अहंकार दूसरे मे भी अहकार पैदा कर देता है। एक की विनम्रता दूसरे को भी विनम्र बना देती है। प्रतिक्रिया का बहुत बडा कारण बनता है—अहंकार एक पक्ष का अहकार भी प्रतिक्रिया का कारण बनता है। और यदि अहंकार दोनो पक्षो मे हो जाए तो फिर भयानक स्थिति बन जाती है।

प्रतिक्रिया का दूसरा हेतु बनता है—गलती बताना। कोई आदमी किसी को बताए कि यह तुमने गलती की, यह तो बडी भयकर बात है। न बताए तब तक तो ठीक है, बताने पर सौ मे निन्नानवे व्यक्ति ऐसे होगे कि एकदम आवेग मे आ जाएगे। बडी कठिन समस्या है, दूसरे की गलती बताना। दूसरे के दोष बताने का मतलब है कि शत्रुता मोल लेना। यह विचार गृहस्थो मे ही नहीं, साधना करने वाले व्यक्तियो के मन मे भी है। मैं कोई किसी की गलती बताऊं, इसका मतलब शत्रुता मोल ले लू ? क्योकि गलती बताने पर उसे सम्यक् स्वीकार करे और यह कहे कि तुमने बहुत अच्छा काम किया, मुझे जताया, मुझे सावधान किया, बहुत अच्छा है, मैं और सावधान रहूंगा—यह बात तो सुनने को मिलती नहीं और गलती बताते ही बताने वाले पर बरस पडता है कि कल का छोकरा और मुझे गलती बता रहा है ? तुझे पता है, तूने जितना आटा खाया है उतना मैं नमक खा चुका हू। मेरी क्या गलती बताएगा ? मुझे क्या चेताएगा ? इतनी भयंकर प्रतिक्रिया जागती है कि वह प्रतिक्रिया प्रतिशोध मे बदल जाती है। प्रतिशोध भी भयकर होता है। मैंने देखा है, अनुभव किया है, एक व्यक्ति ने किसी को बता दिया कि यह तुम गलती कर रहे हो। उसने गाठ बांध ली। अब वह प्रतिवाद मे दिन मे पचास बार कहता, यह तुम गलती कर रहे हो। उसने सोचा, किस भूत से वास्ता हो गया, पिंड छुडाना मुश्किल है। मैने तो सहज भाव से बताई कि भाई ! यह तुम्हारी गलती है। इसके मन मे तो प्रतिशोध की भावना जाग गई। अब यह मेरे पीछे पड गया है ? उठू तो गलती कर रहे हो, बैठू तो गलती कर रहे हो, चलूं तो गलती कर रहे हो,

हर बात-बात मे कह रहा है कि गलती-गलती। ऐसा लगता है मानो गलती बताना इसका एक मंत्र बन गया है। यह एक प्रतिक्रिया का प्रसग है। इस प्रकार की प्रतिक्रिया जागती है। मैंने अनुभव किया है कि अहिंसा का विकास हुए बिना इस प्रतिक्रिया से आदमी बच नहीं सकता।

आचार्य भिक्षु का जीवन मैं अहिंसा का जीवन मानता हू। दो व्यक्ति हिन्दुस्तान मे इन दो शताब्दियो में मेरे सामने आते हैं—आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी। दोनो के जीवन मे कुछ बातो मे बडी समानता है। आचार्य भिक्षु ने अहिंसा का बडा प्रयोग किया। महात्मा गांधी ने भी किया।

प्रतिक्रिया मुक्ति कैसे हो सकती है, इसका जीवन्त उदारहण है—आचार्य भिक्षु।

एक भाई आकर बोला, महाराज ! अमुक व्यक्ति आप मे यह-यह दोष निकाल रहा है। वह कहता है, भिक्षु मे यह दोष है, यह अवगुण है। अनेक दोष निकाल रहा है। आचार्य भिक्षु प्रसन्न मुद्रा मे बोले, क्या बुरा हुआ ? साधु इसीलिए बना हू कि दोषो को बाहर फेकू। मैं साधना कर रहा हू, तपस्या कर रहा हूं, कुछ दोष मैं बाहर निकाल रहा हू। वह भाई मेरा बडा सहयोगी है, कुछ दोष मेरे वह निकाल रहा है, मेरा सहयोग कर रहा है, तुम बुरा क्यो मानते हो ? बात समाप्त हो गई।

यह है हमारा क्रिया का जीवन। आचार्य भिक्षु मे प्रतिक्रिया या हिंसा की कोई भावना नहीं जागी। अन्यथा किसी को यह कहकर देखो कि अमुक व्यक्ति तुम्हारे मे वह दोष निकाल रहा है, यह दोष निकाल रहा है। किसी राजनीति के व्यक्ति को कह दो, दूसरा तुम्हे बुरा बता रहा है, दोषी बता रहा है, उसमे भयकर प्रतिक्रिया जाग उठेगी। प्रतिशोध की भावना भी प्रबल हो जाएगी।

कोई चुनाव लड रहा था। किसी ने यह कह दिया कि अमुक व्यक्ति तुम्हें गालियां दे रहा है। उसने कहा-कोई बात नहीं, चुनाव लड लू, मत्री बन जाऊ फिर देखता हू गालियां देने का क्या अर्थ होता है।

हर आदमी की यह प्रतिक्रिया होती है कि कोई गाली दे और गाली को सहन कर ले तो आदमी बना ही क्या ? कोरी मिट्टी है। एक तो गाली दे रहा है और उसे सहन कर ले, जो दोष बता रहा है उसे सहन कर ले, क्या आदमी बना ? बहुत कम लोग होते हैं जो इस प्रकार के प्रसग उपस्थित होने पर अपना संतुलन बनाए रख सके और बुराई को अच्छाई मे बदल सके।

आचार्य भिक्षु की ही एक दूसरी घटना प्रस्तुत करना चाहता हू। पाली मे चातुर्मास करना था। वहां गए। रहने के लिए स्थान की खोज करने लगे। बाजार मे देखा कि एक दुकान है। पुरानी-सी दुकान। आचार्य भिक्षु ने

मालिक से स्वीकृति मांगी कि 'हमे चातुर्मास मे रहने के लिए तुम्हारी दुकान चाहिए।' उसने स्वीकृति दे दी। वे ठहर गए। दूसरे लोगों को पता चला। दुनिया मे सब प्रकार के लोग होते हैं। आचार्य भिक्षु का विरोध करने वाले तो उस समय बहुत बडी सख्या मे थे। पता चला कि भिक्षु को रहने के लिए स्थान मिल गया। कुछ लोग उस दुकान के मालिक के पास गए और बोले, किसको स्थान दिया है ? निकाल दो। भला नहीं होगा। उसे बहुत भडकाया। वह भ्रम मे आ गया। उसने भिक्षु से आकर कहा–'आप यहां पर नहीं रह सकते।' उन्होने कहा, ठीक बात है। अगर मालिक अस्वीकृति कर दे तो ठहरने का प्रश्न ही नहीं होता। आचार्य भिक्षु ने तत्काल वहां से प्रस्थान कर दिया। वे किसी दूसरे स्थान पर चले गए, वहां ठहर गए। चौमासे का समय, वर्षा ऋतु का समय, अच्छी वर्षा हुई। कोई ऐसा योग मिला कि तूफान के साथ गहरी वर्षा के कारण दुकान ढह गई। आचार्य भिक्षु को पता चला कि दुकान तो ढह गई है। आचार्य भिक्षु ने कहा–देखो ! कितने उपकारी थे वे लोग ! उन्होने कितना बडा उपकार किया ! अगर वे उपकार न करते तो पता नहीं हम दुकान मे होते, दुकान ढहती, हमारा क्या होता ? उन्होने हमारे प्राणो को बचा लिया। वे कितने बडे उपकारी हैं ?

क्या ये प्रतिक्रिया के स्वर हो सकते हैं ? जिस व्यक्ति मे हिंसा की थोडी भावना है, जिस व्यक्ति मे प्रतिक्रिया की थोडी भावना है वह व्यक्ति इस प्रकार सोचेगा कि उन्होने हमे निकाल दिया। हम इस तिरस्कार का बदला लेगे, प्रतिशोध लेकर रहेगे। यदि कोई बदला न ले सके तो बुरा-भला तो कह ही देता है। प्रतिक्रिया पैदा करती है–हिसा, तनाव, असतुलन, रक्त-संचार में अवरोध और कभी-कभी वह अवरोध उस बिन्दु पर भी पहुच जाता है जहां हेमरेज की स्थिति भी आ जाती है। ब्रेन हेमरेज जो होता है उसके पीछे तनाव होता है और तनाव के पीछे हिसा होती है, प्रतिक्रिया का भाव होता है, प्रतिशोध की आग होती है।

अहिंसा का सिद्धांत केवल धर्म का ही सिद्धांत नहीं है। वह अच्छा जीवन जीने का सिद्धात है, स्वस्थ जीवन जीने का सिद्धात है। हम बीमारियो के बारे मे बहुत सोचते हैं। औषधिया बढ रही हैं और रोग भी बढ रहे हैं। अनुसंधान होना चाहिए, बीमारियां क्यों बढ रही हैं ? बीमारियां केवल कीटाणुओ के कारण ही नहीं बढ रही हैं, वे हमारी मानसिक हिंसा के कारण भी बढ रही हैं।

हमने देखा है कि प्रेक्षा-ध्यान शिविर मे अभ्यास करने वाले लोग दवाइयो की आदत से मुक्त हो जाते हैं। उनकी भयंकर बीमारियां मिट जाती

हैं। प्रश्न हो सकता है कि ये बीमारिया कैसे मिट जाती हैं ? आपको ज्ञात होना चाहिए कि सारी बीमारियां शरीर की बीमारियां नहीं है, वे साइकोसो-मेटिक–मनोकायिक बीमारिया है। मन से पैदा होने वाली, हिंसा से पैदा होने वाली बीमारियां हैं। ध्यान के द्वारा यह हिंसा का मूल, हिसा का दबाव कम होता है, प्रतिक्रिया–विरति होती है तब बेचारी बीमारिया टिकेगी कैसे ? उनके टिके रहने का आधार ही समाप्त हो जाता है। तर्कशास्त्र का एक नियम है, 'कारणाभावे कार्याभाव '–कारण का अभाव होता है तो कार्य का अभाव होता है। कारण के बिना कार्य कहां से रहेगा ? इस कारण की खोज नहीं करते। आज की अनेक समस्याओ मे हम बाहरी–बाहरी बातो मे खोज करते हैं। मूल कारण की खोज नहीं करते। यदि इस सचाई को माने कि मानसिक हिंसा के कारण बीमारियां बहुत बढ रही हैं, तो शायद दवाइयो के चक्कर मे बहुत फंसने की जरूरत नहीं रहती और स्वास्थ्य के लिए बहुत चिंता करने की आवश्यकता भी नहीं रहती। स्थिति यह है कि शिविर मे ऐसे बहुत सारे लोग आते हैं जो डॉक्टरो के चक्कर से थक जाते हैं और दवाइयो के चक्कर से परेशान हो जाते हैं। दवाइयो से लाभ कैसे होगा क्योकि रोग पैदा करने वाली शक्ति तो दूसरी है। दवा लेते हैं कीटाणुओ की। डॉक्टर के पास है ही क्या ? बेचारा डॉक्टर क्या करता है ? वह तो यही करेगा कि इस बीमारी के जर्म्स है, जर्म्स को खतम कर दे। ज्यादा से ज्यादा एटीबायोटिक देगा। बस, यही उसकी सीमा है। क्या करेगी एटीबायोटिक ? कीटाणुओ को नष्ट करेगी। पर साथ–साथ जीवनी–शक्ति को भी नष्ट करेगी। उसका काम तो नष्ट करना है। एंटीबायोटिक मे यह विवेक नहीं है कि केवल कीटाणुओ को मारे और आपके जीवन को सरक्षण देने वाले तत्त्वो को समाप्त न करे। इसका काम तो समाप्त करना है। यह जीवनी शक्ति को भी समाप्त करेगी और कीटाणुओ को भी समाप्त करेगी।

कोई भी एंटीबायोटिक लेने वाला परेशानियो से बचा हो, ऐसा लगता नहीं। उसे साथ में विटामिन की गोलियां लेनी पडती हैं, ताकि जो क्षति हो, उसकी पूर्ति होती रहे। डॉक्टर हमेशा सुझाएगा कि एंटीबायोटिक ले रहे हो तो साथ में 'बिकोसूल' लेना है। बी काम्प्लेक्स लेना है, कब तक चलेगा यह? कीटाणुओ को मारने के लिए डॉक्टर दवा देता है, रोगी लेता चला जाता है और बीमारी का कारण कोई तीसरा है, उसका पता ही नहीं चलता। बीमारी मिटे कैसे ? यह बीमारी कीटाणु की बीमारी नहीं। ये बहुत सारी बीमारिया हिंसा का भावना से उत्पन्न बीमारिया है। जब मन से हिंसा निकल जाती है, तत्काल ऐसा लगता है कि स्वस्थ हो गया हू।

हमने देखा कि ध्यान करने से सुगर की बीमारी ठीक होती है। अल्सर की बीमारी, रक्तचाप की बीमारी ठीक होती है। प्रश्न होता है? बीमारी क्यों मिट गई ? दवा तो नहीं की। ध्यान किया और एक्जिमा ठीक हो गया। ऐसा क्यो हुआ ? ये बहुत सारी बीमारिया मानसिक बीमारिया हैं। ये हिंसा से पैदा होने वाली बीमारिया है। हमने इस ओर कभी ध्यान नहीं दिया। हिसा को बहुत स्थूल अर्थ मे पकडा। कहते हैं कि जैन लोग 'अहिंसा परमोधर्मः' मानते है। मुझे तो नहीं लगता कि परम धर्म मानते हैं। परम धर्म मानते तो उसका परिणाम यह आता कि जैनो मे कम से कम बीमारियां मिलती। आज तो लगता ही नहीं कि जैन लोग कम बीमार हैं। धार्मिक लोग कम बीमार हैं, ऐसा लगता नहीं। इसका अर्थ यही होता है कि उन्होने अहिंसा को सिद्धात के रूप मे स्वीकार किया, एक प्रयोग के रूप मे स्वीकार नहीं किया। प्रेक्षा-ध्यान धर्म का प्रायोगिक रूप है। हम सिद्धात की चर्चा करते-करते, सिद्धात का विवाद करते-करते इतने पुराने हो गए हैं कि बेचारा सिद्धांत भी हमसे घबराने लगा है। वह भी चाहता है कि इनसे छुट्टी पा लूं। एक है अहिसा का सिद्धांत। पहला इधर खींचता है। इस चर्चा और खींचातानी से परेशान होकर अहिंसा स्वय परेशान हो गई और वह चाहती है कि इन अहिंसा के पडे-पुजारियो से मेरी मुक्ति हो जाने पर ही मेरा कल्याण होगा।

हम एक नए दृष्टिकोण का निर्माण करे। सिद्धात की चिंता में बहुत न उलझे। बहुत गहरे मे न जाएं। सिद्धांत की पुष्टि प्रयोग के द्वारा करे। प्रयोग का मूल्याकन करे। यह सोचे कि प्रयोग होगा तो जीवन मे अहिंसा उतरेगी।

मैं जानता हूं कि सौ बार अहिंसा से सिद्धांत की चर्चा करना और एक घटा अहिंसा की साधना के लिए प्रेक्षा-ध्यान का प्रयोग करना, सौ बार की चर्चा से कहीं ज्यादा मूल्यवान् है। एक घटा प्रयोग करने वाला व्यक्ति चेतना के उस स्तर पर पहुंचता है जहां अहिंसा का दर्शन होता है, साक्षात्कार होता है। वहा सही मूल्याकन होता है। चित्त की निर्मलता से प्रियता और अप्रियता के सवेदन से मुक्ति पा लेने पर जिस प्रकार की चेतना का निर्माण होता है उसका हमे पता चलता है। सिद्धान्त की चर्चा करते-करते पूरे बारह वर्ष भी बिता दे, तो भी राग-द्वेष के घटने की बात शायद नहीं आएगी। वह बढेगा ही बढेगा।

मुझे एक घटना याद है आचार्य श्री के जीवन की। हरियाणा की घटना है। भिवानी का एक भाई आया और बोला—आचार्य जी ! आपसे शास्त्रार्थ करना चाहता हू। आचार्यश्री ने कहा—'भाई ! किसलिए ?' वह

बोला—'बस, करना चाहता हूं।' 'अरे क्यो ? क्या करोगे ? उद्देश्य क्या है तुम्हारा ?' आखिर बोल पडा वह, 'मैं आपको पराजित करना चाहता हू।' आचार्यश्री ने कहा—'इतना छोटा-सा उद्देश्य और इतना बडा समारंभ? निकालनी तो चूहिया और पहाड खोदोगे, क्या भला होगा। आखिर चूहिया निकालनी है, मुझे ही हराना है तो लो, मैं कहता हू कि तुम जीते और मैं हारा। बाजार में जाकर बता देना। लोगो को बता दो कि आचार्य तुलसी हार गए और मैं जीत गया। बस ! तुम्हारी बात तो पूरी हो गई।'

अब बेचारा वह क्या बोले ? बात समाप्त हो गई। हमने देखा कि दूसरी बार जब आचार्यश्री भिवानी मे पधारे तो वही व्यक्ति सबसे बडा भक्त और स्वागत समिति का अध्यक्ष बना हुआ है और सभा का संचालन कर रहा है।

जब हम प्रतिक्रिया से मुक्त होते हैं, हमारे मन मे प्रतिक्रिया नहीं होती, हमारे मन में हिंसा नहीं होती तो दूसरे व्यक्ति, सामने वाले व्यक्ति हिंसा मे जा नहीं सकते, जाते-जाते रुक जाते हैं, जाना चाहते है तो भी उनके पैर ठिठुर जाते हैं।

मेरे मन मे हिंसा है और सौ बार अहिंसा के सिद्धांत की चर्चा करू, अहिंसा की बात समझाना चाहूं तो सारी बकवास होगी, सारा व्यर्थ का प्रलाप होगा, नतीजा कुछ भी नहीं होगा।

अहिंसा के सिद्धात को विकसित करने का एक उपाय है--प्रेक्षाध्यान। यह प्रायोगिक जीवन है। धर्म प्रयोग-शून्य बन गया, रूढिवादी और मृत धर्म में विश्वास नहीं है। हमारा जीवन्त धर्म मे विश्वास है। हम जीवित धर्म चाहते हैं। वह धर्म जो हमारे वर्तमान की समस्या को समाधान दे सके। हम उस धर्म में विश्वास नहीं करते जो परलोक सुधारने वाला धर्म है कि धर्म करो तुम्हारा परलोक सुधर जाएगा। धर्म करो—नरक नहीं मिलेगा। धर्म करो—स्वर्ग मिलेगा, मोक्ष मिलेगा। अरे ! कब स्वर्ग मिलेगा। कब मोक्ष मिलेगा। तुम्हारा वर्तमान का जीवन तो सुधर ही नहीं रहा है और स्वर्ग और मोक्ष की बाते कर रहे हो ? जिस व्यक्ति के वर्तमान के क्षण मे मोक्ष नहीं होता, मरने पर कभी स्वर्ग मिलने वाला नहीं, कभी मोक्ष मिलने वाला नहीं। स्वर्ग है तो हमारा वर्तमान का क्षण है, मोक्ष है तो हमारा वर्तमान का क्षण है। जिसने वर्तमान के क्षण का मूल्याकन नहीं किया, वह स्वर्ग और मोक्ष के चक्कर मे फंसता गया, फसता गया और स्वर्ग तथा मोक्ष उससे दूर चलते गए, चलते गए। बेचारा कभी उन्हे छू नहीं पाएगा, समानान्तर रेखा की भाति जो साथ-साथ चलती हैं, पर कभी मिलती नहीं।

दे दिया। श्रीमद् ने रुक्का लिया हाथ मे और कहा—श्रीमद् दूध पी सकता है, किसी का खून नहीं पी सकता। यह कहते-कहते उन्होने रुक्का फाड दिया। वह देखता रह गया।

यह है—अन्त:करण की करुणा। धार्मिक व्यक्ति का पहला लक्षण होता है—करुणा। जिसमे करुणा नहीं जागती, क्रूरता जिसकी समाप्त नहीं होती और वह धार्मिक भी होता है, ऐसे व्यक्ति के लिए धार्मिक शब्द का प्रयोग करना विडबना मात्र है।

प्रेक्षा-ध्यान का प्रयोग अन्त·करण की कोमलता और करुणा की चेतना को जागने का प्रयोग है। प्रयोग के द्वारा हमारी चेतना वदले, चेतना का रूपान्तरण हो और हम हर प्राणी के साथ तादात्म्य अनुभव कर सके यही हमारा ध्येय है।

प्रतिक्रिया से कैसे बचें ? (२)

क्रिया और प्रतिक्रिया–यह स्वाभाविक है। पैर मे कांटा चुभा और हाथ तत्काल कांटा निकालने के लिए पहुंच गया। कांटा चुभना क्रिया है, प्रतिक्रिया है तत्काल काटा निकालना। कांटा चुभा, सवेदी तत्त्वों के द्वारा सूचना पहुंची मस्तिष्क तक। तत्त्वों को निर्देश मिला, मासपेशियां सक्रिया हुई और हाथ काटा निकालने के लिए वहां पहुंच गया। यह है क्रिया और प्रतिक्रिया का सिद्धांत। क्रिया होगी वहां प्रतिक्रिया निश्चित होगी। हम प्रतिक्रिया से बच भी नहीं सकते। किन्तु वे प्रतिक्रियाएं जो हमारे हितो का संरक्षण नहीं करतीं, अहित की ओर ले जाती हैं, हमारे लक्ष्य की पूर्ति में विघ्न और बाधा उपस्थित करती हैं, हमारी आदतो को विकृत बनाती हैं, उनसे बचना हमारे लिए बहुत जरूरी है। यदि प्रतिक्रिया को स्वाभाविक मानकर बैठ जाएं तो बडी कठिनाई पैदा हो जाएगी। लोग मान बैठे हैं, बहुत सारे लोग यही तो मानते हैं कि गाली दे तो गुस्सा आना स्वाभाविक बात है। गुस्सा आए वह स्वाभाविक है, न आए तो अच्छा आदमी नहीं समझा जाता। यही समझा जाता है कि यह तो दब्बू है, भीरू है, डरपोक है, कमजोर है। अन्यथा ऐसा प्रसग आए और चुप रह जाए ? कैसा आदमी हुआ ? उसे अच्छा नहीं समझा जाता। तो हर प्रतिक्रिया को स्वाभाविक मान बैठे। यह भी खतरनाक बात है। हमें विवेक करना होगा कि जो प्रतिक्रियाएं जीवनयात्रा में स्वाभाविक हैं उनके लिए हमें चिन्तन करने की आवश्यकता नहीं, बदलने की आवश्यकता नहीं, किन्तु वे प्रतिक्रियाएं जो स्वाभाविक नहीं हैं, केवल मान्यतावश, धारणावश या मूर्च्छावश फलित हो रही हैं, उनसे बचना हमारे लिए आवश्यक है। कैसे बचे ? बडा टेढा प्रश्न है। क्योकि वे आदते बन गई हैं और मस्तिष्क में ऐसी सरचना हो गई है कि अमुक स्थिति होने पर, अमुक स्थिति अनायास हो जाती है। न चाहने पर भी हो जाती है।

मैंने एक प्रश्न उपस्थित किया था कि प्रकाश के लिए उतना प्रयत्न होता है, अधकार के लिए कोई प्रयत्न नहीं होता, पर प्रकाश तो चला जाता है और अंधकार स्वाभाविक जैसा बन जाता है। क्षमा के लिए इतना प्रयत्न होता है किन्तु समय आने पर क्षमा की बात विस्मृत हो जाती है और क्रोध सहज ही उभर आता है। यह स्थितियां स्वत उभरती हैं। इनसे कैसे बचा जाए ? इनसे बचने के लिए पुष्ट आलम्बन की आवश्यकता है। जैन–आचार्यो ने एक शब्द का चुनाव किया–पुष्ट आलम्बन। आलम्बन और पुष्ट आलम्बन–ये

दो होते हैं यानी सामान्यत कोई काम नहीं करना है मुनि को, किंतु पुष्ट आलम्बन हो तो वह काम किया भी जा सकता है। सहारा चाहिए। सहारा भी मामूली नहीं, गली (बहाना) निकालने वाला नहीं। आलम्बन भी पुष्ट चाहिए। यह गली (बहाना) निकालने की बात तो बहुत कमजोरी की बात होती है।

तेरापथ की घटना है। आचार्य ऋषिराय ने जयाचार्य को आदेश दिया कि बीदासर से बीकानेर चले जाओ। भयंकर मौसम, भयंकर गर्मी और रेतीला रास्ता। भयकर टीले। सडके नहीं थीं। सत्तर माइल जाना। आषाढ का महीना। कडी गर्मी। रास्ते में पानी का नाम नहीं। धूप की समस्या। और उन टीलो मे से चलना। पूरा रेगिस्तान। आदेश हो गया। ऋषिराय बैठे थे मेवाड मे और आदेश हो गया जयाचार्य को, बीदासर से बीकानेर चले जाओ। साधुओ ने सोचा बडी समस्या है। श्रावको ने सोचा बहुत कडी बात है। न जाने क्या हो जाए ? सचमुच बात भी ऐसी थी। ऐसी बात थी कि प्राणात तक की स्थिति हो जाए। ऐसी स्थिति भी रास्ते मे आ गई, विहार करने के बाद। जयाचार्य ने स्वय लिखा है, पहले ही दिन प्राणात हो जाए, ऐसी स्थिति का सामना करना पडा। लोगो ने मिलकर कहा, 'महाराज ! अपना अनुशासन है, आचार्य के आदेश को अस्वीकार तो नहीं किया जा सकता किन्तु आप कोई गली निकाल ले जिससे आदेश का पालन भी हो जाए और विहार भी न करना पडे।' गली (बहाना) निकाल ले—जयाचार्य ने सुना। तत्काल बोले—'गली (बहाना) निकाले कोई गंवार। क्या मैं नौकर हूं ? गली या तो कोई नौकर निकाले या गंवार निकाले। मैं तो आदेश का पालन करूगा।'

गली निकालने वाली बात, मूर्खता की बात होती है। समझदार आदमी कभी गली नहीं निकालता। वह अपने लक्ष्य के साथ चलता है और लक्ष्य की पूर्ति के लिए चलता है। आलम्बन गली निकालने के लिए नहीं होना चाहिए। इसलिए एक शब्द का विशेषण जोडा की आलम्बन पुष्ट होना चाहिए। कमजोर आलम्बन नहीं। इतना पुष्ट आलम्बन कि सचमुच ऐसी स्थिति थी, परिस्थितिवश यह काम अनिवार्य हो गया इसलिए यह करना पडा। आलम्बन पुष्ट होना चाहिए। कमजोर आलम्बन से इन वृत्तियो को बदला नहीं जा सकता। पुष्ट आलम्बन हो तो प्रतिक्रियाओ से बचा जा सकता है और उनके प्रवाह को मोडा जा सकता है।

पुष्ट आलम्बन अभ्यास के द्वारा बनता है। आलम्बन दोनो हो सकते हैं। एक सिद्धान्त भी आलम्बन बन सकता है। एक प्रयोग भी आलम्बन बन सकता है। दोनो प्रकार के आलम्बन हमारे सामने उपयोगी बनते हैं।

प्राचीन आचार्यों ने मुनि चर्या के प्रसंग मे कुछ आलम्बनो की सूचनाएं दी है। उन्होने कहा—अमुक स्थिति आ जाए तो अमुक आलम्बन का सहारा लो।

एक स्थिति आई। आहार नहीं मिल रहा है, उपयुक्त आहार नहीं मिल रहा है। भूख को कैसे सहा जाए। इसका आलम्बन सूत्र है—'धम्मोत्ति किच्चा' भूख को सहना मेरा धर्म है। सामने यह आलम्बन रखे, 'यह मेरा धर्म है।' अभक्ष्य नहीं खाना मेरा धर्म है। अभक्ष्य मिले और उपयुक्त एषणीय आहार न मिले तो भूखे रहना मेरा धर्म है। इस धर्म के आलम्बन के सहारे उस कठिनाई को पार किया जा सकता है। यह एक बहुत बडा आलम्बन बनता है।

किसी ने कठोर बात कही, कडवे शब्द कहे, रूखे कहे, गालिया दीं। स्वाभाविक है क्रोध आना, स्वाभाविक है उत्तेजना और आवेश मे आ जाना, किंतु जब पुष्ट आलम्बन होता है तो आदमी बच सकता है। एक बहुत महत्त्वपूर्ण आलम्बन था कि कोई कुछ कहे, सीख दे, कडी बात कहे, कठोर बचन कहे, उस समय तत्त्व की गवेषणा करे, खोज करे—

'आक्रुष्टेन मतिमता, तत्त्वान्वेषणे मतिः कार्या।
यदि सत्यं कः कोपः यद्यसत्यं किन्नु कोपेन ?।।'

'यदि सचमुच मैंने ऐसा किया है और यह जो कह रहा है क्या इसमे कोई सचाई है ? यदि सचाई है तो फिर क्रोध क्यो करना चाहिए? यह सोचना चाहिए, यह सही कह रहा है। मैंने यह प्रमाद किया। मुझसे यह गलती हुई है, भूल हुई है, यह बेचारा बिलकुल ठीक कह रहा है। मुझे सचाई को स्वीकार करना है, ऋजुभाव से स्वीकार करना है। उसे कहना है कि तुम जो कह रहे हो वह बिलकुल ठीक है। मुझसे ऐसा हो गया। यदि वह बात सत्य नहीं है, केवल भ्रमवश, संदेहवश या कल्पनावश ऐसी बात कह रहा है तो फिर यह सोचो कि वह जो कह रहा है वह मुझ पर लागू ही नहीं होती तो फिर मै क्यो क्रोध करू ? यह बात मुझ पर आ ही नहीं रही है, किसी पडोसी पर जाती है तो मैं लडाई को अपने सिर पर क्यो मोल लू ?' बहुत सारी बाते होती है, बहुत बक्वास होती है, बहुत गालिया चलती हैं, एक यह भी है, हो रही है, मुझ पर कोई असर नहीं, मेरा इससे कोई सबध नहीं है, फिर मुझे क्यो आवेश मे आना चाहिए। यह बहुत पुष्ट आलम्बन दिया है—दोनो ओर से कि जो सच है तो क्रोध करना व्यर्थ है, क्रोध मत करो। यदि झूठी बात है तो तुम पर लागू ही नही होती तो तुम सोचो मुझे कह ही नहीं रहा है, किसी पडोसी से कह रहा है। मेरे लिए कुछ है ही नहीं। मेरा इससे कोई सम्बन्ध है ही नही। तुम

अपने आपको बचा लो। यह एक बहुत पुष्ट आलम्बन है और इस आलम्बन का प्रयोग किया जाए, अभ्यास किया जाए तो ऐसे प्रसंग मे जो एक उत्तेजना का और आवेश का प्रसंग है, आदमी अपने आपको बहुत संतुलित रख सकता है। अपने संतुलन को खोने का उसके सामने कोई प्रसंग नहीं आता।

दूसरा प्रसंग है कोई आदमी किसी की निन्दा करता है तो यह स्वाभाविक है कि मन नाराज हो। प्रशसा होती है तो मन राजी होता है, निन्दा होती है तो मन नाराज होता है। यह एक प्रतिक्रिया है। राजी होना भी प्रतिक्रिया है और नाराज होना भी प्रतिक्रिया है और यह मनुष्य का स्वभाव जैसा बन गया है। ऐसा स्वभाव बन गया है कि कहीं भी प्रशंसा की बात आती है, मन उत्फुल्ल हो जाता है। थोडी-सी निंदा की बात आती है, मन बिलकुल मुरझा जाता है। ऐसा मुरझाता है जैसे कभी यह फूल खिला ही न हो। यह तो स्वाभाविक बात हो गई। अब इस स्थिति से कैसे बचा जा सकता है ? इस प्रतिक्रिया से बचने का एक सुन्दर आलम्बन है–

'नन्नस्य वयणा चोरा, नन्नस्य वयणा मुणी।
अप्पा अप्पं वियाणाति।'

किसी के कहने पर कोई चोर नहीं बनता और किसी के कहने से कोई साधु नहीं बनता। आत्मा अपने आपको जानती है कि मैं चोर हूं या साहूकार हूं। यह एक पुष्ट आलम्बन है। यदि यह आलम्बन हृदयंगम हो जाए कि दूसरे के कहने से कोई चोर नहीं होता और दूसरे के कहने से कोई साहूकार नहीं होता, दूसरे के कहने से कोई अच्छा नहीं होता और दूसरे के कहने से कोई बुरा नहीं होता, तो प्रतिक्रिया से मुक्त हुआ जा सकता है।

अपना आत्मविश्वास प्रबल हो, अपने प्रति अपना विश्वास, अपनी क्षमता के प्रति अपना विश्वास, अपने पुरुषार्थ और कर्तृत्व के प्रति अपना विश्वास हो तो दूसरे के कहने से कुछ भी नहीं होता। दूसरे लोग शायद नए आदमी को उठने देना ही नहीं चाहते होगे। वर्तमान पीढी हमेशा दूसरी पीढी को आगे आने मे बाधा डालती है। फिर चाहे वह पिता हो, चाहे माता। यह एक स्वभाव है। आज की पीढी आने वाली पीढी को कभी अच्छा स्वीकार नहीं करती। यही कहेगे कि आज सब खराब है। यह आज की बात नहीं है, यह शाश्वत सत्य है, एक चिरतन बात है। हमेशा पहली पीढ़ी ने अगली पीढी को कमजोर बतलाया है।

पुरानी और नई पीढी का संघर्ष बहुत पुराना है। पुराने व्यक्ति और पुरानी कृति को मान्यता प्राप्त होती है। नए व्यक्ति और नई कृति को मान्यता प्राप्त करनी होती है। मनुष्य स्वभाव से इतना उदार नहीं है कि वह सहज

ही किसी को मान्यता दे दे। नई पीढी में मान्यता प्राप्त करने की छटपटाहट होती है और पुरानी पीढी को अपना अहं होता है, अपना मान-दण्ड होता है, इसलिए वह नई पीढी को नए मानदण्डों के आधार पर मान्यता देने मे सकुंचाती है। यह संघर्ष साहित्य, आयुर्वेद और धर्म—सभी क्षेत्रों मे रहा है। 'पुराना होने मात्र से सब कुछ अच्छा नहीं होता'—महाकवि कालिदास का यह स्वर दो पीढियों के संघर्ष से उत्पन्न स्वर है। उनके काव्य और नाटक के प्रति पुराने विद्वानों ने उपेक्षापूर्ण व्यवहार किया, तब उन्हें यह कहने के लिए बाध्य होना पडा—'पुराना होने मात्र से कोई काव्य प्रकृष्ट नहीं होता, और नया होने मात्र से कोई काव्य निकृष्ट नहीं होता। साधुचेता पुरुष परीक्षा के बाद ही किसी काव्य को प्रकृष्ट या निकृष्ट बतलाते हैं और जो मूढ होता है, वह बिना सोचे-समझे पुराणता का गीत गाता रहता है।'

आचार्य वाग्भट्ट ने अष्टांगहृदय का निर्माण किया। आयुर्वेद के धुरंधर आचार्यों ने उसे मान्य नहीं किया। वाग्भट्ट को भी पुरानी पीढी के तिरस्कार का पात्र बनना पडा। उसी मन:स्थिति मे उन्होने यह लिखा—'वायु की शांति के लिए तेल, पित्त की शाति के लिए घी और श्लेष्म की शांति के लिए मधु पथ्य है। यह बात चाहे ब्रह्मा कहे या ब्रह्मा के पुत्र, इसमे वक्ता का क्या अन्तर आयेगा ? वक्ता के कारण द्रव्य की शक्ति मे कोई अन्तर नहीं आता, इसलिए आप मात्सर्य को छोडकर मध्यस्थ दृष्टि का आलम्बन ले।

प्राचीनता और नवीनता के प्रश्न पर महाकवि कालिदास और वाग्भट्ट का चिंतन बहुत महत्त्वपूर्ण है। किन्तु इस विषय मे आचार्य सिद्धसेन की लेखनी ने जो चमत्कार दिखाया है, वह प्राचीन भारतीय साहित्य मे दुर्लभ है। उनका चिन्तन है कि कोई व्यक्ति नया नहीं है और कोई पुराना नहीं है। जिसे नया पुराना मानते हैं, एक दिन वह भी नया था और जिसे हम नया मानते हैं, वह भी एक दिन पुराना हो जाएगा। आज जो जीवित है, वह मरने के बाद नई पीढी के लिए पुरानो की सूची मे आ जाता है। पुराणता अवस्थित नहीं है, इसलिए पुरातन व्यक्ति की कही हुई बात पर भी बिना परीक्षा किए कौन विश्वास करेगा ?

प्रत्येक परम्परा में, चाहे वह आयुर्वेद की परम्परा हो, चाहे सस्कृत काव्य की, दर्शन की या धर्म की परम्परा हो, पुरानी पीढी नई पीढी को सदा कमजोर मानती रही है। यह हमारी मनोवृत्ति है। ऐसा होता है। उस स्थिति में, यदि दूसरो के मानने के आधार पर और दूसरो के कहने के आधार पर हम चले, तो हमारे मन मे या तो हीनता का विकास होगा, हीन भावना की ग्रन्थी बनेगी या हमारी कर्तृत्व की शक्ति क्षीण हो जाएगी। अत. यह निर्णय

करना होगा—अप्पा अप्पं विजाणति—अपने आपका भरोसा करना। अपने आपका निर्णय करना कि मुझे क्या करना है और मेरा क्या कर्त्तव्य है। इस निर्णय के आधार पर यह सारी स्थिति बन सकती है। यह एक पुष्ट आलंबन है, किसी के कहने पर मत चलो। कोई बहुत अच्छा कह दे तो अपने आपको बडा मत मानो। कोई निंदा करे, उससे अपने आपको हीन मत मानो। बडा धोखा होता है, बडी विडम्बना होती है। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो छोटे से आदमी की इतनी प्रशसा कर देते हैं कि उस प्रशंसा के आधार पर चले तो वह ऐसा लडखडाएगा कि गड्ढे मे गिरेगा और कभी उठ ही नहीं सकेगा। कुछ था तो नहीं, प्रशसा बहुत कर दी। ऐसे ललचाने वाले, प्रलोभन देने वाले बहुत लोग होते हैं, बहुत झूठी बात कह देते हैं। अब तो उसमे अपना तो कुछ है नहीं। प्रशसा के सहारे फूल गया। कोई बडा काम करने चला जाए तो धोखा खाकर ही आना पडता है। और कभी-कभी ऐसा भी होता है कि बहुत शक्तिशाली आदमी होता है किन्तु हीनता की बात बार-बार सामने आती है तो उसकी शक्ति क्षीण होने लग जाती है। इसका कारण है कि वह उस बात मे आ जाता है। अपनी शक्ति का परीक्षण तो स्वय को होना चाहिए कि मैं यह काम कर सकता हूं या नहीं। अपनी शक्ति का भरोसा और पुरुषार्थ पर स्वय को विश्वास होना चाहिए।

परिस्थिति और प्रसग ऐसा होता है कि उत्तेजना आ जाती है। एक व्यक्ति क्रोध कर रहा है, आवेश मे आ रहा है, उस समय उत्तेजना आना स्वाभाविक है। एक आलबन दिया गया कि उस समय व्यक्ति यह सोचे—यह अज्ञानी है। अज्ञान के कारण क्रोध कर रहा है। जो बात शाति के साथ सुलझाई जा सकती है, जिस समस्या का समाधान शांत भाव से उपलब्ध किया जा सकता है उस स्थिति के लिए यह क्रोध कर रहा है। यह अज्ञानी है तो क्या मुझे भी अज्ञानी बनना चाहिए ? मैं भी अज्ञानी बनू ? अगर यह क्रोध कर रहा है तो क्या मै भी क्रोध के प्रति क्रोध करूगा ? यह बचकानापन कर रहा है तो मैं भी बचकानापन करूगा ? मैं यह बचकानापन न करूं, बाल न बनू, अज्ञानी न बनूं—यह पुष्ट आलम्बन है।

यह बहुत बड़ा आलंबन है जो विवेक को स्फुरणा देता है। वह यह विवेक देता है कि समस्या को उत्तेजना से नहीं सुलझाया जा सकता, समस्या का समाधान सतुलित भाव से उपलब्ध किया जा सकता है। यह हमारी प्रज्ञा का आलबन है। यह बात बुद्धि की बात नहीं है। मैंने जितनी अभी चर्चा की है, वह सारी चर्चा बुद्धि की चर्चा नहीं है। यानी आप बुद्धि के आधार पर चलेगे तब तो स्वाभाविक होगा क्रोध के प्रति क्रोध, गाली के प्रति गाली, निंदा

के प्रति निंदा। बुद्धि की भाषा मे कहा जा सकता है कि ऐसा करना चाहिए। यह मेरी भाषा नहीं बोल रहा है, बुद्धि की भाषा बोल रहा है कि ऐसा करना चाहिए। नहीं करेगा वह बुद्धिमान आदमी नहीं होगा, मूर्ख होगा। एक व्यक्ति तो ठग रहा है, दूसरा नहीं ठग रहा है, एक तो गाली दे रहा है, दूसरा शांत बैठा है, एक तो क्रोध मे आकर ऊपर हावी हो रहा है और दूसरा पीछे खिसक रहा है, तो वह बुद्धिमानी की बात नहीं है। बुद्धिमान आदमी वही होगा कि जो ईंट का जवाब पत्थर से दे। किन्तु मैं जो आपसे कह रहा हूं उसका यदि बुद्धि के स्तर पर लेगे और बुद्धि के स्तर पर समीक्षा करेगे तो आपको ऐसा लगेगा कि हमे कोई गलत बात बताई जा रही है, कमजोर बनाया जा रहा है और सामाजिक स्तर पर जीने की कठिनाई पैदा की जा रही है। मैं जो बात कह रहा हू वह है प्रज्ञा की बात। प्रज्ञा और बुद्धि का स्तर एक नहीं होता। प्रज्ञा अन्तर्दृष्टि है। उसका मानदण्ड भी भिन्न होता है। कसौटियां भी भिन्न होती हैं। उसे बौद्धिक मानदण्डो से कसा नहीं जा सकता, परखा नहीं जा सकता। उसकी तुला भी अलग होती है। उसे बुद्धि की तुला के एक पलडे मे नहीं रखा जा सकता।

प्रज्ञा हमारा अन्तर्दर्शन है। वह भीतर की ओर झाकता है, बाहर की ओर नहीं देखता। प्रज्ञा हमारे दर्शन-केन्द्र की साधना है। जैसे-जैसे दर्शन-केन्द्र जागता है, सक्रिय होता है, प्रज्ञा जागती है, अन्तर्दृष्टि जागती है, चितन, निर्णय, निष्कर्ष और धारणाए बदलती हैं, सारी दुनिया बदल जाती है।

दो सगे भाई साथ थे। अलग होने की नौबत आ गई। बटवारा किया। सभी चीजे बराबर-बराबर बाट दी गईं। दो अंगूठिया बच गई। एक थी हीरे की अगूठी और दूसरी थी चादी की अगूठी। बडा भेद था दोनो में। कहां हीरे की अगूठी और कहा चांदी की अगूठी ! बडा अंतर था। अब कैसे किया जाए ? अंगूलियो को तोडा तो नहीं जा सकता। छोटे भाई ने कहा, यह हीरे की अंगूठी मै रखूंगा। बडे भाई ने कहा, मै रखूंगा। काफी विवाद चला। आखिर बडे भाई ने सोचा यह अगूठी चादी की तो है पर है महत्त्वपूर्ण। छोटा भाई हठ कर रहा है हीरे की अंगूठी के लिए तो उसे वह दे देनी चाहिए। बडा भाई बोला—लो, इसे तुम ले लो। यह चादी की मेरे पास रहने दो। हीरे की अंगूठी कीमती थी, पर चांदी की उससे भी कीमती थी। वह प्रज्ञा की अंगूठी थी। उसमें लिखा हुआ था 'ये भी बीत जाएगे।' अंगूठी ले ली। पाती हो गई। छोटा भाई प्रमाद में फस गया। वह धन का पूरा उपभोग करने लगा। पूरे वैभव का प्रदर्शन करने लगा। वैभव हो और प्रदर्शन न हो यह तो असभव होता है। ऐसा भद्दा प्रदर्शन भी कभी-कभी होता है कि दूसरे मे प्रतिक्रिया जगा देता है, हिंसा उभार

देता है। पर प्रदर्शन किए बिना रहा नहीं जाता। दिखाना ही पडता है। इतना हो गया चाहे मकान बनाकर दिखाए, चाहे आभूषण पहन कर दिखाए, चाहे दहेज देकर दिखाए पर प्रदर्शन तो करना ही पडेगा, जिससे दूसरे को भान हो सके कि इसके पास इतना वैभव है। यह वैभव की प्रकृति है। वह छोटा भाई वैभव का प्रदर्शन करने लगा।

बडे भाई में स्थिति आई, धन सारा चला गया। अंगूठी अंगुली मे पहनी हुई थी। बडी समस्या आ गई, कष्ट का समय आ गया पर रोज वह अपनी अंगूठी का प्रयोग कर लेता। सुबह ही उस पर लिखा हुआ पढ लेता कि 'ये भी बीत जाएगे'—ये दिन भी शाश्वत नहीं हैं, बदलने वाले हैं। आज जो समस्या है यह भी सदा रहने वाली नहीं है, यह भी चली जाएगी। एक आलम्बन था प्रज्ञा का, एक सहारा था। उस आलम्बन से उसने कठिनाई के दिन बिता दिए। उसका मनोबल डिगा नहीं, आत्म-विश्वास बना रहा। कष्ट के दिन बीत गए, स्थिति आई, फिर से वह शक्तिशाली बन गया। संपन्न बन गया, सारी समस्याए सुलझ गईं।

छोटा भाई प्रदर्शन करता चला, करता चला, आखिर धन का कोई स्रोत तो था नहीं, समाप्त हो गया। वह गरीब हो गया। बडी समस्या पैदा हो गई। आलम्बन कोई था नहीं। वह गरीबी मे इतना उलझा कि फिर कभी उठ ही नहीं पाया। कभी नहीं उठ पाया।

गरीबी दोनो मे आई, एक गरीबी से उठ गया, इसलिए उठा कि उसका मनोबल क्षीण नहीं हुआ। दूसरा गरीबी मे उलझ गया, इसलिए उलझ गया कि उसके पास मनोबल को बनाए रखने का कोई साधन नहीं था।

आदमी उठता है, गिरता है, गिरता है और उठता है। उठने, गिरने मे कोई बडी बात नहीं है। यह तो एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। उदय होना और अस्त होना, कोई बडी बात नहीं है। किन्तु उठने और गिरने मे बडी बात वह होती है कि जिसका मनोबल टूट जाता है वह गिर कर उठ नहीं पाता। और उठता है तो फिर गिर जाता है। जिसका मनोबल बराबर बना रहता है वह गिर जाए तो भी कोई बात नहीं और उठा हुआ होता है तो भी कोई समस्या की बात नहीं। मूल बात है मनोबल की सुरक्षा। यह मनोबल रह सकता है—प्रज्ञा के पुष्ठ आलंबन के द्वारा। प्रज्ञा का आलंबन पुष्ट होता है तो मनोबल कभी क्षीण नहीं होता, साहस कभी क्षीण नहीं होता। जिसके साथ प्रज्ञा की अंगूठी थी वह समस्या से उबर गया और जिसके पास हीरे की थी वह समस्या में उलझ गया। हमारे लिए हीरा बहुत कीमती नहीं होता। मनोबल हीरे से भी ज्यादा कीमती होता है। मनोबल के सहारे असंख्य हीरे उपलब्ध

हो सकते हैं, किन्तु हीरे के सहारे कभी मनोबल उपलब्ध नहीं हो सकता। कभी धन के आधार पर किसी ने मनोबल पाया हो ऐसा लगा नहीं।

एक कहानी है बहुत महत्त्वपूर्ण। एक सेनापति बडा उदास बैठा था। बहुत उदास, चिंतातुर। पत्नी आई, पूछा, आज आप इतने उदास क्यों हैं ? यह स्थिति क्यो ? वह बोला–'क्या करूं। बहुत बुरा समाचार है। मेरी सेना हारती जा रही है।' उसने कहा, मुझे भी एक बुरा समाचार मिला है, इससे भी ज्यादा बुरा। वह देखता रह गया। ऐसा क्या बुरा समाचार मिला है। बडी जिज्ञासा के साथ पूछा कि तुम्हे क्या बुरा समाचार मिला है ? उसने कहा, क्या बताऊं, आपके समाचार से भी हजार गुना बुरा समाचार है कि मेरे पति का साहस टूट गया। यह उससे भी बुरा समाचार है।

तत्काल वह खडा हो गया। एक शब्द ने करारी चोट की। निराश बैठा था, उदास बैठा था, खडा हुआ, युद्ध में गया और इतनी वीरता के साथ लडा कि हारती-हारती सेना फिर जीतने लगी।

सबसे बुरी बात होती है मनोबल का टूट जाना, मनोबल का क्षीण हो जाना, इसके क्षीण होने पर सारी बुराइयां आ जाती हैं। और यदि मनोबल होता है तो बुरे दिन भी अच्छे दिन की भांति बीत जाते हैं।

प्रज्ञा का सबसे बडा काम है–मनोबल का विकास करना। यह ध्यान की प्रक्रिया केवल आंख मूदकर बैठने की प्रक्रिया नहीं है। यह आराम करने की प्रक्रिया नहीं है। यह शक्ति के विकास की प्रक्रिया है। बल के सवर्धन की प्रक्रिया है। जिस ध्यान के प्रयोग से मनोबल नहीं बढता, शरीर का बल नहीं बढता तो समझ लेना चाहिए ध्यान के नाम पर कुछ और ही किया जा रहा है। जिस भोजन से शक्ति नहीं बढी तो समझना चाहिए कि भोजन नहीं कुछ और ही खाया जा रहा है। टोनिक का सेवन करते हैं, शक्तिशाली दवा का प्रयोग करते हैं पर शक्ति नहीं बढ रही है तो समझ लेना चाहिए कि टोनिक के नाम पर कुछ और ही लिया जा रहा है। ध्यान का सबसे बडा उपयोग होता है–शक्ति का संवर्धन। तीन बाते बढनी चाहिए–चेतना का विकास, आनद का विकास और शक्ति का विकास। ये तीन विकास हो रहे हैं तो समझना चाहिए कि ध्यान चल रहा है। और ये तीनो बाते नहीं हो रही हैं तो समझना चाहिए ध्यान के नाम पर नींद का प्रयोग चल रहा है। कुछ और ही चल रहा है।

अहिंसा की चर्चा हो रही है, प्रतिक्रिया-विरति की चर्चा हो रही है। क्या कमजोर आदमी प्रतिक्रिया-विरति का पाठ पढ सकेगा ? क्या कमजोर आदमी प्रतिक्रिया विरति से बच सकेगा ? जो जितना कमजोर होता है उतना ही जल्दी

प्रतिक्रिया दिखला देता है। कमजोर आदमी प्रतिक्रिया-विरति का अभ्यास नहीं कर सकता। प्रतिक्रिया से मुक्त होना बहुत बडी साधना है।

प्रतिक्रिया के संस्कार पीढियो से चले आ रहे हैं। वे रक्तगत हो गए है। उस रक्त-परम्परा को वदल देना कोई छोटी बात नहीं, बहुत वडी बात है। आप जो प्रतिक्रिया कर रहे हैं, उसमे आपका ही दोष नहीं है, वह तो रक्तगत दोष है जो आपको मिला है, अपने पिता से, अपनी माता से। वह वशगत संस्कार है।

एक बहुत तेज तर्रार बच्चा था। उसकी मां ने मुझे कहा—बच्चा वडा शैतान है। गुस्सैल है। मैंने पूछ लिया, गुस्सा तो तुम्हें भी आता होगा ? वह बोली, हां, मुझे भी आता है। मैने कहा—तुझे आता है तो तेरे बच्चे को क्यो नहीं आएगा ? तूने सिखाया है। सिखाया ही नहीं, तूने रक्त दिया है। यह तो रक्तगत सस्कार है। या तो मां की खराबी है या पिता की खराबी है, जिन्होंने अपने सस्कार दिए हैं। सस्कार ही नहीं, अपने अवयव दिए हैं। डॉक्टर भी पूछता है, क्या यह बीमारी आपके परिवार मे किसी को है ? यह वंशानुक्रम की बात हर क्षेत्र मे पूछी जाती है। हम लोग भी किसी को दीक्षित करते हैं तो यह देखते हैं कि इसके पीछे वश-परम्परा कैसी है। अपने वंश से क्या-क्या विशेषताएं या खामिया लाये हैं। वंशानुक्रम विवाह करने वाला भी देखता है। प्रतिक्रिया करना केवल आपका ही दोष नहीं है, यह अनुदान है माता-पिता का। इस बात को बदल देना, रक्तगत संस्कार को बदल देना, इतनी जटिल आदत को बदल देना, सरल वात नहीं है। यह तभी बदला जा सकता है जब कोई सामने पुष्ट आलम्बन हो। ऐसा मजबूत सहारा मिल जाए तो आदमी बदल सकता है। यदि सहारा न मिले तो उसके बिना कभी बहुत बडे भवन को खडा नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार प्रतिक्रिया से बचने के लिए बडे आलम्बनो की जरूरत है। मैंने कुछ आलम्बनो की चर्चा की है। सैद्धातिक आलम्बनो की चर्चा की है, शाब्दिक आलम्बनो की चर्चा की है, प्रायोगिक आलम्बनो की चर्चा करने की आवश्यकता नहीं लगती। आप स्वयं कर रहे हैं। सामने क्रोध का प्रसंग आया, दीर्घश्वास का प्रयोग शुरू कर दिया। आपको ज्यादा दिमाग पर तनाव देने की आवश्यकता नहीं होती। आज अपना श्वास देखना शुरू कर दीजिए, अपने आप स्थिति टल जाएगी। वह तो क्रोध कर रहा है, आपने अपने नथुनो के भीतर चित्त केन्द्रित किया, आते-जाते श्वास को देखना शुरू किया—श्वास भीतर आ रहा है, जा रहा है, तो क्रोध तो निकम्मा ही चला गया उसका। उसका क्रोध सार्थक तब होता जब आप मे क्रोध जाग जाता। एक आदमी क्रोध करे और दूसरे को क्रोध न जागे तो उसे विफलता

का इतना अहसास होता है और सोचता है कि मेरा तो सारा प्रयत्न फालतू चला गया। बहुत सारे लोग दूसरे आदमी को उत्तेजना मे लाना चाहते हैं, और सामने वाला उत्तेजना मे नहीं आता है तो मन मे इतनी खीज आती है, सोचते हैं, क्या आदमी है, कोरा मिट्टी का लोदा है। दीर्घश्वास का प्रयोग, चैतन्य-केन्द्र प्रेक्षा का प्रयोग एक पुष्ट आलम्बन है। सामने क्रोध का प्रसंग आया, दर्शनकेन्द्र पर ध्यान किया या विशुद्धिकेन्द्र पर ध्यान केन्द्रित कर दिया तो क्रोध करना चाहेगे तो भी नहीं कर पाएगे। क्रोध का प्रसग आया—श्वास का संयम कर लिया। एक मिनट के लिए, आधा मिनट के लिएं श्वास को बद कर लिया तो क्रोध क्या होता है, आपको पता ही नहीं चलेगा। ये सारे प्रयोग के आलम्बन हैं हमारे सामने। हम सैद्धातिक और प्रयोगिक—दोनो आलम्बनो के सहारे इन प्रतिक्रियाओ से बच सकते है और अपने संतुलन को कायम रख सकते है।

कैसे सोचे, चिन्तन कैसे करे, इस विषय पर अहिंसात्मक दृष्टि से चर्चा की। यह मानसिक अहिंसा का विश्लेषण हमारे जीवन के लिए बहुत उपयोगी है। हमने हिंसा और अहिंसा को इतना सीमित दायरा दे दिया कि जीव को मारना हिसा और न मारना अहिंसा। बस, हिंसा भी समाप्त। इतनी छोटी धारणा बन गई, इतनी संकुचित सीमा बन गई कि विकास के लिए कोई अवकाश ही नहीं रहा।

सामाजिक जीवन मे, सामुदायिक जीवन मे जितना अहिंसा का विकास होता है, समाज उतना ही उन्नत और विकासशील होता है और आज तक समाज ने जितनी प्रगति की है इसी के आधार पर की है।

यदि आज एक-एक पहलू पर विचार करना शुरू करे तो पता चलेगा कि आज अहिंसा का विकास नहीं होता तो दो आदमियो का साथ रहना कभी नहीं हो सकता। एक आदमी दूसरे आदमी को खाने दौडता तो न समाज बनता, न परिवार बनता। अहिंसा ने इतना विश्वास दिलाया कि कोई किसी को नहीं खाएगा, सब साथ में रह सकेगे। तो समाज के निर्माण से लेकर आज की प्रगति तक हिंसा कम रही है और अहिंसा ज्यादा रही है। इसलिए अहिंसा इतनी विकसित हुई है। यह सारी बात मानसिक अहिंसा के स्तर पर ही समझी जा सकती है। ध्यान करने वाले व्यक्ति को इस सारी चर्चा में जाना बहुत आवश्यक है। इस चर्चा मे गए बिना वह ध्यान का मूल्यांकन ही नहीं कर पाएगा। ध्यान के द्वारा हमारी मैत्री की भावना विकसित होती है, ध्यान के द्वारा हमारी प्रतिक्रिया-विरति की भावना विकसित होती है।

प्रेक्षा-ध्यान की उपसपदा के पाच सूत्र हैं—भावक्रिया, प्रतिक्रिया-विरति,

मिताहार, मौन या मित भाषण करेंगे। ये पांचो प्रयोग अहिंसा के प्रयोग हैं। अहिंसा के प्रयोग किए बिना कोई मितभाषी, मिताहार या संयम करने वाला नहीं हो सकता। जिसके जीवन में अहिंसा का प्रयोग नहीं होता वह मैत्री का प्रयोग नहीं कर सकता। अहिंसा का विकास हुए बिना प्रतिक्रिया से विरति नहीं हो सकती और जिसके जीवन मे अहिंसा का विकास नहीं है वह वर्तमान मे नहीं रह सकता। वह प्रिय और अप्रिय संवेदन से मुक्त क्षण में नहीं जी सकता। यह ध्यान की सारी की सारी साधना अहिंसा की साधना है। इसलिए ध्यान के संदर्भ मे अपने आचार और व्यवहार की समीक्षा करना और अपना आत्मालोचन करना, बहुत महत्त्वपूर्ण बात है।

हृदय परिवर्तन : प्रक्रिया और आधार

परिस्थितिवाद और हृदय-परिवर्तन

हम ज्ञात और अज्ञात—इन दोनों के मध्य मे जीते हैं। एक है ज्ञात मन और दूसरा है अज्ञात मन। हम कुछ जानते हैं और बहुत नहीं जानते।

एक कहानी है। एक राजा था। बीमार हो गया। वैद्य बुलाए, चिकित्सा कराई। ठीक नहीं हुआ। एक वैद्य आया। उसने निदान किया। निदान सही हुआ। दवा दी। राजा स्वस्थ हो गया। एक पथ्य था—आम नहीं खाना है। वैद्य ने कहा—'राजन् ! वर्तमान मे ही नहीं, भविष्य मे भी कभी आपको आम नहीं खाना है। जिस दिन आम खा लिया, बीमारी फिर प्रकट हो जायेगी। यदि स्वस्थ रहना है, बीमारी से बचना है तो आम से भी बचना होगा।' निर्देश देकर वैद्य चला गया। राजा बहुत स्वस्थ था। एक दिन अपने मत्रियो, सहयोगियो और कर्मचारियो के साथ राजा उद्यान-यात्रा के लिए निकला। उद्यान मे गया। आम का मौसम था। सारे वृक्ष आम से लदे हुए थे। वे पके हुए आम। अच्छा रंग और बहुत मीठी-मीठी सुगन्ध ! राजा का मन ललचाया। एक मन बोला—आमो के नीचे जाऊं। दूसरा मन बोला—नहीं, नहीं जाना चाहिए। एक ओर से आकर्षण आ रहा है तो दूसरी ओर से कुछ निरोध आ रहा है। राजा हट कर चला। थोडी देर में फिर मन ललचाया, सोचा कि आमो के नीचे जाऊ, आम की छाया मे जाकर बैठू। मन हुआ। दूसरा मन बोला—नहीं जाना चाहिए।

केवल राजा का मन ही ऐसा नहीं हुआ, हर आदमी का मन ऐसा होता है। कौन व्यक्ति है जिसके मन मे ये दो प्रकार की धाराएं न आती हों ? एक मन कहता है—'खाऊ।' दूसरा मन कहता है—'नहीं खाऊ।' खाना है, नहीं खाना है। एक मन कहता है—'मुझे बहुत अच्छा रहना है, किसी से लडाई-झगडा नहीं करना है। शाति का जीवन बिताना है।' दूसरा मन कहता है—'सामने वाला लडता है तो मुझे क्यो नहीं लडना चाहिए ? सामने वाला गाली देता है तो मुझे गाली क्यो नहीं देनी चाहिए ? यह कहां का तर्क और न्याय कि सामने वाला व्यक्ति तो जो चाहे करता चला जाये और मै मौन रहू ? क्या मैं मोम का बना हुआ हूं ? क्या मैं मिट्टी का बना हुआ हूं ? मिट्टी का तो नहीं हूं, मोम का तो नहीं हूं। सामने वाला मेरे साथ छेडछाड न करे तो मैं भी कुछ नहीं करूंगा और वह करता है तो मैं क्यो नहीं करूं ?'

इस प्रकार के विरोधी विचार आदमी के मन मे पैदा होते रहते हैं। एक मन कहता है कि यह काम करूं और दूसरा मन कहता कि वह काम करूं। एक मन कहता है यह करूं, तो दूसरा मन कहता है यह न करूं। कितने मन हैं। शायद हर आदमी के मन में ऐसा प्रश्न उठता होगा और हर व्यक्ति यह सोचता होगा कि कितने मन हैं पता नहीं लगता। अनेक मन हैं आदमी के। अहिंसा के मार्ग मे चलने वाले व्यक्ति के मन मे कभी-कभी विचार आ जाता है हिंसा करने का और हिंसा न करने का। ब्रह्मचर्य के मार्ग पर चलने वाला अब्रह्मचर्य की बात सोच लेता है और अब्रह्मचर्य पर चलने वाला ब्रह्मचर्य की बात सोच लेता है। कितने विरोधी भाव हमारे मन मे पैदा होते रहते हैं ? सहज ही प्रश्न होता है, आदमी के मन कितने हैं ?

भगवान् महावीर ने कहा—'**अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे**'—यह पुरुष अनेक चित्तो वाला है। मन तो एक ही है। मन बेचारा क्या अनेक होगा ? वह तो हमारा वाहन है, यंत्र है, काम करने का एक साधन है। वह अनेक कैसे होगा ? हमारे चित्त अनेक होते हैं। हमारे चित्त की वृत्तियां अनेक होती हैं। चित्त में नाना प्रकार की वृत्तियां जागती हैं, नाना प्रकार के चित्त जागते हैं और मन अनेक बन जाते हैं। मन अपने आप में एक होता है। चित्त की वृत्तियों के कारण और चित्तों के कारण मन भी अनेक जैसा प्रतिभाषित होने लग जाता है। अनेक हैं हमारे चित्त। फ्रायड ने ठीक कहा था कि मनुष्य का मन एक हिमखड जैसा होता है। हिमखंड का बहुत सारा भाग समुद्र में छिपा होता है। केवल थोडा-सा ऊपर का सिरा दिखाई देता है। जितना दिखाई देता है हिमखंड, उतना ही नहीं है। बहुत बडा है। दिखने वाला छोटा और न देखने वाला बहुत बडा। ज्ञात छोटा और अज्ञात बडा।

जुग ने मन की तुलना एक महासागर से की है। मन एक महासागर है। उसमें ज्ञात मन केवल एक द्वीप जैसा है। अज्ञात मन महासागर जैसा और ज्ञात मन महासागर मे होने वाले द्वीप जैसा, एक छोटे टापू जैसा है। हम लोग अपने सारे व्यवहारो की, आचरणो की व्याख्या ज्ञात मन के माध्यम से करना चाहते हैं। यह कभी संभव नहीं होगा। केवल ज्ञात मन के द्वारा जो व्याख्या की जाएगी वह अधूरी होगी, मिथ्या होगी। जब ज्ञात और अज्ञात—दोनो मनों की समष्टि करेगे तो सम्पूर्ण व्याख्या होगी। अज्ञात मन के लिए फ्रायड ने '**डेफ्त साइकोलोजी**' की व्याख्या की। '**डेफ्त साइकोलोजी**' मे केवल ज्ञात मन की व्याख्या नहीं होती, अज्ञात मन की व्याख्या होती है। प्रत्येक व्यवहार के लिए अज्ञात मन की व्याख्या होती है कि मनुष्य का व्यवहार अज्ञात से हो रहा है, ज्ञात मन के द्वारा यह ऐसा व्यवहार नहीं हो रहा है। आज के

मनोविज्ञान ने जो अवचेतन मन की व्याख्या की, वह व्याख्या भारतीय दर्शनों के कर्मवाद के आधार पर की, सूक्ष्म चेतना और चित्त के आधार पर की। मनोविज्ञान मे मन और चित्त—दोनो मे भेद नहीं किया गया किन्तु जैन दर्शन मे बहुत स्पष्ट भेद किया गया है कि मन भिन्न है और चित्त भिन्न है। मन अचेतन है और चित्त चेतन है। मन ऊपर का हिस्सा है, जो चित्त का स्पर्श पाकर चेतना जैसा प्रतीत होता है। चित्त हमारी भीतर की सारी चेतना का प्रतिनिधित्व करता है। अज्ञात मन, अवचेतन मन को चित्त कहा जा सकता है और ज्ञात मन को मन कहा जा सकता है।

राजा के मन मे यह विरोध चल रहा था। एक मन कहता था कि आम की ओर जाऊं, दूसरा मन कहता था कि न जाऊ। यह एक बडा जटिल व्यवहार होता है, जहां दो विचार धाराए व्यक्ति के मन में पैदा होती हैं। ये बहुत सताती हैं। एक मन एक बात कहता है, दूसरा मन दूसरी बात कहता है और तीसरा मन तीसरी बात कहता है। इस व्यवहार की व्याख्या केवल ज्ञात मन के आधार पर नहीं की जा सकती। राजा के अन्त करण मे अविरति थी, आकाक्षा थी। आकांक्षा की प्रेरणा हो रही थी कि अच्छा देखूं, अच्छा सूघूं और अच्छा खाऊ। यह प्रेरणा बहुत गहरे से आ रही थी। जो ज्ञात मन था वह निर्णय दे रहा था कि वैद्य ने मना किया है, आम नहीं खाना है तो फिर मुझे क्यो आम के पास जाना चाहिए ? देर तक संघर्ष चला, आखिर अज्ञात मन विजयी हुआ।

राजा के पैर आम के पेडो की ओर बढ चले। मत्री ने कहा—'महाराज! आप कहा जा रहे हैं ? आपको वहा नहीं जाना है। अच्छा नहीं है वहा जाना। जिस गाव न जाना हो, उस गाव का रास्ता नहीं पूछना चाहिए, उस दिशा मे हमारे कदम नहीं बढने चाहिए। इधर चले। बहुत सुन्दर वृक्ष हैं, इनकी ठण्डी छाया मे बैठेगे।'

राजा बोला—'मत्री ! तुम भी अतिवाद कर रहे हो। बहुत लोग अतिवादी प्रवृत्ति मे चले जाते हैं। यह अतिवाद नहीं होना चाहिए। मै कहां जा रहा हू? क्या वैद्य ने यह भी मना किया है कि आम के पेड के नीचे भी नहीं जाना? यह तो मनाही नहीं, फिर मुझे क्यो रोक रहे हो ? मेरे कदम आगे बढ रहे हैं, तुम मुझे पीछे क्यो बुला रहे हो ?'

मंत्री का काम तो परामर्श देना था। राजा नहीं माना। आखिर स्वामी तो राजा था। मत्री बेचारा क्या कर सकता था ? राजा गया और सघन आम्रवृक्ष के नीचे बैठ कर बोला—मत्रीवर ! कैसा अच्छा लगता है ? तुम तो मुझे मना कर रहे थे। देखो, कितनी गहरी छाया है। दूसरे पेडो की इतनी

गहरी छाया नहीं होती। आम बडा गहरा होता है। पत्ते बडे होते है। क्या ये छोटे-छोटे नीम के पत्ते बेचारे इतनी गहरी छाया कर पाएगे ? देखो, कितनी गहरी छाया है। बडा अच्छा लगा। बडी प्रशंसा की। फिर बोला—मंत्री ! देखो, फल कितने अच्छे लग रहे हैं। कितने पके हुए ? कैसा रंग है ? आखों को तृप्त करने वाला है यह।

मत्री बोला—'महाराज ! क्यो व्याख्या करते हैं ? आपको मतलब ही नहीं है इससे। क्यों ध्यान देते है ? यह ध्यान जाना अच्छा नहीं है।'

राजा फिर बोला—'तुम तो बहुत अतिवादी हो गए। जो ज्यादा सयाने लोग होते है, बडे खतरनाक होते है। बाध देते है, जकड देते हैं। कहीं भी स्वतत्रता के लिए अवकाश नहीं रहने देते। आम मुझे नहीं खाना है। क्या मुझे इतनी स्वतत्रता भी नहीं है कि आम की व्याख्या करूं? अच्छे को अच्छा बताऊं ? क्या इतना परतत्र हो गया मै ?'

राजा के भीतर मे तरंग उठ रही है कि देखो, क्या हो गया ? आज जी भर कर आम खा लेता। पर ये सारे के सारे मनाही कर रहे हैं। पता नहीं क्या हो गया है इन्हे। मेरे भीतर से भी एक आवाज आ रही है कि आम नहीं खाना है। यह और संकट पैदा हो गया। बहुत सारे लोग कहते हैं, अन्तर की आवाज है, भीतर की आवाज है, आत्मा की आवाज है। कहां आत्मा की आवाज है। यह हमारे भीतर में डाली हुई आवाज है जो बाहर फूट पडती है। राजा बडे द्वन्द्व का अनुभव कर रहा है। योग ऐसा बना। राजा बैठा है पालथी मारे। एक आम टूटा और सीधा राजा की गोद मे आकर पडा। राजा ने उठाया, उठा कर देखने लगा। मत्री ने हाथ पकडा—'महाराज ! आप क्या कर रहे हैं ?'

राजा बोला—'अरे, खा थोडे ही रहा हूं ? मैंने तो इसे बुलाया नहीं था। अकस्मात् यह डाल से टूटा और मेरी गोद मे आ गिरा। मैने इसे नहीं तोडा है। मैंने कुछ भी नहीं किया। तुम साक्षी हो। मैं उठा नहीं। मैंने आम तुडवाया नहीं, पर अपने आप टूट कर मेरी गोद मे पडा है। तुम्हारी गोद में तो नहीं गिरा। तुम्हारी गोद में गिर जाना चाहिए था इसे। तुम्हारे मन मे आम की भावना है, तुम्हारी गोद मे नहीं गिरा। मुझे नहीं खाना है मेरी गोद मे गिरा। तुम इस नियम को नहीं जानते, जो आदमी चाहता है उससे हर वस्तु दूर भागती है, जो नहीं चाहता उसके पास वह स्वयं आ जाती है। यह तो दुनिया का नियम है। मैने तो इस सार्वभौम नियम का पालन किया है। मैने चाहा नहीं पर यह आम अपने-आप टूटकर मेरी गोद मे आ गिरा। नहीं खाऊ, पर इसे देख भी नही सकता ? सूंघ भी नहीं सकता ? कितना मोहक!

कितना आकर्षक! इसे देखूं भी नहीं ? इतनी भीनी-भीनी गध आ रही है, क्या इसे सूंघूं भी नहीं ? यह कैसे हो सकता है ?' राजा सूंघ रहा है। इधर-उधर कर रहा है और भीतर में तो एक आग उठ रही है। लपटे उठ रही हैं। पता नहीं कैसे रोक रहा है ? अगर मंत्री का नियत्रण सामने नहीं होता, अगर दूसरे लोगों का नियंत्रण नहीं होता तो वह आम कभी का उदरस्थ हो जाता, कभी का पेट में चला जाता। पर वह थोडा बहुत नियन्त्रण काम कर रहा है।

नियन्त्रण भी बहुत काम करता है। बाहरी नियन्त्रण भी बिलकुल बेकार नहीं होता। बाहर का अनुशासन भी बिलकुल व्यर्थ नहीं होता। काम करता है। आदमी सकोच के साथ बुराई से बच जाता है

जब भीतर की आग बहुत प्रबल होती है तब बाहर का नियन्त्रण भी बेकार होने लग जाता है। कितनी देर तक तो राजा ऐसे, वैसे उलटता-पलटता रहा, फिर मुंह के पास ले जाने लगा। मत्री ने हाथ पकडा—'महाराज ! क्या कर रहे हैं ? अनर्थ कर रहे है। वैद्य की मनाही है। इस बार यदि आपने आम खा लिया तो फिर कोई उपचार नहीं है। फिर मृत्यु के सिवाय कोई रास्ता नहीं है। आप क्या कर रहे हैं ? मौत की ओर जा रहे हैं ?' एक ओर राजा मौत की ओर प्रस्थान कर रहा है, दूसरी ओर मत्री निषेध कर रहा है, तीसरी ओर भीतर से वर्जना आ रही है कि मुझे यह काम नहीं करना चाहिए। इन विभिन्न प्रकार के विरोधी मनों के बीच राजा बैठा हुआ है। कहानी लम्बी है। आगे बढती है। हमें कहानी मे नहीं उलझना है।

यह सचाई है कि मन की ये विरोधी धारणाएं, विरोधी प्रवृत्तियां सामने आती हैं और व्यक्ति उलझन मे फंस जाता है। किस मन की बात मानूं? पहले मन की बात मानूं, दूसरे मन की बात मानूं या तीसरे मन की बात मानू? जैसे एक आदमी भाषण देता है। तीन भाषण देता है। पहले तो कुछ समझ कर आता है कि मुझे क्या बोलना है। वह होता है पहले का भाषण, तैयारी का भाषण। दूसरा है बोलते समय का भाषण और तीसरा है—यह बात कहता तो और अच्छा रहता। यह बात छूट गई। यह बात मुझे कहनी चाहिए थी। बाद का भाषण है तीसरा। एक पहले का भाषण, दूसरा मध्य का भाषण और तीसरा बाद का भाषण।

वैसे ही हमारा चिन्तन भी तीन प्रकार का होता है। तीन नहीं और ज्यादा होता है। मन न जाने कितने प्रकार का होता है। शायद प्रात काल एक प्रकार का मन, मध्याह्न काल मे दूसरे प्रकार का मन और सायकाल तीसरे प्रकार का मन। रात के पहले प्रहर मे चौथे प्रकार का मन। सोते-सोते पांचवे प्रकार का मन और जागते-जागते छठे प्रकार का मन। यह तो बहुत स्थूल

विभाग मैंने कर दिया। छह प्रकार की नहीं एक घण्टा मे इतना चक्का घूम जाता है कि सौ प्रकार का मन बदल जाता है। कभी-कभी सुबह मन होता है कि आज उपवास करूं तो बहुत अच्छा है। मन होता है उपवास करने का, जैसे ही ग्यारह बजते हैं, रसोई की गन्ध आने लगती है और कोई न्यौता आ जाता है, कोई निमत्रण दे देता है कि चलो भोजन करें तो वितर्क उठता है–उपवास करना तो था पर आज नहीं कल ही देखेगे। बस, थाली के सामने आकर बैठ जाता है। मन इतना जल्दी बदल जाता है।

यह जो मानसिक अनेकाग्रता, मानसिक परिवर्तनशीलता, मानसिक चंचलता और विविधता का प्रश्न है, वह हमारे लिए एक मोड है। यहां से हम अज्ञात की खोज मे प्रस्थान कर सकते हैं। यहां एक प्रश्न होता है और उस प्रश्न का समाधान अज्ञात मे होता है। यदि सब कुछ ज्ञात मन ही करता तो इतने प्रकार नहीं होते। ज्ञात के सिवाय भी कोई दूसरी दुनिया है और वह है अज्ञात की दुनिया। अज्ञात की दुनिया मे जाकर खोजने पर हमारे व्यवहार की व्याख्या हो सकती है। आज के मनोविज्ञान ने इस अज्ञात की खोज कर इसके व्यवहार की व्याख्या की है। एक प्रकार से उसने आत्मा की दिशा में प्रस्थान कर दिया, स्थूल जगत् से सूक्ष्म जगत् की दिशा मे प्रस्थान कर दिया। यदि मनोविज्ञान की वह व्याख्या नहीं होती, यह 'डेफ्त साईकोलोजी' का एक 'कन्सेप्ट' हमारे सामने नहीं होता तो शायद हम केवल ज्ञात दुनिया की बात करते। किन्तु इस अवचेतन मन की मीमांसा ने आदमी को बहुत गहरे मे ले जाकर उतार दिया।

एक अवधारणा बनी कि आदमी वैसा ही होता है जैसी परिस्थिति होती है। आदमी अपने आपमे कुछ नहीं होता, जैसी परिस्थिति वैसा आदमी। यदि परिस्थिति को काट दे तो आदमी की व्याख्या नहीं की जा सकती। परिस्थिति के माध्यम से मनुष्य की व्याख्या होती है। परिस्थितिवाद हावी हो जाता, यदि अवचेतन मन की अवधारणा हमारे सामने नहीं होती। अवचेतन मन की अवधारणा हमारे सामने है तो परिस्थितिवाद अतिपरिस्थितिवाद नहीं बन पाता। सब कुछ परिस्थिति के कारण होता है, यह हमारी धारणा टूट जाती है।

आदमी परिस्थिति से सीखता है। आदमी का विकास परिस्थिति के आधार पर होता है। सम्राट् अकबर ने एक महल बनाया। उसका नाम रखा 'शीश महल'। उसे जंगल मे बनाया। अकबर को एक परीक्षण करना था। वहां पाच-दस औरतों को रखा जो गर्भवती थीं। उन्हें कड़ा निर्देश दिया गया कि एक भी माता बोलेगी नहीं। परस्पर बातचीत नहीं करेंगी। कडा निर्देश

कोई आदमी बोल नहीं सकता। बच्चे पैदा हो गए, कोई बोला नहीं। कोई बातचीत नहीं करता। बच्चे बढते गए, बढते गए। एक महीने के हुए, एक बरस के हो गए। दो बरस के हुए, तीन बरस के हो गए और पांच बरस के हो गए। पर यह क्या ? कुछ भी नहीं। केवल ऊं ऊं. । बस, सकेत के सिवाय कोई भाषा नहीं। कोरा सकेत, और कुछ नहीं। संकेत के सिवाय कुछ जानते भी नहीं। पचास बरस के भी हो जाएं और ऐसे वातावरण मे रहे कि जहा शब्द सुनने को न मिले तो कोई बच्चा बोल नहीं सकेगा, कोई जवान बोल नहीं सकेगा और बूढा हो जाने पर भी बोल नहीं सकेगा।

ऐसी घटनाएं घटित होती हैं कि बच्चो को भेडिया या दूसरे जानवर उठाकर ले जाते हैं। उन्हे पालते हैं। वे बच्चे भेड़ियो की तरह चारो पैरो से चलने लगते हैं। दोनों हाथो को अपना पैर बना लेते हैं। दौडते हैं। वैसे ही खाते हैं और वही भाषा बोलते हैं, जो भेडियो की भाषा होती है। जिस जानवर के पास पलते हैं, उसकी जो भाषा होती है, उस भापा में बोलते हैं।

कोई भी मनुष्य सामाजिक वातावरण के बिना, सामाजिक परिवेश के बिना बोलना नहीं सीख सकता, भाषा नहीं सीख सकता। भाषा नहीं सीख सकता इसका अर्थ है चितन करना भी नहीं सीख सकता। चितन करना नहीं सीख सकता इसका अर्थ है व्यवहार का परिष्कार करना भी नहीं सीख सकता और व्यवहार का परिष्कार करना नहीं सीख सकता, इसका अर्थ होता है हृदय-परिवर्तन करना भी नहीं सीख सकता, आचरण को बदलना भी नहीं सीख सकता। व्यक्ति का बदलना, व्यवहार का बदलना, हृदय का बदलना, आचरण का बदलना—ये सारी बाते दो आधारो पर होती हैं—एक है—चिन्तन। दूसरा है—भापा। यदि भाषा का विकास किया होता तो आज गाय आदमी से पीछे नहीं रहती। शेर आदमी से पीछे नहीं होता। बैल, भैंस और सांड इतने शक्तिशाली हैं कि आदमी उनके सामने कुछ भी नहीं है। पर बेचारो को भाषा नहीं मिली, चिंतन नहीं मिला। ऐसे के ऐसे रह गए। आदमी वातावरण से सीखता है, भाषा को सीखता है। जो सामाजिक वातावरण मे जीता है, माताओ को बोलते देखता है, जो अपने आस-पास मे बातचीत को देखता है, बोलने का प्रयत्न करता है। बोल नहीं सकता फिर भी छोटा बच्चा बोलने के लिए बडा कसमसाता है। सारी शक्ति लगाकर बोलना चाहता है, पर जब तक स्वरयन्त्र पूरा विकसित नहीं हो जाता, पूरा काम करने नहीं लग जाता, तब तक बोल नहीं पाता। फ्रिर थोडा बडा होता है, एक-एक शब्द को पकडना शुरू करता है और पकडते-पकडते पूरा बोलने लग जाता है। पूरी भाषा को सीख लेता है। परिस्थिति के कारण, सामाजिक वातावरण के कारण व्यक्ति भाषा को पकडता है, शब्दो को पकडता है और भाषावान् बन जाता है, सभाषक बन

जाता है। व्यक्ति दो प्रकार के होते है–अभाषक और सभाषक। अभाषक जानता है, पर बोल नहीं पाता। सभाषक संवेदन करता है, जानता है और बोल भी लेता है।

एक जानवर को कोई चोट मारेगा, वह चिल्ला देगा, चिंचिया देगा, कुछ शब्द करेगा पर कुछ भी कह नहीं सकेगा। एक बिलकुल छोटा प्राणी है चींटी। उसे आप चाहे कितना की कष्ट पहुंचायें वह बोल नहीं सकेगी। हो सकता है, वह इधर-उधर सरक कर टालने का प्रयत्न करे और एक छोटा प्राणी वनस्पति का जीवन है, न तो बोल सकेगा न इधर-उधर जा सकेगा। अपनी संवेदना को प्रकट अवश्य करेगा, किन्तु उसको पकडने के लिए हमारे पास कोई दृष्टि नहीं है। किन्तु एक बच्चे को अगर चांटा मारें तो वह रोयेगा, चिल्लायेगा, प्रतिरोध भी करेगा और कह भी देगा कि ऐसा मत करो, ऐसा क्यो करते हो ? मुझे क्यो मारते हो ? क्यों पीटते हो ? वह सब कुछ कह देगा। क्योकि उसके पास स्पष्ट भाषा है। भाषा है इसलिए वह सोचता है, चिंतन भी करता है। वातावरण से जो पहला सूत्र मिलता है वह है–स्पष्ट भाषा। सामाजिक वातावरण के बिना भाषा नहीं आ सकती। वातावरण के माध्यम से ही हमारी भाषा का विकास होता है।

परिस्थितिवाद व्यर्थ नहीं है। परिस्थितिवाद के बिना हमारे विकास की व्याख्या नहीं की जा सकती। मनुष्य की आज तक की सभ्यता, ज्ञान, शिक्षा–इस सारी व्याख्या की पीछे परिस्थितिवाद बहुत बडा काम कर रहा है। दो बाते हैं। एक हमारा संवेदन और एक हमारा सीखना। प्राणी में दो बाते है। ज्ञान और सवेदन। संवेदन स्वाभाविक है। वह सीखा नहीं जाता। किसी व्यक्ति को चांटा मारा, बच्चे के चांटा मारा, किसने सिखाया था कि दर्द होगा? चाटा मारा और दर्द हो गया। किसने सिखाया ? किसी ने नहीं सिखाया। नाडी-संस्थान की ऐसी व्यवस्था है कि कोई बाहर से प्रहार हुआ और दर्द की अनुभूति होने लग जायेगी, सवेदना होने लग जायेगी। यह संवेदना हमारी स्वाभाविक प्रक्रिया है। इसे सीखना जरूरी नहीं होता। जैसे बच्चे को सिखाया जाता है–एक, दो, तीन, चार। गणना सिखाई जाती है, अंक सिखाये जाते हैं। क्या चीनी मीठी होती है, यह सिखाया जाता है ? सिखाने की जरूरत नहीं। जीभ पर चीनी आयेगी, मिठास का अनुभव होने लग जायेगा। सवेदना सिखाई नही जाती। बाहरी ज्ञान सिखाया जाता है। हमारी इन्द्रियों की संवेदना, दर्द की अनुभूति, सुख की अनुभूति, दु:ख की अनुभूति–ये सारी बाते सिखाई नहीं जातीं, ये सहज होती हैं। किन्तु ज्ञान सिखाया जाता है। सब पढाया जाता है। दर्शन-शास्त्र पढाया जाता है। सारी विद्याएं पढाई जाती हैं, सिखाई जाती हैं। यदि विद्याओं को पढाने की व्यवस्था न हो, स्वयं ग्रहण की बात हो तो विद्या

की सारी शाखाएं समाप्त हो जाएं। ये सारे विद्यालय और महाविद्यालय चलते हैं ज्ञान को सिखाने के लिए, किन्तु सवेदन को सिखाने के लिए कोई भी उपाय और उपक्रम नहीं चल रहा है।

हमारे जीवन में दो चेतना के प्रकार काम कर रहे हैं—एक है सवेदन की चेतना और दूसरी है ज्ञान की चेतना, सीखने की चेतना, स्मृति की चेतना, कल्पना की चेतना, ग्रहण करने की चेतना। ये दो बिलकुल अलग-अलग काम कर रही हैं। परिस्थिति का प्रभाव सीखने पर ज्यादा होता है। जितनी सीखने की बाते है वे परिस्थिति से प्रभावित होती है। सवेदन का क्षेत्र उससे परे रह जाता है। वह उससे प्रभावित नहीं होता। आदमी भाषा सीखता है, चिन्तन करना सीखता है। यह भी सिखाया जाता है कि कैसे सोचना चाहिए। ये पूरे कोर्स चलते हैं कि व्यवस्था कैसे करे ? प्रबध कौन करे ? कैसे पढ़ायें? कैसे सोचें ? यह सारा का सारा विकास परिस्थिति-सापेक्ष होता है। परिस्थिति होती है, आदमी उसी प्रकार का ज्ञान अर्जित कर लेता है। वर्तमान परिस्थिति मे ज्ञान की अनेक नई शाखाए चल पडीं। आज आदमी बहुत प्रकार की बाते सीखता है। शायद मध्ययुग मे इतनी शाखाए नहीं थीं। आदमी बहुत जल्दी विद्वान् बन जाता। बहुत जल्दी अपने आपको पण्डित मान लेता। संस्कृत भाषा पढ जाता, संस्कृत का विद्वान् हो जाता। लिखना भी नहीं जानता। कुछ निर्माण करना भी नहीं जानता। सृजनात्मक साहित्य की विधि को भी नही जानता, पर भाषा सीखी और विद्वान् बन गया। पुराने जमाने मे तो ऐसा होता था कि थोडा पढा-लिखा आदमी भी बहुत बडा बन जाता था।

एक आदमी था गाव मे। थोडा बहुत पढ गया। पत्र पढने लगा। गाव के लोग आते हैं कि भई, पत्र आया है, पढ दो। पढना भी नहीं जानते थे लोग। अब वह गाव मे अकेला रहा। चाहे तार आए, चाहे पत्र आए—एकाकी पढने वाला। बडा अहकार होने का प्रसंग है। चाहे कितना ही छोटा पढा-लिखा हो किन्तु यह अनुभव हो कि मै अकेला ही जानता हू, दूसरा नहीं जानता है तो अहकार को फलित होने के लिए अच्छा मौसम बन जाता है। अहकार के लिए अच्छी उर्वरा हो जाती है बडा अहंकार आ गया। एक दिन एक आदमी पत्र लेकर आया, बोला—पत्र पढ दो। पढे क्या ? पढा हुआ तो था नहीं विशेष, थोडा बहुत काम निकाल लेता था। पत्र आ गया साहित्यिक भाषा में। उलट-पलट कर देखा। समझ मे तो नहीं आया। जो भी ऊटपटाग बाते थीं वे सारी कह दीं। यह लिखा है, वह लिखा है। उसे क्या पता ? उसने कहा—'ठीक है। यह तो पढना जानता है, ठीक पढा है।'

चौथे-पाचवे दिन उसका भाई पहुंचा। स्टेशन पर किसी को न देखकर बडा रुष्ट हो गया। उसने मन ही मन सोचा—मैने पत्र लिखा था कि दस कोस

की दूरी पर गाडी पहुंच जानी चाहिए। कोई साधन नहीं है आने का। मेरे भाई ने मेरी बात पर ध्यान नहीं दिया। बैलगाडी नहीं भेजी। किसका भाई? जाऊगा और अलग हो जाऊंगा। दो चूल्हे जलेगे। साथ नहीं रह सकता। मेरी इतनी बात भी नहीं मानी उसने। ध्यान नहीं दिया। और भी कुछ बातें थीं। बडा गरमा गया। घर पहुंचा तो मुंह लाल, आंखें तनी हुई। आंख में लाल डोरे पड रहे थे। भाई ने देखा, अरे यह क्या ? भाई सदा आता है तो बडा खुशहाल होता है, प्रेममग्न होता है, आज तो गुस्से से लाल हो रहा है। भाई ने प्रणाम किया, तब भी सामने नहीं देखा। भाई बोला–'भाई !' क्या हो गया ? बडे भाई ने कहा–'तुमने मेरी बात पर कब ध्यान दिया ?' छोटा भाई बोला–'मैंने आपकी बात कभी टाली ही नहीं।' बडे भाई ने कहा–"मैंने लिखा था कि बैलगाडी भेजनी है दस कोस की दूरी पर। तूने भेजी नहीं। क्या इतना निकम्मा हो गया ? इतना काम भी मेरा नहीं कर सका ?" छोटा भाई बोला–"कब लिखा था आपने ?" लाओ पत्र। भाई थोड़ा पढा-लिखा था, बोला, देखो मैंने यह क्या लिखा है। छोटा भाई बोला–"मैं तो उस महाशय के पास गया था। अपने गांव मे तो एक पढने वाला है। उसने तो कुछ बताया ही नहीं। मैं क्या करता ?" दोनो गए उसके पास। पूछा–"तूने यह पत्र पढा था ?" उसने कहा–"हां मैंने पढा था।" फिर पूछा–तूने बताया नहीं कि बैलगाडी भेजनी है। वह मौन रहा। क्या बताता, जानता ही नहीं था पढना।

ऐसी घटनाएं होती हैं। थोडा पढा-लिखा आदमी भी अनपढ लोगों मे अपने आपको बहुत बडा मानने लग जाता है। किन्तु आज की स्थितियां तो बहुत बदल गई हैं। आज सीखने का विकास हो गया। नाना दिशाओ मे आदमी ने इतना विकास किया है कि जिसकी तुलना शायद बहुत लंबे अतीत से नहीं की जा सकती। मैं मानता हू, परिस्थिति के कारण आदमी ने सीखने में बहुत विकास किया है। आदमी ने भाषा के अध्ययन से लेकर विविध चिंतनो की शाखाओं का विस्तार से अध्ययन किया और आज वह सीखने की दृष्टि से बहुत गतिशील बन गया है।

ये दोनो कोण मेरे सामने हैं। एक है परिस्थिति का कोण, दूसरा है आंतरिक चेतना का कोण। एक है ज्ञात मन का कोण और दूसरा है अज्ञात मन का कोण। हमारे सारे व्यवहार की व्याख्या के लिए हमे दोनो दृष्टियो का उपयोग करना होगा। ज्ञात मन का भी उपयोग करना है और अज्ञात मन का भी उपयोग करना है। इन दोनो का उपयोग करके ही हृदय-परिवर्तन के सूत्र को पकड सकते हैं।

परिवेश का प्रभाव और हृदय-परिवर्तन

मैंने बिजली के प्रकाश को देखा है, पर बिजली को कभी नहीं देखा। किसी ने भी बिजली को नहीं देखा। जो वैज्ञानिक बिजली की परिभाषा कर रहा है, उसने भी बिजली को नहीं देखा। मैंने देखा करंट है, विद्युत् का प्रवाह है, स्विच ऑन किया, पर प्रकाश नहीं हुआ, क्योकि बल्ब नहीं था। मैंने यह भी देखा, बल्ब है, स्वीच ऑन किया, फिर भी प्रकाश नहीं हुआ, क्योकि विद्युत् का प्रवाह नहीं था। प्रकाश की निष्पत्ति के लिए दोनो चाहिए, करंट भी चाहिए और बल्ब भी चाहिए। अकेले से प्रकाश नहीं होता।

व्यक्तित्व की व्याख्या भी दो सन्दर्भों मे की जा सकती है—चेतना और परिस्थिति। यदि परिस्थिति है और चेतना नहीं है या चेतना है और परिस्थिति नहीं तो व्यक्ति की व्याख्या नहीं की जा सकती। दोनो आवश्यक हैं। चेतना भी आवश्यक है और परिस्थिति भी आवश्यक है। परिस्थिति के बिना व्यक्तित्व को समझा नहीं जा सकता।

चेतना सूक्ष्म है। उसे कभी नहीं देखा। न मैंने देखा है और न आपने देखा है। चेतना की व्याख्या हम करते हैं, प्राचीन आचार्यों ने की है, पर देखा किसी ने नहीं।

परिस्थिति स्थूल है। उसको देखा है, मैंने भी देखा है और आपने भी देखा है। चेतना सूक्ष्म है, उसे नहीं पकडा जा सकता। परिस्थिति स्थूल है, उसे पकड़ा जा सकता है, पर दोनो के योग के बिना व्यक्तित्व की व्याख्या नहीं हो सकती।

परिवेश का अध्ययन करने वाले वैज्ञानिको ने तीन निष्कर्ष प्रस्तुत किए—

१ बच्चा जब गर्भ मे आता है, तब से ही उस पर प्रभाव पडना प्रारम्भ हो जाता है।

२ वह जन्म लेता है और जैसे-जैसे उसकी अवस्था बढ़ती है, वैसे-वैसे प्रभाव गहरा होता चला जाता है।

३ एक ही समय मे जन्म लेने वाले दो बालक भिन्न-भिन्न वातावरण मे पलते हैं तो उनके व्यवहार मे भी भिन्नता आ जाती है।

राजा सैर करने निकला। जंगल मे पहुंच गया। कुछ आगे बढा। चोरो की पल्ली आ गई। राजा चोरपल्ली के आगे से गुजरने लगा। एक घर के सामने एक पिंजरा टंगा हुआ था। उस पिंजरे मे था, एक तोता। जैसे ही तोते

ने राजा को देखा, वह बोल पडा–'राही जा रहा है। जल्दी आओ, लूटो-लूटो। जा रहा है, जा रहा है।' राजा ने तोते को बोलते देखा। उसकी बात सुनी। अचम्भे मे पड गया। गति को तेज कर आगे निकल गया। अकेला था, भय भी लगा। आगे चला गया।

बहुत दूर जाने पर उसे एक दूसरा आश्रम मिला। आश्रम में अनेक कुटीर थे। एक कुटीर के द्वार पर पिंजरा था और उसमे भी एक तोता था। तोते ने जैसे ही राजा को देखा, बोल उठा–'स्वागतम्, स्वागतम्, सुस्वागतम्। आओ, बैठो, स्वागत स्वीकार करो।' राजा ने सुना। अचभा शतगुणित हो गया। राजा पिंजरे के पास जाकर तोते से बोला–'भाई! तुम आदमी की भाषा बोलते हो। मुझे एक रहस्य समझाओ। कुछ समय पहले मैं एक बस्ती से गुजर रहा था। वहा एक पिंजरे मे तोता था। उसने मुझे देखते ही कहा, आओ, लूटो, लूटो, पथिक जा रहा है। यहां आने पर तुमने कहा–स्वागतम्, स्वागतम्, सुस्वागतम्। इतना अन्तर क्यो ? तुम दोनो एक ही जाति के पक्षी हो। दोनों मनुष्य की भाषा मे बोलते हो, फिर दोनो की वाणी मे यह भेद क्यो ?'

तोता बोला–'महाराज ! क्षमा करें। हम दोनों एक जाति के ही नहीं, एक ही वंश के हैं, हम दोनो सगे भाई हैं। दोनो के माता-पिता एक हैं। मैं बडा हू, वह छोटा है, पर है मेरा सगा भाई।'

राजा का आश्चर्य शतगुणित हो गया। उसने पूछा, फिर दोनो की भाषा में, भावना मे इतना अन्तर क्यो ?

वह बोला-राजन् ! भावना के अन्तर का रहस्य यह है–

'मलिम्लुचानां स वचः श्रृणोति,
अहं तु राजन् ! मुनिपुंगवानाम्।
प्रत्यक्षमेतत् प्रतिभाति सत्यं,
संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति।।'

राजन् ! मेरा वह छोटा भाई तोता मांसाहारी चोरों और डकैतो के सपर्क मे रहता है, उनके वातावरण मे पलता है इसलिए वह लूटखसोट की बाते सीखता है, करता है। मैं सदा ऋषि-मुनियों के संसर्ग मे रहता हूं, इस लिए अच्छाइयां सीखता हूं। आपने यह प्रत्यक्ष देख ही लिया कि 'ससर्गजा दोषगुणा भवन्ति'–गुण और दोष ससर्ग के कारण आते हैं। जैसा संसर्ग वैसी ही फल-प्राप्ति। बुरे संसर्ग से दोष पनपते हैं और भले संसर्ग से गुणो मे वृद्धि होती है।

गुण और दोष–ये दोनो संसर्ग के कारण आते हैं, वातावरण के कारण आते है। वातावरण के प्रभाव से आदमी बुरा होता है। एक ऐसा स्वच्छ और पवित्र वातावरण होता है कि उसमे पलने वाला बच्चा अच्छा हो जाता है और

एक वातावरण ऐसा होता है, जिसमे पलने वाला अच्छा बालक भी बुरा बन जाता है, बिगड जाता है।

वातावरण का प्रभाव बहुत गहरा होता है। जो माता-पिता समझदार और चिन्तनशील होते हैं, वे अपने बच्चो को प्रारम्भ से ही अच्छे वातावरण में रखते हैं, जिससे कि बच्चे मे अच्छाइयां जागे, गुण जागे और बुराइया दूर हो। जो माता-पिता अपने सतान की उपेक्षा करते है, उनके प्रति ध्यान नहीं देते, उनको अच्छा वातावरण उपलब्ध नहीं करा पाते हैं, वे बच्चे बिगड जाते हैं। हम देखते हैं कि छोटे-छोटे बच्चे ऐसी भद्दी गालिया देने लग जाते हैं, जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। एक बच्चा बहुत भद्दी गाली दे रहा था। किसी ने उसके पिता से पूछा। पिता ने कहा--क्या करूं ? यह सदा नौकरो के साथ रहता है, उनके संपर्क मे रहता है। वे जो गालियां देते हैं, उन्हे यह बच्चा पकड लेता है और वैसे ही बोलने लग जाता है। इसी प्रकार अनेक बुराइयां बच्चो मे आ जाती हैं।

बच्चा अनुकरणप्रिय होता है। प्रारम्भ मे वह अनुकरण से ही सबकुछ सीखता है। वह सारी बुद्धि जब नकल से लेता है तो अबुद्धि कैसे छोडेगा ? उसे भी लेगा, क्योकि उसका विवेक अभी इतना विकसित नहीं हो पाया है कि बुद्धि और अबुद्धि मे वह अन्तर कर सके।

एक ही वंश-परम्परा मे उत्पन्न दो शिशु भिन्न-भिन्न वातावरण के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार के बन जाते हैं। उनमे इतनी भिन्नता हो जाती है कि उनके व्यवहारो को देखने पर यह अनुभव नहीं होता कि ये दोनों सगे भाई हैं।

राजा ने कब कल्पना की थी की दोनो तोते सगे भाई हैं, क्योकि एक तोता लूटो, लूटो की रट लगा रहा है और दूसरा तोता स्वागतम्, स्वागतम् की रट लगा रहा है। दोनो की भाषागत भावना मे आकाश-पाताल का अन्तर है।

इस अन्तर का कारण है वातावरण। वातावरण के कारण दोनो के मार्ग दो हो गए। एक चोरी के मार्ग पर चला गया और एक भक्ति के मार्ग पर चला गया।

परिवेश के ये तीनो निष्कर्ष परिवेश के अध्ययन से प्राप्त हुए हैं।

प्रत्येक व्यक्ति के सामने तीन प्रकार के परिवेश या परिस्थितिया होती हैं—

१ बाहरी परिवेश।

२ आतरिक परिवेश।

३ अन्तर्तम का परिवेश।

पूरे व्यक्तित्व की व्याख्या करने के लिए हमें तीनो परिवेशो का अध्ययन करना होगा। इन तीनो के बिना आदमी के व्यक्तित्व, आचरण और व्यवहार की व्याख्या नहीं की जा सकती।

सामाजिक, भौतिक और भौगोलिक वातावरण बाहरी परिवेश हैं। जिस प्रकार की सामाजिक, भौतिक और भौगोलिक परिस्थिति होती है, व्यक्तित्व वैसा ही बनता चला जाता है।

आंतरिक परिवेश या वातावरण वह है जो शरीर के भीतर मे काम कर रहा है। भीतर और बाहर, बाहर और भीतर के बीच मे एक सीमा करता है, हमारा शरीर। इस शरीर की त्वचा से जो बाहर का सवेदन अनुभव होता है, जो बाहर का दस्तु-जगत् है वह है बाहरी वातावरण और जो इस त्वचा के भीतर, त्वचा के सवेदन से लेकर संपूर्ण शरीर के भीतर होने वाला सवेदन है, वह है आंतरिक परिवेश या आंतरिक वातावरण।

जो इस स्थूल शरीर की सीमा से परे, सूक्ष्म और सूक्ष्मतम शरीर का वातावरण है, वह है अन्तर्तम का वातावरण।

जो आत्मवादी है, आत्मा और सूक्ष्म जगत् मे आस्था रखता है, वह तीनों परिवेशो के सन्दर्भ में व्यक्तित्व की व्याख्या करेगा। जो नितांत भौतिकवादी है, सूक्ष्म जगत् मे विश्वास नहीं करता उसे भी कम-से-कम बाहरी परिवेश और आंतरिक परिवेश, बाहरी वातावरण और शरीर के भीतर का वातावरण—इन दो परिवेशों में व्यक्तित्व की व्याख्या करनी पडेगी।

अध्यात्म का सिद्धांत है—स्थूल से सूक्ष्म में प्रवेश, स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रस्थान। श्वास स्थूल है, सरलता से पकडा जा सकता है। प्राण सूक्ष्म है, पकडा नहीं जा सकता। हम दूध और दही को देख सकते हैं पर उसमें जो घी है उसको प्रत्यक्ष नहीं देख सकते। घी उसमे है यह हम जानते हैं। हम यह भी जानते है कि घी कहीं अलग से नहीं आ रहा है। वह दूध और दही से ही निष्पन्न होता है। दूध मे घी है पर उसे पकडा नहीं जा सकता। दही मे घी है पर उसे पकडा नहीं जा सकता। दूध और दही से घी को निकालने के लिए भिन्न प्रवृत्ति का, प्रक्रिया का प्रयोग करना होता है। इसी प्रकार श्वास के कण-कण मे प्रवहमान प्राणधारा को पकडना भी प्रयोग-सापेक्ष है। श्वास बाहर आता है, भीतर जाता है क्यों ? वह अपने आप न भीतर जाता है और न अपने आप बाहर आता है। श्वास भीतर जाता है प्राणधारा के साथ और बाहर आता है प्राणधारा के साथ। श्वासनली विद्यमान है, बाहर वायु भी है, पर प्राण चला गया तो क्या श्वास भीतर जाएगा ? क्या श्वास बाहर आएगा ? नहीं। वह जहा है वहीं रह जाएगा। भीतर का भीतर और बाहर का बाहर।

जहां प्राण समाप्त, वहा श्वास भी समाप्त। प्राणधारा के कारण ही सारे शरीर मे प्रकम्पन होते हैं, स्पदन होते हैं। जितने भी वाईब्रेशन्स या मुवमेन्ट्स होते हैं वे सारे प्राणधारा के कारण होते हैं।

पहले अभ्यास में श्वास को पकडा जाता है और फिर प्राण को पकडने का अभ्यास चलता है। श्वास को पकडने के लिए जितनी एकाग्रता चाहिए उससे बीस गुनी एकाग्रता चाहिए प्राण को पकडने के लिए। अत्यन्त सूक्ष्म है प्राण की धारा। श्वास, शरीर और इन्द्रियो के भीतर काम करने वाली जो सूक्ष्म धारा है वह है प्राणधारा। श्वास का एक प्राण है, इन्द्रिय का एक प्राण है, और शरीर का एक प्राण है। भाषा का एक प्राण है। चिन्तन का एक प्राण है। इन भिन्न-भिन्न प्राणो के भिन्न-भिन्न कार्य हैं। प्राणधारा एक ही है, पर कार्यभेद से उसका नामभेद कर दिया जाता है। जब प्राणधारा इन्द्रियो से साथ जुडती है तब वह 'इन्द्रिय प्राण' कहलाता है। प्राण की एक धारा श्वास के साथ जुडती है और वह श्वास प्राण बन जाता है। प्राण की एक धारा भाषा के साथ जुडती है और वह भाषा प्राण बन जाता है। प्राण की एक धारा मन के साथ जुडती है और वह 'मनप्राण' बन जाता है, 'मनोबल' बन जाता है। सारा बल, सारी सक्रियता और सारी शक्ति प्राणधारा के कारण आती है।

इस शरीर के भीतर अन्तर के वातावरण मे दो मुख्य तत्त्व कार्य निष्पादित करते हैं—विद्युत् और रसायन। मनुष्य के व्यवहार और आचरण की व्याख्या करने के लिए प्राण-विद्युत् और रसायनो को जानना आवश्यक है। प्रत्येक कोशिका विद्युत् पैदा करती है। शरीर की प्रत्येक कोशिका के आस-पास अपना बिजलीघर है। मस्तिष्क मे बिजली पैदा होती है। बिजली के बिना मस्तिष्क काम नहीं कर सकता। बिजली के बिना शरीर का कोई अवयव, छोटा हो या बडा, काम नहीं कर सकता। सारे शरीर मे प्राण-विद्युत् (वायो इलेक्ट्रीसिटी) और रसायन काम करते हैं। मनुष्य की अन्त.स्रावी ग्रन्थियो से स्राव होता है और वह रक्त के साथ मिलकर व्यक्ति को प्रभावित करता है। मनुष्य की सवेगात्मक अवस्थाएं, मानसिक विकास के बिन्दु, व्यवहार की सारी प्रणालिया, सारे व्यवहार और आचार इन रसायनो के द्वारा प्रभावित होते हैं। व्यवहार और आचार को देखकर जाना जा सकता है कि अभी वर्तमान मे व्यक्ति किस रसायन से प्रभावित हो रहा है ? कौन रसायन उसे इस प्रकार के आचार व्यवहार के लिए प्रेरित कर रहा है ? जब आदमी मे क्रोध जागता है, अहकार और वासना जागती है तब जान लिया जाता है कि अभी इस स्थिति मे व्यक्ति की एड्रीनल ग्लॉण्ड ज्यादा सक्रिय हो रही है। गोनाड्स और थायराइड ग्लॉण्ड अधिक काम कर रही है। सारा व्यवहार

इनसे प्रभावित होता है। व्यक्ति का आचरण बोलता है कि आदमी अभी किन-किन ग्रन्थियो से प्रभावित हो रहा है। इन रसायनो को जाने बिना व्यक्तित्व की यथार्थ व्याख्या नहीं हो सकती। व्यक्तित्व के पूरे विकास पर अन्त.स्रावी ग्रन्थियो के रसायनो का बहुत प्रभाव होता है। जब हम इस तथ्य से अज्ञात रहते है तब अनेक विरोधी बाते कर जाते हैं। कभी बाहरी परिस्थिति पर सारा दोषारोपण कर देते हैं और कभी किसी व्यक्ति विशेष को उस घटना का उत्तरदायी बना देते हैं। कभी कुछ और कभी कुछ।

एक आदमी जा रहा था। पास मे एक बैल था। उस पर 'गोणी' रखी हुई थी। आदमी ने अपना सारा भार गोणी के एक ओर भर दिया। गोणी बैल की पीठ पर टिक नहीं पा रही थी, क्योकि उसका संतुलन बिगड गया था। गोणी के दो पल्लों मे समान भार डालने से ही संतुलन बना रह सकता है। भार को एक ही पल्ले मे डाल देने के कारण न बैल चल पा रहा था और न ही भार टिक रहा था। आदमी ने भार को एक ही पल्ले मे रखा और दूसरे पल्ले मे हाथ डालकर शक्ति लगाई, जिससे भार और शक्ति मे सतुलन हो जाए। कुछ दूर चला। हाफने लगा। सामने से एक पथिक आ रहा था। उसने कहा—'अरे मूर्ख ! यह क्या कर रहे हो ? तुम्हारा शरीर पसीने से लथपथ हो रहा है। तुम भी कष्ट पा रहे हो और बैल भी कष्ट पा रहा है। तुम वज्रमूर्ख हो।'

उसने कहा—क्या करू ? सतुलन कैसे बनाऊ ?

पथिक बोला—आधा भार निकाल कर दूसरे पल्ले मे डाल दो, संतुलन बन जाएगा।

उसने वैसा ही किया। सतुलन बना। शक्ति का अतिरिक्त व्यय रुक गया और उसका मार्ग भी सुख से कट गया।

बहुत बार आदमी सारा भार एक पल्ले मे डाल देता है, और संतुलन बनाए रखने के लिए जी-तोड प्रयत्न करता है, शक्ति का अपव्यय करता है।

आदमी सारा भार परिस्थिति पर डाल कर मुक्त हो जाना चाहता है। दूसरे सारे निमित्त गौण हो जाते है, खाली रह जाते हैं। वह तब अपनी बात को सिद्ध करने के लिए अनेक तर्क-वितर्क देता है, मस्तिष्क की शक्ति लगाता है, फिर भी सतुलन स्थापित नहीं कर पाता। कितना अच्छा हो कि आदमी दोनो पल्लो को सभाले, दोनों के संतुलन के लिए अपेक्षित भार डाले। वह एकान्तत. ऐसा न माने कि जैसी बाहर की परिस्थिति होती है, आदमी वैसा ही बन जाता है। यह एकागी धारणा है। समग्र या यथार्थ अवधारणा यह होनी चाहिए कि बाहरी परिस्थिति भी व्यक्ति को प्रभावित करती है और अन्तर की

परिस्थिति भी आदमी को प्रभावित करती है। इन दोनो के साथ-साथ अन्तरतम की परिस्थिति का प्रभाव भी व्यक्ति पर पडता है।

जब अन्त.स्रावी ग्रन्थियो के स्राव रक्त के साथ मिलते है, तब व्यवहार प्रभावित होता है और आदमी विचित्र प्रकार के व्यवहार करने लग जाता है। हम समझ नहीं पाते। बडी कठिनाई होती है। कभी-कभी बच्चे के अतिरिक्त व्यवहार को देख माता-पिता भी उलझ जाते है। गुरु भी शिष्य के व्यवहार से उलझ जाते हैं और हितैषी भी कठिनाई मे पड जाते है। एक घर का सारा वातावरण स्वच्छ और सुलझा हुआ है। कोई कठिनाई नहीं है। फिर भी माता-पिता को भान होता है कि लडका बिगडता जा रहा है। ऐसा क्यो होता है ? प्रश्न उभर आता है। पर इस प्रश्न का समाधान खोजा जा सकता है। यह सही है कि बाहरी परिस्थिति अनुकूल है और उस परिस्थिति मे लडके का वह बिगाड सभव नहीं है। इस स्थिति मे आन्तरिक परिस्थिति पर ध्यान केन्द्रित करना होगा। यह देखना होगा कि बीमारी पहले स्टेज मे है, दूसरे मे है या तीसरे मे पहुंच चुकी है। यदि पहले स्टेज की बीमारी है तो उसकी चिकित्सा यह होनी चाहिए कि बाहरी वातावरण को बदला जाए, जिससे कि बच्चा अच्छा बन सके। जब यह ज्ञात हो जाये कि बीमारी पहले स्टेज की नहीं है, सब अनुकूलताएं हैं, और वह बीमारी दूसरे स्टेज मे पैर रख चुकी है, तो भीतरी परिस्थिति पर ध्यान केन्द्रित करना होगा।

मनोविज्ञान मे 'टेम्पर टेन्ट्रा' नाम की बच्चो की बीमारी है। वह दो-तीन वर्ष के बच्चों मे होती है। इस बीमारी के कारण बच्चा असाधारण व्यवहार करने लग जाता है। उसका सारा व्यवहार अस्वाभाविक होता है। वह बहुत गुस्सा करने लगता है, रोता है, चिल्लाता है, मारने दौडता है, वस्तुओ को इधर-उधर फेक देता है, मचलता है, और भी अनेक चेष्टाए करने लग जाता है। ये सारी चेष्टाए वह यो ही नही करता। वह एक बीमारी है, जो बच्चो मे ही होती है। यदि इस बीमारी को न समझा जाए तो बच्चा बिगड जाता है। इस स्थिति में बच्चा बाहरी साधनो से स्वस्थ नहीं होता। यदि माता-पिता समझदार होते हैं तो वे बच्चो को पीटेगे नहीं, गालियां नहीं बकेगे।

कुछेक माताएं सारे दिन बच्चो को गालिया देती रहती हैं, बुरा भला कहती रहती है, मारती रहती हैं। यह बच्चो को बिगाडने की मशीन है, जो बराबर चल रही है। इस प्रक्रिया से बच्चे बिगडते है, सुधरते नहीं। वे बच्चे इतने बिगड जाते है कि बडे होकर माता-पिता को भी चेतावनी दे देते हैं।

यह अनर्थ अज्ञान के कारण होता है। आदमी नहीं जानता कि बच्चों

की आदतों को कैसा बदला जाए ? आदमी को चाहिए कि वह स्वयं की आदतों को भी बदले। ध्यान के द्वारा यह संभव है। ध्यान के द्वारा आदमी मानसिक दशा का निर्माण कर सकता है कि किस परिस्थिति मे कैसा व्यवहार करना चाहिए, सतुलन कैसे बनाए रखा जा सकता है। यदि माता-पिता संतुलन बनाये रखते हैं तो बच्चों को जटिल परिस्थिति में से उबार कर उन्हे सुधार सकते हैं। जब बच्चा 'टेम्पर टेन्ट्रा' की बीमारी से ग्रस्त होता है और माता-पिता उसे दुत्कारते हैं, मारते-पीटते हैं तो वह बीमारी बढती है, मिटती नहीं। और यदि उस बीमारी की अवस्था मे माता-पिता बच्चे को स्नेह देते हैं, सान्त्वना देते हैं, प्रेम और प्रसन्नता दिखाते हैं तो धीरे-धीरे वह बीमारी मिटनी शुरू हो जाती है और बच्चा सामान्य व्यवहार करने लग जाता है। यदि उस स्थिति में माता-पिता भी वैसी ही प्रतिक्रिया करने लग जाएं जैसी प्रतिक्रिया बच्चा कर रहा है, जैसे बच्चा वस्तुएं फेकता है तो माता-पिता गुस्से मे आकर बच्चे को ही फेकने लग जाएं, तो निश्चित ही वह बच्चा बडा होने पर माता-पिता को फेकने की तैयारी करेगा।

हम आन्तरिक परिस्थितियों पर भी ध्यान केन्द्रित करें। हम यह सोचे कि बाहरी परिस्थितियो की अनुकूलता होने पर आदमी बुरा क्यो हो रहा है? इस स्थिति में हमे नए दृष्टिकोण से सोचना होगा। वहां एक प्रकाश-रेखा की जरूरत होगी, केवल अंधेरे मे हाथ-पैर मारने से काम नहीं चलेगा। वहां प्रतिक्रियात्मक दृष्टिकोण से सोचना भयंकर हानिकारक हो जाएगा। आदमी की सामान्यत: धारणा प्रतिक्रियात्मक होती है, इसलिए समाधान हस्तगत नहीं होता।

प्रेक्षा-ध्यान की उपसम्पदा स्वीकार करते समय साधक एक सकल्प स्वीकार करता है। वह कहता है-'मैं प्रतिक्रिया से बचूंगा। जो कुछ करूगा, वह क्रिया ही करूगा, प्रतिक्रिया नहीं करूगा।' बहुत ही महत्त्वपूर्ण साधना है—प्रतिक्रिया-विरति।

सामने कोई प्रतिक्रिया आई और यदि आदमी भी वैसा ही बन जाए, प्रतिक्रिया करने लग जाए तो यह 'जैसे का तैसा' का सिद्धांत आदमी को बनाने का सिद्धांत नहीं, बिगाडने का सिद्धांत सिद्ध होता है। यह व्यक्तित्व निर्माण का सिद्धात नहीं, व्यक्तित्व को असमय मे ही मार डालने का सिद्धांत होगा। हम अनुस्रोत मे नहीं प्रतिस्रोत मे चले। प्रतिक्रिया के प्रति प्रतिक्रिया न करे, क्रिया करे।

भगवान् महावीर ने कहा-

'अणुसोयपुट्ठिए बहुजणम्मि, पडिसोयलद्धलक्खेण।

पडिसोयमेव अप्पा, दायव्वो होउकामेणं।।'

समूचा जगत् अनुस्रोतगामी है। सारे लोग अनुस्रोत में चलते हैं। साधक वह होता है जो प्रतिस्रोत मे चले, प्रवाह के प्रतिकूल चले। जो व्यक्ति कुछ होना चाहता है उसे प्रतिस्रोतगामी होना ही पडेगा।

हम प्रवाह के प्रतिकूल चलना सीखे। भाई, बेटा, मित्र या पडोसी, जिस प्रकार का व्यवहार करता है, उसी प्रकार का व्यवहार कर हम उस खाई को और अधिक लम्बा-चौडा कर सकते हैं, विरोध को उग्र कर सकते हैं। इससे कभी समाधान नहीं होगा। इसका समाधान पाना हो तो प्रतिक्रिया-विरति की साधना करनी होगी। प्रतिक्रिया से मुक्त होकर, क्रिया का सहारा लेना ही प्रतिस्रोत मे बहना है। यही समाधान का एकमात्र मार्ग है।

एक आदमी मोमबत्ती ढूंढ रहा था। नौकर आया। उसने पूछा—'मालिक! क्या कर रहे है ?' वह बोला—'मोमबत्ती ढूंढ रहा हूं।' नौकर बोला—'मालिक! अधेरा है, कैसे दीखेगी। बिजली जला ले तो मोमबत्ती ढूढने मे सरलता होगी।' मालिक बोला—'मूर्ख हो तुम। यदि बिजली होती तो मोमबत्ती ढूढता ही क्यो ? बिजली नहीं है इसीलिए तो मोमबत्ती ढूढ रहा हूं।'

आदमी बिजली जलाने के भ्रम मे उलझ जाता है और मोमबत्ती को खोजने की बात को छोड़ देता है। यह सच है कि जब बिजली है तो मोमबत्ती क्यो ढूढी जाए ? मूल बात है प्रकाश की खोज। आदमी की यह प्रकृति है उसे अधेरा प्रिय लगता है। वह बाहर प्रकाश चाहता है, पर अन्तरग मे उसका अनुराग अन्धेरे से है। वह चाहता है क्षमा, पर क्रोध उसे अच्छा लगता है। जितना विश्वास हिंसा मे है, उतना अहिसा मे नहीं।

आदमी अहिसा की बात को आगे रखता है, क्षमा और प्रकाश के सिद्धातो को सामने रखता है पर आचरण करता है हिंसा का, क्रोध का और अधकार का। वह उसका 'विभक्त-व्यक्तित्व' (डुएल-पर्सनेलिटी) है। सिद्धात एक प्रकार का होता है और अन्तरग मे दूसरे प्रकार की आकाक्षा होती है। क्रोध के प्रति हमारी जितनी आस्था है, यदि वह क्षमा के प्रति होती तो हम क्षमावान् अधिक होते, क्रोधी कम। हिंसा के प्रति हमारी जितनी आस्था है, यदि वह अहिंसा के प्रति होती तो हम अहिंसक अधिक होते, हिंसक कम। हम अहिंसक कम हैं, हिंसक अधिक। क्षमावान् कम हैं, क्रोधी अधिक। इससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि हमारी आस्था हिंसा मे अधिक है अहिंसा मे कम, हमारी आस्था क्रोध मे अधिक है क्षमा मे कम।

हम प्रकाश की बात करते है प्रकाश की खोज नहीं करते। प्रकाश की खोज करने वाले व्यक्ति को भीतर मे डुबकिया लगानी पडेगी। जो व्यक्ति

केवल बाहर ही बाहर झाकता रहता है, वस्तु-जगत् को ही देखता रहता है, वस्तु-जगत् की ही प्रेक्षा करता रहता है वह कभी प्रकाश को उपलब्ध नहीं हो सकता। यदि वस्तु-जगत् की प्रेक्षा से प्रकाश उपलब्ध हो जाता तो फिर श्वास प्रेक्षा या शरीर-प्रेक्षा करने की जरूरत नहीं होती। वस्तु-जगत् की प्रेक्षा मे आनन्द है, सुखानुभूति है, आकर्षण है। कभी कुछ और कभी कुछ। आदमी देखते-देखते तृप्त ही नहीं होता। जितना आकर्षण है उसमें, उतना संभवत: ध्यान साधना मे नहीं है फिर भी आज का आदमी ध्यान के प्रति आकृष्ट है। इसका फलित यह है कि आदमी वस्तु-जगत् को देखते-देखते मन मे इतना ऊब गया है, इतना तनाव-ग्रस्त हो गया है कि बाहर से हटकर भीतर मे झाकना चाहता है। बाहरी प्रेक्षा करते-करते आदमी में इतनी जटिलता आ गई है, इतनी मानसिक बेचैनी हो गई कि वह बाहर से हटकर भीतर झांकना चाहता है और इसीलिए वह ध्यान शिविरो में आता है। यहा उसे श्वास-प्रेक्षा, शरीर-प्रेक्षा, अन्तर्यात्राओ की प्रक्रियाओं से प्रक्रियाओ के भीतर झांकने के लिए प्रेरित किया जाता है। जैसे-जैसे वह भीतर जाएगा उसे वह दीखना प्रारंभ होगा जो बाहर की दुनिया मे उपलब्ध नहीं था। भीतर मे रग दिखाई देगे, ऐसे रंग जो बाहरी दुनिया मे कभी नहीं देखे। इतना प्रकाश दिखाई देगा, जो बाहर कभी नहीं दिखा। भीतर की दुनिया मे झांकते-झांकते ऐसे दृश्य दिखाई देगे जो डरावने भी हो सकते हैं और सुहावने भी हो सकते हैं।

एक बहिन को मैने नासाग्र-ध्यान या प्राणकेन्द्र पर ध्यान का प्रयोग बतलाया। उसने ध्यान प्रारम्भ किया। दो-तीन दिन वह प्रयोग चला। बहिन को आनन्द आने लगा। एक रात वह इस प्रयोग मे बैठी थी। ध्यान लम्बा हुआ। रात अन्धेरी थी। ध्यान-काल मे भयानक दृश्य सामने आने लगे। उन्हें देखकर वह बहुत भयभीत हो गई। उसका डर सघन होता चला गया। पर वह अविचल बैठी रही। धीरे-धीरे सब शात हो गया।

भीतर का जगत् विभिन्न होता है। जब एक-एक कर पट खुलते जाते हैं तब दृश्यो की भरमार से आदमी घबडा जाता है। भीतर बहुत दृश्य संकलित हैं। वे एक ही प्रकार के नहीं होते। अनेक प्रकार हैं उनके।

भीतर की प्रेक्षा ही वास्तव मे प्रेक्षा है। उससे नया प्रकाश मिलता है, नए दृष्टिकोण का निर्माण होता है तथा नए प्रकार का व्यवहार और नए प्रकार का आचरण सामने उपस्थित होता है। हम समाधान खोजे भीतर के प्रकाश मे हमारे व्यवहार का, हमारे आचरण का। बाहर मे समाधान खोजते-खोजते जो लोग थक गए हैं, निराश हो गए हैं वे भीतर मे समाधान

खोजने का प्रयास करे। उनकी निराशा मिट जाएगी। यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि जिस व्यक्ति ने भीतर मे समाधान खोजना प्रारम्भ कर दिया उसकी कोई समस्या ऐसी नहीं होगी जिसका समाधान न हो सके। जो केवल बाहर ही बाहर समाधान खोजते हैं, उनकी सारी समस्याएं समाहित हो जाए यह कभी संभव नहीं है। हमे बाहर की दुनिया से भीतर की दुनिया में प्रवेश करना होगा। हमे समाधान खोजना होगा, विद्युत् के सदर्भ मे और रसायनों के संदर्भ मे। हमारी प्राण-विद्युत् और अन्त स्रावी ग्रन्थियो से स्रवित रसायनो में ही हमारे समाधान निहित हैं।

जो प्रेक्षा-ध्यान का अभ्यास करते हैं उनका यह सूत्र बन जाना चाहिए, यह दृष्टिकोण बन जाना चाहिए कि वे समस्या का समाधान बाहरी वातावरण मे ही नहीं खोजेगे, भीतर भी उसकी खोज करेगे, फिर वह समस्या चाहे व्यवहार या आचरण की हो, प्रकृति या स्वभाव की हो। यदि यह दृष्टिकोण निर्मित हो जाता है तो समाधान का पहला सूत्र हस्तगत हो जाता है। वह आदमी मिथ्यादृष्टि वाला होता है जो बाहर ही बाहर समाधान खोजता है। वह आदमी सम्यक्दृष्टि वाला होता है जो बाहर भी समाधान खोजता है और भीतर भी समाधान ढूंढता है। ध्यान साधना करने वालो की दिशा बदल जाती है। जो केवल बाहर मे ही समाधान खोजने की दिशा थी, वह व्यापक बन जाती है, नई दिशा का उद्घाटन हो जाता है, नया आयाम उद्घाटित हो जाता है। वह अन्तर मे प्रवेश करता है और समाधान ढूंढता है।

जब भीतर भी समाधान प्राप्त न हो तो व्यक्ति को तीसरी स्टेज पर जाना होगा, वहा समाधान खोजना होगा। जब समाधान बाहर के वातावरण मे भी नहीं मिला और अन्तर के वातावरण में भी नहीं मिला, रसायनो के वातावरण मे भी नहीं मिला, तब मान लेना चाहिए कि बाहरी परिस्थितियो के परिवेश का भी प्रभाव नहीं है और रसायनो के परिवेश का भी प्रभाव नहीं है। वह प्रभाव है अन्तर्तम के परिवेश का। समाधान वहीं प्राप्त हो सकता है। तब समाधान उस सूक्ष्मतम जगत् मे खोजना होगा।

आयुर्वेद के आचार्यों ने कहा–रोग तीन प्रकार के होते हैं–

१ बाहरी परिस्थिति के निमित्त से होने वाला रोग।

२ वात, पित्त और कफ–शरीर के इन तीन दोषो के असंतुलन से होने वाला रोग।

३ कर्मज रोग।

हृदय-परिवर्तन के सूत्र (१)

विश्व का समूचा विकास, सभ्यता और संस्कृति का पूरा विकास, परिवर्तन का विकास है। जो जैसे है वैसे ही रहे तो विकास संभव नहीं होता। मेरे सामने लोग कपडे पहने बैठे हैं। रूई पौधे पर लगी, रूई बनी, धागा बना और कपडा बना। रूई पहने हुये कोई नहीं है। सारा परिवर्तन हुआ है। कच्चा माल सामने आया, पक्का बना। रूई से धागा बना, धागे से कपडा बना, तो कपडे पहने हुये बैठे हैं। अगर रूई को ही पहने होते तो काम बनता नहीं। धागो को तो पहना ही नहीं जा सकता। कपडे से सर्दी रुकती है, गर्मी का बचाव होता है, आंधी और वर्षा से बचा जा सकता है। इसके पीछे पूरे परिवर्तन की कहानी है। रोटी खाते हैं पर कोरे गेहू नहीं चबाते। कोरे चने नहीं चबाते, रोटी बनाकर खाते हैं। पूरा परिवर्तन होता है उसके बाद घी खाते हैं, मक्खन खाते हैं। कितना करना पडता है ? दूध को जमाना पडता है। दही को बिलौना होता है, तब मक्खन मिलता है, घी मिलता है। तो हमारे जीवन की सारी प्रक्रिया, पदार्थ के विकास की सारी प्रक्रिया, परिवर्तन की प्रक्रिया है, बदलाव की प्रक्रिया है। जो जैसे है वैसे नहीं रहता, हर वस्तु को बदलना होता है।

मनुष्य अपनी परिस्थितियो को बदलता है और वातावरण को भी बदलता है। वातावरण को ऐसे ही नहीं छोड देता। परिस्थिति को, जो जैसे है, वैसे ही नहीं छोड देता, उसे बदलने का प्रयत्न करता है। मनुष्य का पूरा पुरुषार्थ और पूरा प्रयत्न बदलने मे लगा है और वह आगे बढा है। यदि बाहरी परिस्थिति को न बदला जाये तो काफी कठिनाइया झेलनी पडती हैं। मनुष्य ने बाहरी परिस्थिति को बदलने का भी उपक्रम किया है, बाहर के वातावरण को भी बदलने की चेष्टा की है। यदि अन्धकार को नहीं बदला जाता तो प्रकाश उपलब्ध नहीं होता। प्रकाश से रात मे भी दिन हो जाता है। रात मे भी दिन होता है मनुष्य के पुरुषार्थ के द्वारा और बदलने के द्वारा। मनुष्य ने कितने प्रयत्न किए हैं ! कभी पत्थरो से आग जलाई, कभी अरणी की लकडी से आग जलाई और कभी बिजली जलाई। साधनो के परिवर्तनो के द्वारा वह अन्धकार को भी प्रकाश मे बदल देता है। अन्धकार एक परिस्थिति है। उस परिस्थिति को बदलने का प्रयास किया, प्रकाश उपलब्ध हो गया। बाहरी

वातावरण को बदलने का प्रयत्न हुआ है, इसीलिए आदमी गर्मी मे सर्दी की स्थिति पैदा कर सकता है। ये सारे पंखे, कूलर इसीलिए तो बने कि सर्दी की परिस्थिति को बदल दिया जाए। यह हीटर इसीलिए तो बना कि सर्दी की परिस्थिति को बदल दिया जाए, गर्मी मे सर्दी और सर्दी मे गर्मी। मौसम की एकरूपता बना दी जाए। यह सारा विकास बदलने का विकास है। मनुष्य ने बाहरी परिस्थिति को बदलने मे काफी प्रयत्न किया है। उसने उसे बदला है और बहुत हद तक सफल भी हुआ है। जिसकी संभावना और कल्पना नहीं थी, उस स्थिति को भी वह बदल चुका है और आगे बढ रहा है।

दूसरा प्रश्न आता है, आन्तरिक परिस्थिति को बदलने का। बाहरी परिस्थिति के बदलाव मे जितनी सफलता मिली है उतनी सफलता आन्तरिक परिस्थिति के बदलाव मे अभी नहीं मिली है। रसायनों को बदला जा सकता है। अन्त स्रावी ग्रन्थियों से जो झरते हैं वे रसायन बदले जा सकते हैं, किन्तु उन्हे बदलने मे अभी डॉक्टरों को भी सफलता नहीं मिली है। मेडिकल साइन्स में यह माना गया है कि अन्त.स्रावी के स्रावो में परिवर्तन करने के पर्याप्त साधन अभी उपलब्ध नहीं हुए हैं। उन्हें नहीं बदला जा सकता। भावों को नहीं बदला जा सकता, विचारो को नहीं बदला जा सकता। अभी बडी कठिनाइयां है। मनुष्य आन्तरिक परिस्थिति को बदलने में अपने आपको अक्षम अनुभव करता है और एक बहुत बडा बहाना मिल जाता है कि हम क्या करे ? बुरे विचार आते हैं पर क्या करें यह तो नियति की बात है, बुरे भाव आते है, हम क्या करे, हमारे वश की बात नहीं। बुरी कल्पनाए आती हैं, हमारा कोई वश नहीं। आदमी अपने आपको अवश-सा अनुभव करता है और एक बहाना भी बहुत अच्छा है कि बुरा-अच्छा जो जैसा होता है वैसा नियति से होता है, भीतर की प्रेरणा से होता है, उसमें हमारा तो कोई नियंत्रण नहीं है। क्यो दोष दिया जाये ? एक चोर को क्यों दोषी माना जाए ? एक डाकू को, लुटेरे को क्यो दोषी माना जाए ? वह बेचारा करता क्या है? जैसे उसकी भीतरी प्रेरणा होती है, जैसा उसका भीतर का रसायन होता है वैसा व्यवहार और आचरण उसे करना होता है, तो फिर उसे क्यो दोषी माना जाये ? उसकी विवशता है, उसके वश की बात नहीं है। यह एक बहाना मिल जाता है। और बहाना खोजना तो आदमी बहुत जानता है। बहाना खोजने मे तो आदमी इतना सिद्ध-हस्त है कि हर बात मे वह बहाना खोज ही लेता है।

एक आदमी बैठा था। गांव मे मन्दिर बन रहा था सब लोगो ने निर्णय लिया कि मन्दिर बनाना है, पर मजदूरो की जरूरत नहीं। गांव के सब लोग अपना श्रम लगायेगे और मन्दिर का निर्माण करेगे। सारा गाव मन्दिर के

निर्माण मे जुट गया। एक आदमी निकम्मा बैठा है। दूसरे लोग पहुंचे। उन्होने कहा–'तुम्हे पता नहीं मन्दिर बन रहा है और सबको काम करना है! चलो, मन्दिर के काम मे लगे।' वह बोला–'क्या करू, सबके पेट भरे हैं पर मेरा पेट खाली है, मैं कैसे काम कर सकता हू। भला, खाली पेट वाला आदमी कैसे काम करेगा ? कैसे अपनी शक्ति लगायेगा ? पेट खाली है।' लोगो ने कहा–बेचारा ठीक कहता है, पेट खाली है तो काम कैसे करेगा ? श्रमिक का तो और ज्यादा खाने को चाहिये। उसे पेट भरकर रोटियां खिला दी। उसने डटकर रोटियां खा ली। तब फिर कहा गया–चलो, काम मे चले। वह बोला–मैं कैसे जा सकता हू! मैं तो अब काम नहीं कर सकता। पेट इतना भर गया कि काम करने की स्थिति मे नहीं हू।

पेट खाली है तो भी काम करने की स्थिति मे नहीं है, पेट भर गया तो भी काम करने की स्थिति मे नहीं है। आदमी बहाना खोज सकता है। दोनों ओर हमारे बहाने हैं। दाये भी बहाना है, बाये भी बहाना है। आगे भी बहाना है और पीछे भी बहाना है। बहाना खोजा जा सकता है। पर जो व्यक्ति विकास की अवस्था मे जाना चाहता है वह ब्रहानेबाजी नहीं करता, वह प्रयत्न करता है। ऐसे कम लोग होते हैं जो प्रयत्न करते हैं। गीता का एक बहुत सुन्दर वाक्य है–**'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये'**–हजारो मनुष्यो मे कोई एक ऐसा निकलता है जो सिद्धि के लिए प्रयत्न करता है। आप यह न मानें कि सिद्धि दुर्लभ होती है। हर आदमी सिद्धि को पा सकता है। हमारे सामने साध्य है, साधन है, तो सिद्धि हो सकती है। साध्य, साधन और सिद्धि–यह त्रिवेणी जुडी हुई है। इसको अलग नहीं किया जा सकता। जिस आदमी ने कोई साध्य बना लिया, ठीक साधन चुन लिया तो सिद्धि अवश्य मिलेगी। सिद्धि के लिए ज्यादा चिन्ता की जरूरत नहीं होती। चिन्ता करने की जरूरत होती है साध्य और साधन की। सिद्धि तो परिणाम है। वह तो अपने आप होने वाला है। हम परिणाम के लिए सोचते हैं, यह हमारी समझदारी नहीं है। हमे परिणाम की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। अभी-अभी एक भाई मेरे पास आया। आकर बोला कि अमुक बीमारी है। क्या ध्यान करने से लाभ हो सकता है ? बहुत बार यह प्रश्न आता है। मैं मन ही मन सोचता हूं और कभी-कभी कहता भी हू कि यह शिविर-स्थल कोई चिकित्सालय तो नहीं है, हॉस्पिटल तो नहीं है, पर मानता हूं कि जो बीमारिया हैं वे यहा ठीक हो सकती हैं। मन ठीक है तो बीमारी भी ठीक होने लग जाती है, हो भी जाती है, और हो ही जाती है। तीनो स्थितिया बनती हैं। सबसे पहली बात है कि मन ठीक कैसे बने ? हमारी आन्तरिक स्थिति कैसे बदले ? अगर

आन्तरिक स्थिति बदलती है तो बाहरी परमाणु भी बदलने लग जाते हैं। समस्या है आन्तरिक स्थिति बदलने की। हम बहुत बार बाहर मे कारण नहीं खोज पाते, कारण भीतर मे होता है।

कुत्ता मिला, आदमी दौड़ने लगा। आगे-आगे आदमी दौडता है और पीछे-पीछे कुत्ता दौडता है। ऐसा एक बार नहीं होता बहुत बार होता है। खोजा गया कि कारण क्या है ? आगे आदमी दौडता है और पीछे कुत्ता दौडता है। इसका कोई कारण तो होना चाहिये। एक वैज्ञानिक खोज हुई। बडी महत्त्वपूर्ण खोज हुई। वैज्ञानिको का कहना है कि आदमी डर के मारे दौडता है, वह कुत्ते से डर कर दौड रहा है। जब डर की स्थिति में होता है तो एड्रीनल ग्रन्थि बहुत सक्रिय हो जाती है। एड्रीनल का स्राव ज्यादा होने लग जाता है और जैसे ही एड्रीनल ग्रन्थि का स्राव ज्यादा होता है तो उसकी गन्ध चारों तरफ फैलती है। कुत्ता तो गन्ध को बहुत दूर से पकडता है। कुत्ते जितनी प्रबल घ्राणशक्ति किसी की नहीं होती। कुत्ते की घ्राणशक्ति इतनी प्रबल होती है कि वह गन्ध के सहारे सैकडो माइल तक चला जाता है। आज के कुत्तो का उपयोग होता है अपराधियो को पकडने मे, हत्यारों को पकडने मे और वे पकडते हैं। आदमी नहीं पकड पाता। कुत्ते पकड लेते हैं गन्ध के सहारे। उसमे गन्ध-विश्लेषण की शक्ति है। अपराध के स्थान पर जो गन्ध है वह किस आदमी की गन्ध है, उस गन्ध को पकडते-पकडते वे कुत्ते अपराधी को पकड लेते हैं और अपराधी के पास जाकर घूमने लग जाते हैं, चक्कर काटने लग जाते हैं। बडी तेज होती है उनकी घ्राणशक्ति। आदमी जैसे-जैसे भागता है एड्रीनल ग्रन्थि का स्राव ज्यादा होता है। गन्ध फूटती है और उस गन्ध के सहारे-सहारे कुत्ता भी दौडता है। अब बाहरी कारण खोजें तो पता नहीं चलेगा। कारण की खोज भीतर मे करनी होगी। बाहरी कारण तो ऐसा ही लगता है कि कुत्ता काटने दौडता होगा। आदमी इस डर से भागा जा रहा है कि कुत्ता काटने आ रहा है और कुत्ता इस प्रलोभन से भाग रहा है कि बडी अच्छी गन्ध आ रही है। एक के सामने प्रलोभन है, दूसरे के सामने भय।

दुनिया में दो ही तो अपराध है। एक भय का अपराध और दूसरा प्रलोभन का अपराध। कोई आदमी डर कर काम कर रहा है और कोई आदमी लालच से काम कर रहा है। हमारी प्रेरणाएं, सारी सामाजिक प्रेरणाए, इन दो सीमाओ मे काम कर रही हैं। कुछ लोग डर के मारे काम कर रहे हैं। अगर डर की प्रेरणा समाप्त हो जाये, उनका कार्य भी समाप्त हो सकता है। कुछ आदमी प्रलोभन के वश काम कर रहे हैं। प्रलोभन है कि यह मिल जाये, वह मिलजाये, प्रलोभन से काम कर रहे हैं। ये दोनों प्रेरणाए काम कर रही हैं।

हमें अपनी परिस्थितियो की भीतरी कारण भी खोजने होगे। हमारे सारे व्यवहारो के भीतरी कारणो को खोजना होगा। एक आदमी क्रोध कर रहा है। एक आदमी प्रेम प्रदर्शित कर रहा है। एक आदमी भय से भीत हो रहा है, डरा जा रहा है, अकारण ही डरा जा रहा है। एक आदमी गालिया बक रहा है। एक आदमी चुगली कर रहा है। एक आदमी जाने-अनजाने मन से बेचैन हो रहा है। कोई कारण नहीं। उदास, खिन्न, बेचैन, बिना कारण निराश होकर चला जा रहा है। ये जो सारे व्यवहार है, इन व्यवहारो की व्याख्या केवल बाहरी परिस्थितियो के आधार पर नहीं की जा सकती। इन सारे व्यवहारों की व्याख्या करने के लिए भीतरी परिस्थितयो को भी जानना जरूरी होता है, किन्तु बाहरी परिस्थितियो के साथ-साथ आन्तरिक परिस्थितियो को जानना ज्यादा जरूरी होता है। ये सारे व्यवहार बाहरी परिस्थितियो से भी प्रभावित होते हैं, किन्तु ज्यादा प्रभावित होते हैं हमारी आन्तरिक परिस्थितियो से और जब तक आन्तरिक परिस्थितियो का बोध हमे नहीं होता तब तक इन व्यवहारो की व्याख्या नहीं हो सकती और उन्हे बदला नहीं जा सकता। हर आदमी बदलना चाहता है, बेचैनी को दूर करना चाहता है, बहुत प्रसन्न रहना चाहता है, निराशा को दूर करना चाहता है, तनाव को दूर करना चाहता है। डरना कोई नहीं चाहता। एक भाई ने बताया कि मुझे डर लगता है तो सारे डर के ही सपने आते हैं। कभी बाघ दिखता है, कभी शेर दिखता है तो कभी भालू दिखता है, कभी नदी दिखती है। ऐसे लगता है कि नदी में डूबा जा रहा हूं। इतने भयकर सपने आते है। क्या करूं ? इन सपनो से अपना पिंड छुडाना चाहता हू। डरना कोई नहीं चाहता है। अपनी कमजोरी दूर करना चाहता है। मनोबल की कमी से बचना चाहता है। मन इतना कमजोर हो जाता है कि हर बात सामने भयकर लगने लगती है। छोटी-सी समस्या, राई जितनी समस्या होती है, ऐसा पहाड खडा हो जाता है। कि घुटने टिक जाते हैं, पर बदलें कैसे ? बदलने के लिये पहले तो आन्तरिक परिस्थितियो को जानना जरूरी होता है कि कौन-सी परिस्थिति किस प्रकार के वातावरण का सृजन कर रही है ? फिर बदलने का उपक्रम करना जरूरी होता है।

भाव का परिवर्तन, विचार का परिवर्तन और रसायन का परिवर्तन—ये तीन आन्तरिक परिवर्तन है। पहले भाव का परिवर्तन करना होगा। भाव बदलेगा तो विचार बदलेगा। विचार से भाव नहीं बनता किन्तु भाव से विचार बनता है। कुछ लोग गलत व्याख्याए कर देते है। मैने अभी पढा, आज ही पढा कि आदमी का विचार बनता है और विचार से भाव बनता है। बडी उल्टी

बात हो गई कि पहले बेटा जन्म लेता है और फिर बाप जन्म लेता है। पहले बेटा जन्मेगा और फिर बाप जन्मेगा ? यह कैसे संभव होगा? भाव विचार को पैदा करता है। विचार भाव को कैसे पैदा करेगा ? भाव हमारे अन्तर्तम से आने वाला एक स्रोत है। भीतर से आता है। अच्छा भाव, बुरा भाव, कृष्ण लेश्या का भाव, तेजोलेश्या का भाव और शुक्ल लेश्या का भाव। यह भीतर से आता है। जिस प्रकार का भाव होता है मन को वही भाव मिलता है और वैसा ही विचार होने लग जाता है। भाव जनक है विचार का, न कि विचार जनक है भाव का। पर गहराई मे गये बिना, बहुत बार ऐसा होता है कि कभी-कभी गलत स्थापनायें भी हम प्रस्तुत कर दिया करते हैं। जब भाव बदलेगा, अन्तर्तम बदलेगा तो फिर विचार भी बदलेगा, मन भी बदलेगा और मन बदलता है तो आन्तरिक रसायन भी बदलते हैं। रसायनों को बदलने के लिए भावो को बदलना और मन को बदलना, यानी विचारो को बदलना बहुत जरूरी होता है। तीनों का सम्बन्ध जुडा हुआ है। पीनियल ग्लैंड से, पिच्युटरी ग्लैड से एक प्रकार का रसायन स्रावित हो रहा है। अगर हम भाव का परिवर्तन कर देते हैं तो दूसरे प्रकार का स्राव होने लग जाता है। अगर हम विचार का परिवर्तन करते हैं तो दूसरे प्रकार का स्राव होने लग जाता है। यह न माने कि सभी ग्रन्थियां व्यक्ति मे होती हैं। हर व्यक्ति के पास एड्रीनल है, थाइरॉयड है, पिच्युटरी है, पीनियल है, गोनाडस् है। ग्रन्थियां तो सब एक प्रकार की हैं, पर इनके स्राव एक प्रकार के नहीं होते। हर व्यक्ति के भिन्न-भिन्न प्रकार के स्राव होते हैं। उनसे व्यक्ति का भाव बदलता है, विचार बदलता है। एक व्यक्ति का स्राव दूसरे व्यक्ति से मिलता नहीं है। दो व्यक्तियों के स्राव तो भिन्न होते ही हैं, एक व्यक्ति के स्राव भी भिन्न हो जाते हैं। भगवान् महावीर ने लेश्या के सिद्धान्त मे एक बहुत महत्त्वपूर्ण प्रतिपादन किया–'असंखेज्जाइं ठाणाइं'–लेश्या के असख्य स्थान होते हैं। एक दो नहीं, हजार नहीं, लाख और करोड नहीं, अरब और खरब नहीं, असख्य। जहा सख्या समाप्त हो जाती है, इतने स्थान होते है, इतने उतार-चढाव होते हैं। असख्य उतार और चढाव। हम जितने प्रकार के भाव करेगे, हमारे स्राव भी उतने हो जायेगे। जब लेश्या के असंख्य स्थान हैं तो हमारी ग्रन्थियो के रसायन भी असंख्य प्रकार के हो जायेगे। डाक्टरों ने वर्गीकरण किया है, उनकी गिनती की है कि पिच्युटरी के स्राव कितने होते हैं ? सारी संख्या निर्धारित की है, पर बहुत अधूरी बात है। मेडीकल साइन्स मे भी यह माना जाता है कि स्राव इतने ही नहीं होते। महावीर की वाणी मे भी यह माना जाता है कि स्राव इतने ही नहीं होते। महावीर की वाणी में ये स्राव असंख्य प्रकार

के हो सकते हैं। जितने भावो के स्राव, उतने ही रसायनों के स्राव। दोनो बराबर होगे, कोई अन्तर नहीं होगा। रसायनो का परिवर्तन करने के लिए परिवर्तन करना होता है, विचारो का और विचार का परिवर्तन करने के लिए परिवर्तन करना होता है भावो का। जब भाव-परिवर्तन की कुंजी हमारे हाथ लग जाती है तो आन्तरिक-परिवर्तन की दिशा मे हमारा प्रस्थान-तीव्र गति से होने लग जाता है।

प्रश्न है भाव को कैसे बदले ? यह बहुत बडा प्रश्न है। परिवर्तन की बात मैंने कह दी और शायद सब लोग भी कहते हैं कि विचारो को बदलो। भावों को बदलो। आखिर कैसे बदले ? प्रश्न तो यह है। यह कहना तो बहुत सरल बात है कि आप अच्छे आदमी बने, ईमानदार बने। प्रामाणिक बने। सच्चे आदमी बने। बडे प्रसन्न रहे। अच्छे सिद्धान्तो का प्रतिपादन करना इतना सरल है कि उतना सरल तो रोटी बनाना भी नहीं है। रोटी बनाने मे तो बहुत दिक्कते हैं। बहिनो से पूछा जाये कि रोटी बनाना कितना कठिन होता है ? बहुत जटिल काम है रोटी बनाना। भावो का परिवर्तन करें, यह कहना तो बहुत सरल है। सिद्धान्त का प्रतिपादन कम्प्यूटर और टेपरेकार्ड भी कर सकता है। दोहराना है। कठिनाई क्या होगी ? लिखा है, पढा है। दोहराना है। बहुत सरल बात है, किन्तु परिवर्तन कैसे करें, यह एक जटिल प्रक्रिया है। बहुत महत्त्वपूर्ण बात तो यही है कि परिवर्तन आखिर कैसे करे ? वहा हमे आन्तरिक परिस्थिति मे जाना होगा। जब रसायनो को बदलना है, अन्तःस्रावी ग्रन्थियो के रसायनो को बदलना है, जो हमारे व्यवहार को प्रभावित करते हैं तो हमे एक प्रक्रिया मे से गुजरना होगा। वह एक अनुस्यूत प्रक्रिया कहा जाता है। आश्रव को बदले बिना भावो को नहीं बदला जा सकता। पुरानी भाषा समझने मे कठिनाई होती है। दो हजार, तीन हजार वर्ष के बाद भाषा और शब्द इतने बदल जाते है कि उसमे छिपा हुआ तत्त्व हमारी पकड मे नहीं आता, समझ मे नहीं आता। आदमी वर्तमान की भाषा से बहुत परिचित होता है। वर्तमान की शब्दावली का अर्थ उसे ज्ञात होता है। वह उसे सहजता से पकड सकता है। पुरानी बात सीधी पकड मे नहीं आती। यही तो करना होता है। ध्यान के द्वारा हमे यही तो खोजना होगा कि पुरानी शब्दावली मे जो सत्य खोजा गया था और बताया गया था उस सत्य को आज की भाषा मे कैसे ढाल सके, कैसे पकड सके और कैसे प्रस्तुत कर सके। यह स्पष्ट है कि ध्यान एक बहुत बडा माध्यम है खोज का, अन्तर की खोज का, छिपे हुए तत्त्व के प्रकाशन का। जो बात छिप गई, गूढ बन गई, गुप्त हो गई, उस गूढ बात को गूढता से ही खोजा जा सकता है, गुप्ति को गुप्ति से ही खोजा जा सकता है। यह एक महत्त्वपूर्ण सिद्धात है कि गुप्ति की खोज गुप्ति से ही

की जा सकती है। गुप्ति का अर्थ है--छिपा हुआ। जो सत्य गुप्ति हो गया, उसे खोजना है। एक शस्त्र का नाम भी है--गुप्ति। नाम ही गुप्ति है। दीखने में तो डडा-सा लग रहा है। हाथ में ऐसा लगता है कि डंडा है और भीतर शस्त्र छिपा हुआ है। इतना तेज शस्त्र छिपा हुआ है कि प्रहार किया जाये तो आदमी का तो कायाकल्प। अब गुप्ति को कैसे खोजा जाये ? कैसे पता लगाया जाये? गुप्ति को खोजने के लिए गुप्ति करनी जरूरी है। गुप्तियां तीन हैं--शरीर की गुप्ति, वाणी की गुप्ति और मन की गुप्ति। शरीर को गुप्त किया, वाणी को गुप्त किया और मन को गुप्त किया, तीनो की इस चचलता की सीमा से हटकर एकाग्रता की सीमा मे प्रविष्ट कर दिया, गुप्ति हो गई और गुप्ति के द्वारा गुप्ति को खोजने मे सुविधा हो गई। चंचलता के द्वारा आज तक कोई सत्य नहीं खोजा गया। दुनिया मे जितना सत्य खोजा गया, अचंचलता के द्वारा खोजा गया। चाहे वैज्ञानिक सत्य हो, चाहे दार्शनिक सत्य हो, चाहे व्यावसायिक सत्य हो, जिन मनुष्यो ने सत्य की खोज की है, जिन्होने कुछ खोजा है, उन्होने एकान्त की स्थिति मे खोजा है, निर्विचारता की स्थिति मे खोजा है। बडे-बडे वैज्ञानिक-सत्य निर्विकल्पता की स्थिति मे ही खोजे गये हैं।

आइस्टीन से पूछा गया 'सापेक्षता का सिद्धान्त' आपने कैसे खोजा ? उन्होने कहा--"मुझे नहीं पता। एक दिन मैं उद्यान मे टहल रहा था। अचानक मुझे अनुभव हुआ कि मन की गहनता मे कुछ उतर रहा है।" क्या न्यूटन ने गुरुत्त्वाकर्षण का सिद्धान्त किसी विचार से खोजा था ? कोई विचार नहीं था केवल दर्शन से खोजा। देख रहा था, देखा, सेब का गिरना देखा और सिद्धांत अन्तर्‌तम मे उतर गया। ये जितनी बडी खोजें होती हैं, उतरती हैं, ये विचार से नहीं आती। विचार करते-करते तो आदमी थक जाता है, हैरान हो जाता है। विचार तो तनाव पैदा करता है और तनाव से भरा हुआ आदमी सत्य को कैसे खोज पायेगा ? जब आदमी तनाव से मुक्त होता है, उस समय मे ऐसी कोई आन्तरिक स्फुरणा होती है कि बडी से बडी बात अचानक सरलता से सामने आ जाती है।

आन्तरिक परिस्थिति को बदलने का पहला सूत्र है--चंचलता को दूर करना। चंचलता एक आश्रव है। सबसे बडा आश्रव, सबसे दूरगामी आश्रव। प्रमाद समाप्त हो जाता है, कषाय समाप्त हो जाता है, प्रिय और अप्रिय का भाव समाप्त हो जाता है, पर चचलता समाप्त नहीं होती।

एक बहुत मनोरंजक प्रश्न गौतम ने पूछा भगवान से--'भते!' जो वीतराग बन गया, अप्रमत्त और कषाय बन गया, सर्वज्ञ बन गया, सब कुछ जानता है, उस केवली ने एक हाथ रखा आंगन पर। क्या दूसरी बार उसी स्थान पर वह अपना हाथ रख सक़ता है ?

भगवान ने कहा–'नहीं।'

बडी अजीब बात है, जो आंगन के कण-कण को जानता है, अणु-अणु को जानता है, केवली से अपने हाथ का एक भी अणु छिपा नहीं, पहली बार हाथ रखा, दूसरी बार उसी स्थान पर वह हाथ नहीं रख सकता ? कितना अजीब प्रश्न है ! कितना अजीब उत्तर दिया महावीर ने–'नहीं रख सकता।' बात समझ मे नहीं आई।

गौतम ने फिर पूछा–'भन्ते ! यह कैसे ? केवली कैसे नहीं रख सकता? एक छद्मस्थ है, असर्वज्ञ है, अवीतराग है, जिसमे कषाय है, प्रमाद है, भूल कर सकता है, विस्मृति हो सकती है, अज्ञान के कारण उस स्थान का ठीक पता नहीं लगा सकता, पर केवली कैसे नहीं रख सकता?'

महावीर ने उत्तर दिया–'वह जानता तो है, पर चचलता अभी तक समाप्त नहीं हुई है। शरीर मौजूद है। जब तब यह शरीर है, तब तक चंचलता है। शरीर की चंचलता समाप्त नहीं हुई, इसलिए केवली सब कुछ जानता हुआ भी दूसरी बार उसी स्थान पर हाथ नहीं रख सकता।'

हमारी चचलता अन्तिम समय तक रहती है। सारी स्थितियां समाप्त हो जाती हैं, सारे व्यवधान समाप्त हो जाते हैं, दृष्टिकोण भी मिथ्या दृष्टिकोण नहीं रहता, सम्यक् दृष्टिकोण बन जाता है, अतृप्ति भी समाप्त हो जाती है, अविरति समाप्त हो जाती है, प्रमाद भी समाप्त हो जाता है, कषाय, राग और द्वेष, प्रियता और अप्रियता के सवेदन भी समाप्त हो जाते हैं, इन सबके समाप्त हो जाने पर भी जब तक शरीर की चंचलता समाप्त नहीं होती तब तक पूरा काम नहीं बनता, सिद्धि नहीं मिलती। साध्य और साधना मिल जाने पर भी तब तक सिद्धि नहीं मिलती जब तक चचलता समाप्त नहीं होती।

हम यदि आन्तरिक अवस्था का परिवर्तन चाहते हैं तो हमे साध्य का निश्चय करना होगा, साधना का निश्चय करना होगा। सिद्धि के लिए चिंता करने की कोई आवश्यकता नहीं है। वह तो स्वयं होने वाली है। हमारा साध्य होगा परिवर्तन। यानी परिस्थिति का परिवर्तन और चेतना का परिवर्तन। परिस्थिति को बदलना, आन्तरिक वातावरण को बदलना और चेतना को बदलना। परिस्थिति बदलेगी तो चेतना तो अपने आप बदली हुई है। चेतना मे जितने भी दोष आये हैं, सारे परिस्थिति के कारण आये हैं। परिस्थिति बदल जायेगी तो चेतना अपने आप मे प्रकट हो जायेगी। दूसरे शब्दो में कह दे कि बदल जायेगी। वास्तव मे बदलना कुछ भी नहीं है। वह तो जैसी है वैसी रहेगी, पर जो निमित्त के कारण कुछ हुआ था वह बदल जाएगा। तर्कशास्त्र का एक नियम है–'निमित्ताऽभावे नैमित्तिकस्याप्यभाव' निमित्त का अभाव होने पर नैमित्तिक का भी अभाव हो जाता

है। निमित्त बदलेगा तो जिस निमित्त से चेतना की अवस्था बदली थी वह अवस्था भी बदल जाएगी, चेतना अपने आप मे प्रतिष्ठित हो जायेगी।

हमारा साध्य है चेतना का परिवर्तन और आन्तरिक निमित्तो का परिवर्तन। साधन होगा चंचलता का परिवर्तन। पहला साधन है—एकाग्रता, स्थिरता। यह सबसे पहला साधन होगा। प्रेक्षाध्यान का अभ्यास शुरू किया और यदि शरीर की उतनी ही चंचलता, वाणी की उतनी ही चंचलता और मन की उतनी ही चचलता बनी रही, कोई भी परिवर्तन शुरू नहीं हुआ तो मान लेना चाहिए कि ध्यान की पकड हुई नहीं, ध्यान पकड मे नहीं आया। परिवर्तन शुरू होना चाहिए। यह तो मैं नहीं कहता कि एक दिन मे ही स्थिरता के बिन्दु तक पहुंच जाएं, पर कुछ न कुछ परिवर्तन शुरू हो जाना चाहिए। जैसे मन की चंचलता मे परिवर्तन होता है वैसे ही वाणी की चचलता मे भी परिवर्तन होना चाहिए। बिना बोले जो बेचैनी आती थी, वह थोडी तो कम होनी चाहिए। बिना बोले उमस आती थी और जी मे घबराहट होने लगती थी, उसमे थोडा बहुत तो परिवर्तन शुरू होना चाहिए। बिना बोले भी रहा जा सकता है। मुनि हो या गृहस्थ, चंचलता की बीमारी तो सबको सताती है। यह बड़ी भयंकर बीमारी, बड़ी दूर तक जाने वाली बीमारी है। यह साधु बन जाने मात्र से छूट जाने वाली बीमारी नहीं है और यह चचलता की बीमारी तो आगे तक चले जाने पर भी छूट जाने वाली बीमारी नहीं है। थोडा बहुत परिवर्तन होना चाहिए। पहला साधन होगा चंचलता की कमी।

परिवर्तन का दूसरा साधन होगा—प्रिय-अप्रिय सवेदनों मे कमी करना। यह बहुत महत्त्वपूर्ण साधन है। यदि चीनी में भी उतना ही रस, नमक मे भी उतना ही रस, खाने मे भी उतना ही रस, नींद मे भी उतना रस—ये सारे रस बने रहे, प्रिय-अप्रिय सवेदनो में परिवर्तन नहीं आया, लड़ाई मे भी उतना ही रस, उत्तेजना मे भी उतना ही रस—ये सारे रस बने रहे तो ध्यान का अभ्यास नीरस लगेगा, फीका लगेगा। खाना, पीना, सोना, लडना, झगड़ना—ये बड़े रसवान लगेगे। ऐसा रस टपकेगा कि वैसा रस अन्यत्र दुर्लभ है। सारे रस बदलने चाहिए। हमारा दूसरा साधन होगा कि जो रसवान है उसमें नीरसता का अनुभव जागे और जो नीरस—नीरस सा लग रहा है उसमे रस का अनुभव जागे, रस की चेतना जागे। यह रस का परिवर्तन, आकर्षण का परिवर्तन बहुत महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है।

हृदय-परिवर्तन के सूत्र (२)

अभी हम लोग मन्दिर के प्रागण मे बैठे ध्यान कर रहे थे। ध्यान करते समय मेरे मन मे एक प्रश्न उठा—इतना प्रयत्न क्यों ? इतना समय क्यो लगाये? क्या होगा? क्या करना है ? केवल एक ही काम करना है मन को सुलझाये। समस्याये बहुत है। हमारी यथार्थ की दुनिया मे असंख्य समस्याये है और हम केवल मन के पीछे दौड लगा रहे हैं। इसका परिणाम क्या होगा ? फिर समाधान मिला कि सारी समस्याओं से बडी समस्या है—चचलता। एक माता ने कहा—"मेरा बेटा बहुत चंचल है।" चंचल बेटा माता के लिए पेरशानी का करण बनता है। वह माता को परेशान कर देता है। माता चाहती है चचलता मिटे। चंचलता बुरी बात ही नहीं होती चंचलता जरूरी भी होती है। यदि पेड न हिले, पत्तियां न हिले तो गर्मी का अनुभव होगा। पत्तिया हिलती है, मन मे संतोष होता है कि हवा चल रही है और ठण्ड कर रही है। यदि मन न चले, बडी समस्या हो जाती है। मौन करना बहुत अच्छा है पर जो बच्चा बोलना शुरू नहीं करता तो माता-पिता सब चिन्तित हो उठते हैं कि दो वर्ष का हो गया, तीन वर्ष का हो गया, अभी बोल नहीं रहा है। डॉक्टरो के चक्कर लगने शुरू हो जाते हैं। चंचलता बेकार ही नहीं होती उसका भी अपना उपयोग होता है। शरीर न चले, बड़ी परेशानी हो जाती है। यदि अगुली न हिले, पैर न हिले तो आदमी सोचता है कि क्या हो गया ? कहीं पक्षाघात तो नहीं हो गया ? बडी कठिनाई हो जाती है। बहन ने ध्यान किया और ध्यान की गहराई में चली गई। जब ध्यान पूरा हुआ पैर नहीं हिले, हाथ नहीं हिले, लोग घबडा गए आस-पास वाले। क्या हो गया ? कुछ भी नहीं हुआ था। पर चचलता बहुत जरूरी मानी जाती है, व्यर्थ नहीं पर चचलता का एक बिन्दु है, निश्चित बिन्दु। एक सीमा तक चचलता जरूरी है और सीमा के बाद चंचलता को कम करे और इसीलिए करे कि हमारा साध्य सिद्ध हो सके। मन की ज्यादा चंचलता होती है तो साध्य सिद्ध नहीं होता। हृदय-परिवर्तन हमारा साध्य है। हम हृदय को बदलना चाहते है। जब तक चचलता कम नहीं होती, हृदय का परिवर्तन कैसे होगा ? एक बात कही, यह काम करो यह मत करो। बात सुन ली, पर मन इतना चचल है कि तरगे उठीं, इतनी तरगे उठीं कि जो सिद्धात पढा था, जो बात सुनी थी, वह तो कहीं रह गई, चचलता की ओट मे छिप गई और आदमी कहीं आगे चला गया। कोई भी सिद्धात तब

तक क्रियान्वित नहीं होता जब तक चचलता कम नहीं हो जाती। कोई भी समस्या तब तक समाधान नहीं पा सकती जब तक हमारी चचलता कम नहीं हो जाती। उस भूमिका के लिए आज बात नहीं कर रहे है जहां पूर्ण स्थिरता प्राप्त हो जाती है। एक वर्ष तक हिले-डुलेगे नहीं, प्रतिमा की भाति, बाहुबली जैसे एक वर्ष तक कायोत्सर्ग की मुद्रा मे खडे रहे, वैसे के वैसे खडे हो जाएगे, फिर चाहे आधी आए, तूफान आए, वर्षा आए, सर्दी हो, गर्मी हो, चाहे लताए उग जाएं और चाहे पक्षी घोसला बना ले, हम तो खडे के खडे रहेगे अडोल मूर्ति की भाति। यह असंभव कल्पना होगी। हर आदमी बाहुबली नहीं हो सकता, उतना स्थिर नहीं हो सकता। हम यह प्रयत्न नहीं कर रहे हैं कि मन बिलकुल समाप्त हो जाए, अमन बन जाए। अमन बनना तो अच्छा है। उर्दू की शब्दावली में अमन बहुत अच्छा है, और सस्कृत की शब्दावली मे भी अमन होना बडा अच्छा है। मन न होना, मन समाप्त हो जाना, किन्तु बडी मुश्किल हो जाएगी अगर अभी आप अमन बन जाए। यदि अमन बन जाएं तो शिविर के बाद कोई स्थिति नहीं होगी। न सोच सकेंगे, न कल्पना कर सकेंगे, न याद कर सकेगे। न पत्नी की याद होगी, न घर की याद होगी, न रास्ते की याद होगी। सारी यादे समाप्त। अमन होना कोई सहज साधना नहीं है, बडी कठिन साधना है। अगर हो जाए तो सारी जीवन की धारा बदल जाती है। गृहस्थी मे रहने वाला तो बडी कठिनाई का अनुभव करने लग जाता है। मन ही समाप्त हो गया, फिर क्या करे ? थोडी स्मृति कम होती है तो चिन्ता हो जाती है कि याद बहुत कम रहती है। बडी परेशानी होती है। तो भला, पूरा अमन बन जाए तब तो परेशानी का पहाड हो जाएगा। बडी कठिनाई है। न अवाक्, न अमन और न अशरीर। तीनो संभव नहीं हैं। फिर भी हम प्रयत्न करते है। हमारा पुरुषार्थ सारा का सारा इस दिशा में लग रहा है। सब काम छोडकर यहां बैठे है और सारी प्रक्रिया इस दिशा में चल रही है कि मन की चचलता कम हो, वाणी की चचलता कम हो, शरीर की चचलता कम हो। कायोत्सर्ग का अभ्यास, मौन का अभ्यास और एकाग्रता का अभ्यास—यह हृदय-परिवर्तन का पहला सूत्र है।

हम बहुत बार कहते है कि हृदय-परिवर्तन होना चाहिए। दण्ड-शक्ति का प्रयोग नहीं होना चाहिए, बल का प्रयोग नहीं होना चाहिए, हृदय बदलना चाहिए। हृदय को बदले बिना समस्या का समाधान नहीं होता। हृदय-परिवर्तन की बात तो बहुत करते हैं। सैद्धान्तिक चर्चा में हमारा रस है पर क्या यह संभव है ? प्रयोग किए बिना, अभ्यास किए बिना, हृदय बदल जाएगा ? लोग मानते हैं, हिसा से कुछ नहीं होना-जाना है। हिसा बहुत खराब है। अहिंसा

होनी चाहिए। हृदय बदलना चाहिए, पर हृदय बदलेगा कैसे ? आपने चचलता कम करने के लिए कोई अभ्यास ही नहीं किया, चचलता को मिटाने का कोई प्रयोग ही नहीं किया तो हृदय कैसे बदल जाएगा ? क्या कोरी बाते सुनते-सुनते हृदय बदल जाएगा? अगर बाते सुनते-सुनते, सिद्धांतो की चर्चा करते-करते हृदय बदलता तो आज सारा संसार अहिंसक बन जाता और सारी समस्याएं समाधान पा लेतीं, पर ऐसा होता नहीं है। यह हमारा मोह है, भ्रम है कि केवल सिद्धांत और तत्त्व चर्चा के आधार पर हृदय बदलना चाहते हैं और हिंसा से अहिंसा की प्रतिष्ठापना करना चाहते हैं, किन्तु अहिंसा की प्रतिष्ठा तब तक नहीं हो सकेगी जब तक चचलता को कम करने का अभ्यास नहीं किया जायेगा।

बहुत लोग अहिंसा के विकास की बात सोचते हैं। वे चाहते हैं और हृदय से चाहते हैं कि अहिंसा का विकास हो, आत्मानुशासन का विकास हो, उनकी प्रतिष्ठा बढे और सारा संसार अहिंसा और आत्मानुशासन के मार्ग पर चले। उनकी चाह बुरी नहीं है। चाह का अनुमोदन करना चाहता हूं। पर यह बहुत स्पष्ट है कि केवल चाह से, केवल सिद्धात से न हुआ, न होगा। न भूतम्, न भविष्यति। न अतीत मे हुआ, न भविष्य में होगा। हमे एक मार्ग पर चलना होगा। वह मार्ग है—चंचलता को कम करने का मार्ग। पहला मार्ग या साधन है—चचलता को कम करने का अभ्यास। कुछ लोग कहते हैं, ध्यान से क्या होना-जाना है ? कोई काम करे। ध्यान से क्या होगा ? बहुत अच्छी बात है, ध्यान से कुछ भी नहीं होगा। क्योकि प्रत्यक्षत. हमें यही दीखता है। करते तो कुछ भी नहीं, कोई उत्पादक श्रम नहीं, न रसोई बनाते हैं, न कपडा बुनते हैं, न और कोई काम करते हैं। कोई श्रम तो नहीं करते। केवल एक घटा भर बैठ जाते हैं, निकम्मे ही तो ठहरे। काम कहा रहा ? आखिर निकम्मे ही रहे। तो सहज ही प्रश्न होगा, ये लोग निकम्मे बैठे क्या कर रहे हैं ? काम तो वे लोग करते हैं जो मजदूर हैं, कडी धूप मे श्रम कर रहे हैं। काम वे लोग करते हैं जो ऑफिस मे बैठे हैं और पाच, सात, आठ घंटा लेखनी चलाते रहते हैं। ध्यान करने वाले तो कुछ भी नहीं करते। चंचलता काम है और अचचलता निकम्मापन है, स्थिर होकर बैठना निकम्मापन है। जब तक इस मिथ्या दृष्टिकोण का निरसन नहीं होगा तब तक समाज की समस्या का समाधान नहीं होगा। हमे सत्य को खोजना होगा। सत्य को खोजे बिना, सत्य को उपलब्ध किए बिना हमारी समस्याए नहीं सुलझ पाएगी। सत्य यही है कि हमारे जीवन मे निकम्मेपन का और काम करने का संतुलन होना चाहिए। निकम्मा बैठना, चचलता को कम करना, यह काम करने का सबसे बड़ा सूत्र

है। कार्य की सफलता का सूत्र है–निकम्मा हो जाना। वास्तव में ही निकम्मा हो जाना।

नदी के पार कुछ लोग आए। नौका को छोडा और पूछा, गांव कितनी दूर है ? लोगो ने बताया–चार मील। दो आदमी थे। एक के पास तो घोडा था, एक को पैदल चलना था। एक आदमी ने पूछा–भई ! सांझ तक पहुचना है, पहुंच जाएगे ? बहुत समझदार आदमी था जिससे पूछा गया। उसने कहा–'धीमे-धीमे चलोगे तो पहुच जाओगे।' अब जिसके पास घोडा था वह धीमे क्यों चलता ? जिसके पास घोडा नहीं था वह धीमे चलने लगा। जिसके पास घोडा था वह तेज दौड़ने लगा। चार माइल का रास्ता, ऊबड-खाबड पथरीला, कंटीला, झांड-झंखाड और बीच-बीच मे दलदल वाला। कीचड, बहुत कीचड। घोडा बहुत तेज दौडने लगा और आदमी जो पैदल था धीमे-धीमे संभल-संभल कर चलने लगा। घोडा तेज रफ्तार से दौडा जा रहा है। चलते-चलते ऐसा दलदल आया कि घोडे के पैर फिसले, घोडा गिरा, आदमी गिरा और उसी दलदल में उलझ गया। जो पैदल चल रहा था वह बहुत सभल-संभल कर धीमे-धीमे चल रहा था, सांझ होते-होते अपने गांव पहुंच गया और घोडे वाला दूसरे दिन सूर्योदय तक भी नहीं पहुंच पाया।

गणित की भाषा तो यही है कि जिसके पास तेज गति वाला घोडा है वह तो चार माइल, दस-बीस मिनट, आधा घंटे में पहुंच जाएगा। जो आदमी पैदल चल रहा है उसे तो चार माइल पहुंचने में घंटा भर भी लग जाएगा। हम गणित की भाषा मे सोचें तो घोडे वाला पहले पहुंचेगा और पैदल चलने वाला बाद मे पहुचेगा, किन्तु हमारे जीवन की भाषा मे सब जगह गणित नहीं चलता। गणित भी बहुत बार व्यर्थ हो जाता है। यथार्थ की भाषा में देखा जाए तो धीमे-धीमे चलने वाला तो पहुंच जाता है, और बहुत तेज चलने वाला लडखडा जाता है, बीच में ही रुक जाता है। कोरा काम करने की बात है, कोरी चंचलता की बात है वह गणित की भाषा में तो समस्या का समाधान लगती है किन्तु यथार्थ यह है कि जिस व्यक्ति ने चंचलता को कम करना नहीं सीखा, जिस व्यक्ति ने संभल-संभल कर चलना नहीं सीखा, उसके रास्ते में ऐसे अवरोध आते हैं कि वह लडखडा जाता है और बीच मे नई-नई समस्याएं पैदा कर लेता है। एक के बाद दूसरी और दूसरी के बाद तीसरी समस्या। समस्या का ऐसा लबा जाल हो जाता है कि वह बीच में ही लटकता रह जाता है। चंचलता को कम करना, लगता है कि निकम्मापन है, पर कार्य की सफलता का सबसे बडा सूत्र है यह। जिस व्यक्ति ने अपनी चंचलता को कम किया है वह कार्य मे ज्यादा सफल हुआ है। दस घंटा का काम पांच घंटे में

निपटाया जा सकता है यदि हमारी एकाग्रता है। यदि हमारी एकाग्रता नहीं है तो दो घटा का काम आठ घंटा मे भी नहीं निपटता और आठ दिन में भी नहीं निपटता। बाते चलती हैं, गप्पे चलती हैं, मन कहीं डोलता रहता है, काम वहीं का वहीं रह जाता है, कोरी लकीर रह जाती है, सारे चित्र गायब हो जाते हैं। बडी समस्या पैदा होती है। जिस व्यक्ति ने चंचलता को कम करने का अभ्यास नहीं किया, वह हृदय-परिवर्तन को समाहित नहीं कर सकता और उस भूमिका तक नहीं पहुच सकता।

दूसरा सूत्र है–प्रिय-अप्रिय सवेदनों की कमी। इसका तात्पर्य है–समता का विकास, सामायिक का विकास। सामायिक का विकास महत्त्वपूर्ण विकास है। सामायिक करना कोई साधारण घटना नहीं है। दाल-रोटी नहीं है कि जब चाहे खा ले। बहुत संयम करना होता है सामायिक मे। हमारे दाए हाथ की ओर प्रियता की धारा बह रही है, हमारे बाएं हाथ की ओर अप्रियता की धारा बह रही है। हमारी दाई आंख प्रियता को देख रही है। हमारी बाईं आंख अप्रियता को देख रही है। इन दोनो धाराओं के बीच मे चलना, दोनो धाराओं से बचकर चलना, दाएं को भी देखना और बाएं के प्रभाव से बचकर चलना, कितनी कठोर साधना होती है ? यह समता की साधना बहुत कठोर साधना है। उपवास करना इतना कठिन काम नहीं है। भूखे रहना इतना कठिन काम नहीं है। पानी न पीना भी इतना कठिन काम नहीं है, जितना कठिन है इन प्रिय और अप्रिय सवेदनो से बचकर रहना। इनमें मन उलझ जाता है, बडी समस्या होती है। जब ध्यान के द्वारा, कायोत्सर्ग के प्रयोग के द्वारा समता का विकास होता है, समता की चेतना जागती है, प्रिय-अप्रिय संवेदनों से मुक्त रहकर समता के क्षणो का अनुभव किया जाता है तो हृदय-परिवर्तन की बात आगे बढ जाती है। प्रिय-अप्रिय संवेदनो से बचना सहज सरल नहीं है। प्रियता की बात बार-बार सामने आती है। अपना प्रिय व्यक्ति आया और जो कुछ करना है कर दिया जायेगा, न न्याय का प्रश्न, न अन्याय का प्रश्न। इतना पक्षपात हो जाता है कि सारी बात धूमिल हो जाती है। सारे तर्क, सारी बुद्धि अपने प्रिय के समर्थन मे लग जाती है। जहां प्रियता के समर्थन में बुद्धि, तर्क और शक्ति का प्रयोग होने लगता है वहां सामायिक खण्डित हो जाती है, समता टूट कर चूर-चूर हो जाती है। बुद्धि, तर्क और शक्ति का प्रयोग जब अप्रियता के निरसन में लगता है, उसके खण्डन मे लगता है, तब भी हमारी सामायिक चकनाचूर हो जाती है। इस स्थिति मे हम कैसे कल्पना कर सकते हैं कि हृदय-परिवर्तन हो सकता है ?

अहिंसा जीवन मे उतर सकती है, असम्भव नहीं है। अभ्यास करना होगा। समता का अभ्यास किये बिना हृदय-परिवर्तन की कल्पना ही नहीं की

जा सकती। ध्यान की साधना समता की साधना है। जो व्यक्ति ध्यान की साधना कर लेता है वह सहज भाव से समता की भूमिका पर चला जाता है। लोग कहते है कि ध्यान में बैठना निकम्मा काम है, पर ध्यान मे बैठे बिना, ध्यान का प्रयोग किये बिना कोई भी आदमी न्याय नहीं कर सकता, कोई भी आदमी पक्षपात से मुक्त होने का विश्वास नहीं दिला सकता। यदि मेरे प्रति दूसरो के मन मे यह भावना हो कि अमुक व्यक्ति पक्षपात कर रहा है तो विश्वास टूट जायेगा, कोई विश्वास नहीं रहेगा। जब-जब समस्या को सुलझाने के लिए मध्यस्थता की बात होती है तो सबसे पहले देखा जाता है कि वह व्यक्ति मध्यस्थ है या नहीं ? पक्षपात से मुक्त है या नहीं, पक्षपात से ग्रस्त व्यक्ति को कोई भी मध्यस्थ नहीं बनाता। स्वयं पक्षपात मे रत रहने वाला व्यक्ति भी पक्षपात करने वाले को अपना मध्यस्थ नहीं बनाता। बडी विचित्र बात है कि मै पक्षपात में रहता हू पर मुझे किसी को मध्यस्थ बनाना है तो मैं सबसे पहले यह देखूगा कि अमुक पक्षपात करने वाला तो नहीं है न ? जब मुझे भरोसा होगा कि अमुक पक्षपात नहीं करता तो उसे मध्यस्थ बनाने की बात सोच सकता हूं।

हृदय-परिवर्तन का दूसरा महत्त्वपूर्ण साधन है—समता का अनुभव, समता का विकास और वह इस निकम्मेपन से ही पैदा होता है। इस निष्क्रियता, ध्यान में होने वाली अक्रियता, क्रियाशीलता का अभाव या चालू भाषा में निकम्मापन होता है, तभी इस स्थिति का निर्माण होता है। ऐसा किये बिना, राग-द्वेष-मुक्त क्षण का अनुभव किये बिना, कोई भी व्यक्ति मध्यस्थ बन सके, समता में उतर सके, सम्भव नहीं लगता। श्वास-प्रेक्षा मे बार-बार कहा जाता है केवल श्वास का अनुभव करना राग-द्वेष-मुक्त क्षण का अनुभव करना है। श्वास के प्रति न राग हो, न द्वेष हो। चित्त निर्विकल्प रहे, विकल्पशून्य रहे। यह विकल्पशून्य होना राग-द्वेष-मुक्त क्षण में जीना है। यह राग-द्वेष-मुक्त क्षण मे जीना ही सामायिक है, समता है, मध्यस्थता है और यह निकम्मापन जीवन की हजारो जटिल समस्याओं से मुक्ति दिलाने वाला, हजारो उलझे हुए कामो को सम्पादित करने वाला है।

हृदय-परिवर्तन का तीसरा सूत्र है—जागरूकता। दुनिया मे जितना भय है वह प्रमाद से पैदा होता है। महावीर की वाणी मे—'सव्वओ पमत्तस्स भयं' जो प्रमत्त है उसे चारों दिशाओ से भय होता है। ऊपर, नीचे, दाये, बाये और आगे-पीछे—सब ओर से भय होता है। जागरूक व्यक्ति को कभी भय नहीं होता।

मडल-ब्राह्मणोपनिषद् में एक प्रसंग आता है। वहा बतलाया गया है कि शरीर के पांच दोष होते है—काम, क्रोध, नि श्वास, भय और निद्रा। वहां पांचो

का उपचार भी बतलाया गया है। कोरे दोष बतलाने से काम नहीं चलता। पाचो की चिकित्सा भी बतलाई गई है। पाच उपाय बतलाये गये है।

पहला दोष है—काम। काम को कम करने का, काम को निरस्त करने का उपाय है—असंकल्प। सकल्प न करना काम को जीतने का उपाय है। अगस्त्यचूर्णि में एक बहुत महत्त्वपूर्ण श्लोक मिलता है—

'काम ! जानामि ते रूपं, संकल्पात् किल जायसे।
न त्वां संकल्पयिष्यामि, ततो मे न भविष्यसि।।'

'काम ! मैं तेरा स्वरूप जानता हूं। तू संकल्प से पैदा होता है। मै संकल्प नहीं करूंगा, मैं कल्पना नहीं करूगा। तू पैदा ही नहीं होगा। बीज ही नहीं बोऊंगा, उगेगा ही नहीं।'

काम को निरस्त करने का उपाय है—असकल्प।

दूसरा दोष है—क्रोध। क्रोध को निरस्त करने का उपाय है—क्षमा, सहिष्णुता का विकास। लडोगे तो क्रोध होगा। जो आदमी क्रोध से लडता है, क्रोध तो महाराक्षस है, महादैत्य है, जैसे लडोगे वैसे बढता चला जायेगा। लडो मत। सहिष्णुता का विकास करो। निषेधात्मक मार्ग पर मत चलो, विधायक मार्ग को स्वीकार करो। सहिष्णुता का विकास करो, क्रोध निरस्त हो जायेगा।

तीसरा दोष है—नि श्वास लेना, छोटा श्वास लेना, ज्यादा श्वास को बाहर फेकते रहना। इसका उपाय है—लघु आहार। बडा अटपटा लगेगा आपको। भला कम खाना और नि श्वास को चिकित्सित करना, उसे निरस्त करना कैसे हो सकता है ? जो ज्यादा पेट भर खा लेते हैं वे हांफने लग जाते हैं। हाफने का अर्थ है—छोटे श्वास लेना। इस दोष को, बीमारी को मिटाने का उपाय है—लघु आहार। कम खाओ, श्वास बिलकुल संतुलित चलेगा। ज्यादा खाने वाला छोटा श्वास लेता है, कम खाने वाला लम्बा श्वास लेता है। छोटा श्वास लेने वाला शक्ति को खर्च कर देता है और लम्बा श्वास लेने वाला शक्ति का भंडार भर लेता है। नि·श्वास की बीमारी का इलाज है—लघु आहार।

चौथा दोष है—प्रमाद। प्रमाद का इलाज है अभय। प्रमाद भय पैदा करता है। भय से प्रमाद बढता है। उसका इलाज है—भयमुक्त होना। जो आदमी जागरूक है, जिसने सच्चाई को समझा है, उसके लिए भय की जरूरत क्या है ?

यूनान का बादशाह एक दिन अपने वजीर से रुष्ट हो गया। राजा का रोष और राजा का तोष—दोनो ही बडे खतरनाक होते हैं। राजा एक ऐसी अजीब वस्तु बन गई कि उसका राजी होना भी खतरनाक है और नाराज होना तो खतरनाक है ही। उससे दूर रहना सबसे अच्छा होता है। दूर रहने

का तात्पर्य है—मध्यस्थ रहना, सामायिक में रहना। राजा नाराज हो गया। वजीर था सर्वेसर्वा। वहुत अधिकार संपन्न, सारे राष्ट्र का काम देखने वाला। राजा रुष्ट हुआ तो ऐसा रुष्ट हुआ कि वजीर को फांसी का हुक्म दे दिया। सारे शहर मे तहलका मच गया। जिस दिन फांसी का हुक्म हुआ, वह वजीर का जन्म-दिन था। वजीर का जन्म-दिन मनाया जा रहा था। गाजे, बाजे और नाच हो रहे थे। सैकडों लोग परिवार के तथा मित्र, सुहृद् सब इकट्ठे हो रहे थे। पूरा मेला-सा लग रहा था। बीच मे ही एक आदेश पहुंचा कि आज शाम को वजीर को फांसी लगा दी जाये। सारा गाना बन्द हो गया, नाचना बन्द हो गया, बाजे वन्द हो गए, हर्ष और उल्लास जो बरस रहा था, सारा वन्द हो गया। दु.ख छा गया, शोक छा गया। सारे लोग बड़े उदास हो गये। वजीर ने देखा और पूछा, अरे ! यह क्या ? बाजे क्यों वन्द कर दिए? नाचना क्यों बन्द हुआ ? मित्रों ने कहा—'शाम होते-होते आपको फांसी लगनी है। हम तो शोक में डूब गये, फिर ये कैसे चले ?' वजीर बोला—'मूर्ख हो तुम सब। मरना है तो उदास होकर क्यो मरना है ? मरना है तो क्या दुःखी होकर मरना है ? सब चालू करो। फिर नाचना, गाना, बजाना चालू कर दिया। वैसा का वैसा, जैसा पहले चल रहा था। उसके मन मे कोई चिन्ता नहीं, कोई उदासी नहीं, कोई भय नहीं। एक शिकन भी चेहरे पर नहीं पडी। जैसे का तैसा। बादशाह ने पता करवाया कि क्या हो रहा है ? जन्म-दिन मनाया जा रहा था, उत्सव किया जा रहा था, रंग-राग हो रहा था। अब तो मातम छा गया होगा ? क्या हो रहा है पता नहीं। फांसी की कोई बात ही नहीं है। वहां तो रांग-राग, अठखेलियां हो रही हैं। ऐसा उत्सव मनाया जा रहा है जैसे कोई आज ही जन्मा हो, बहुत प्रतीक्षा के बाद बच्चा जन्मा हो। सचमुच ऐसा हो रहा है। कुछ भी शोक नहीं है। बादशाह ने अपने सिर पर हाथ रखा और कहा—जो जीना जानता है उसे मारने से क्या लाभ ? फांसी का आदेश रद्द कर दिया कि वजीर को मारने का कोई अर्थ ही नहीं। उस व्यक्ति को तो मारने मे मजा आता है जो जीना नहीं जानता। जो जीना जानता है उसे मारने में भी कोई मजा नहीं आता। मारकर ही क्या करेगे ? फांसी टल गई।

जो अभय की साधना कर लेता है, अप्रमत्त बन जाता है, जिसे किसी भी घटना का भय नहीं होता वह वास्तव मे अहिंसा को उपलब्ध हो सकता है, हृदय-परिवर्तन को उपलब्ध हो सकता है। अहिंसा की साधना मे भगवान् महावीर ने सबसे ज्यादा बल अभय पर दिया था। उन्होने कहा कि जो अभय नहीं हो सकता वह अहिंसक नहीं हो सकता। जो अभय नहीं हो सकता वह साधना-शुद्धि का प्रयोग नहीं कर सकता। जो अभय नहीं हो सकता उसका

हृदय-परिवर्तन नहीं हो सकता। जागरूकता का सबसे बडा परिणाम होता है—अभय। भय को और प्रमाद को मिटाने का सबसे बडा सूत्र है—अभय होना।

हृदय-परिवर्तन के तीन सूत्रो-एकाग्रता, समता और जागरूकता का अभ्यास किये बिना ये स्थितिया निर्मित नहीं होती। जागरूकता का विकास एक क्षण मे नहीं हो जाता। जागरूकता कोई आकाश से चू नहीं जाती, टपक नहीं जाती। उसका अभ्यास करना होता है। समता और एकाग्रता का भी अभ्यास करना होता है। ध्यान करने वाले को बाहर से देखकर लगता है कि आदमी निकम्मा बैठा है, पर भीतर मे तो एक बडी ज्योति जल रही होती है। बडा पुरुषार्थ चलता है। बडा प्रयत्न चलता है। आतरिक प्रयत्न, आतरिक ज्योति और अन्तर का पुरुषार्थ काम करता रहता है। अभ्यास करते-करते समता जाग जाती है, जागरूकता और एकाग्रता बढ जाती है।

साझ के समय गमन-योग हो रहा था। बाहर से भाई आये हुए थे। उन्होने कहा—ये सब लोग भोजन पचाने के लिये चल रहे हैं, घूम रहे हैं।' मैंने कहा, इतना खाया ही नहीं कि चलकर जाना पडे। इतना मिला ही नहीं बेचारो को कि जिसके लिये दौड-धूप कर पचाना पडे। ये सब चलते हुए भी ध्यान का प्रयोग कर रहे हैं कि केवल चले ' केवल चले। चलते जाये, चलते जाये—चलने का अनुभव करे। केवल चलने का अनुभव। न कोई चिन्तन न कोई विकल्प, न कोई स्मृति, कुछ भी नहीं। केवल चल रहा हू। पैर उठ रहा है। दाया पैर उठा, बाया पैर उठा, केवल चलने की स्मृति, केवल एक ही स्मृति और सारी स्मृतियां समाप्त हो जाये। यह गमन-योग है, यह जागरूकता का प्रयोग है। यह भावक्रिया है। जिस समय जो काम करे उस समय उसी का अनुभव रहे। चलते समय चलने का अनुभव, बोलते समय बोलने का अनुभव, बैठते समय बैठने का अनुभव, हाथ उठे तो हाथ के उठने का अनुभव और हाथ नीचे आये तो हाथ नीचे आने का अनुभव, सोये तो सोने का अनुभव, खाये तो खाने का अनुभव। जब इस जागरूकता का निर्माण होता है, तब भय को घुसने को मौका ही नहीं मिलता। भय तब घुसता है जब आदमी मूर्च्छा मे होता है। आदमी नींद मे होता है तो भय भी सताने लगता है, भूत भी सताने लग जाता है। भूत डरे हुए आदमी को सताता है। जो डरता नहीं उससे भूत स्वय भाग जाता है। वहा आकर क्या करेगा बेचारा ? उसे तो चाहिए शरण। रहने को मकान चाहिये और मकान भी वह जहा भय का वातावरण बना हुआ हो। अभय मे आयेगा तो स्वय डर जायेगा। डरा हुआ आदमी भूतो के द्वारा पकडा जाता है। अभीत आदमी कभी भूतो द्वारा पकडा नहीं जाता।

अमूर्च्छा और जागरूकता जैसे-जैसे बढती है, हम अपनी हर क्रिया के प्रति सावधान हो जाते हैं। विचार के प्रति जागरूक, वाणी के प्रति जागरूक, शरीर की क्रिया के प्रति जागरूक—जब तीनो कर्मों के प्रति जागरूक बन जाते हैं फिर कोई भी बुरा विचार सहजतया नहीं घुस पाता। जैसे ही कोई बुरे विचार की तरग उठनी शुरू होगी, पता लग जाएगा। पता लगा, मालिक जागा और चोर भागा। जैसे ही कोई क्रोध का विचार आया, अहंकार का विचार आया और आप जाग गये उस विचार के प्रति, अपने आप तरंग वहीं शांत हो जाएगी। हम वाणी के प्रति जागरूक बने फिर मुह से कोई बुरा शब्द नहीं निकल पाएगा, गाली नहीं निकल पाएगी और जो बात नहीं कहनी है वह शब्द भी नहीं निकल पाएगा। वहीं अपने आप सयम हो पाएगा। हम अपने शरीर के प्रति जागरूक बन गए, क्रिया के प्रति जागरूक बन गए फिर कोई भी कदम ऐसा नहीं उठेगा कि जो अन्यायपूर्ण हो सके। हाथ का उपयोग है; बहुत उपयोग है, पर हाथ का उपयोग चाटा जडने मे भी होता है। हाथ का उपयोग धक्का-मुक्का मे भी होता है। पैर का उपयोग भी मारने में होता है, और-और कामो मे भी होता है, किन्तु जब हम अपने शरीर के प्रति जागरूक बन गए तो ये सारे उपयोग समाप्त हो जाते है। केवल जो होना चाहिए वही शेष रहता है।

हृदय-परिवर्तन को यदि हम वास्तव में चाहते है, हमारी निष्ठा है, अहिंसा का विकास चाहते हैं तो निश्चित ही हमें अभ्यास करना होगा। अभ्यास के बिना न जागरूकता बढेगी, न समता की चेतना जागेगी और न एकाग्रता बढेगी। आज इसीलिए धर्म प्रभावहीन बन गया कि कोरा सिद्धांत रह गया, प्रयोग छूट गया, अनुभव छूट गया। कोरा तर्क रह गया, अनुभव समाप्त हो गया। धर्म को फिर से तेजस्वी बनाने के लिए, धर्म को फिर से शक्तिशाली और उपयोगी बनाने के लिए बहुत जरूरी है कि सिद्धात और प्रयोग—दोनो का योग हो। सिद्धान्त और अभ्यास—दोनों का योग होने पर ही धर्म तेजस्वी बनेगा, धर्म के प्रति लोगों का विश्वास बढेगा और धार्मिक व्यक्तियों का जीवन यथार्थ होगा।

हृदय परिवर्तन के सूत्र (३)

एक बच्चा जन्म लेता है तब सबसे पहले उसका संपर्क वस्तु-जगत् से होता है। हमारा सारा जीवन वस्तु के आधार पर चलता है। पदार्थ को छोडकर जीवन की कोई व्याख्या नहीं की जा सकती। भोजन, पानी, कपडे, मकान, जितनी दृश्य-वस्तुए, जितनी सेव्य-वस्तुए हमारे सामने हैं, उनका सेवन होता है, दर्शन होता है। होते-होते आदमी पदार्थमय बन जाता है। पदार्थ के प्रति इतना गहरा आकर्षण पैदा हो गया उसमे कि चैतन्य की बात विस्मृति में चली गई। पदार्थ बहुत साफ दीखता है। चैतन्य दिखाई नहीं देता। पदार्थ की उपयोगिता बहुत साफ है। चैतन्य की उपयोगिता प्रकारान्तर से होती है। पदार्थ के प्रति आकर्षण होना स्वाभाविक है। चैतन्य के प्रति आकर्षण होना स्वाभाविक जैसा नहीं रहा। हमारा आकर्षण का केन्द्र-बिदु है पदार्थ और वस्तु। इस आकर्षण ने एक बाधा उपस्थित कर दी। हमारा साध्य था-हृदय-परिवर्तन। वह कुछ धूमिल बन गया। हम चाहते हैं आदमी का हृदय बदले, परिवर्तन आए, चेतना का रूपान्तरण हो। हिंसा का भाव छूटे, आक्रमण का भाव छूटे, उपद्रव का भाव छूटे, असत्य न बोले, प्रामाणिक रहे, चोरी न हो, डकैती न हो। अनावश्यक सग्रह न हो। ब्रह्मचर्य की चेतना जागे। यह सब हम चाहते हैं। हर धर्म का आदमी चाहता है। सामाजिक क्षेत्र मे काम करने वाले लोग भी चाहते हैं। वे यह नहीं चाहते कि लूट-खसोट चले, बेईमानी चले, झूठ चले। ये तो सामाजिक मूल्य हैं। जितने धार्मिक मूल्य हैं, उतने सामाजिक मूल्य भी हैं। कोई भी समाज हिंसा, उपद्रव, आक्रमण, लूट-खसोट, चोरी, बेईमानी के आधार पर कभी शिष्ट समाज नहीं बनता। इस दृष्टि से कहा जा सकता है, इन सारे गुणो का जितना धार्मिक मूल्य है उतना सामाजिक मूल्य भी है। आध्यात्मिक मूल्य तो है ही। पर इन गुणो का अवतरण नहीं हो रहा है। इनके प्रति आकर्षण पैदा नहीं हो रहा है। क्यो नहीं हो रहा है, इसकी हम चर्चा कर रहे हैं। सत्य के प्रति, ईमानदारी के प्रति आकर्षण नहीं हो रहा है, इसका मूल कारण है कि मनुष्य मे पदार्थ के प्रति आकर्षण अतिरिक्त हो गया है। यदि आकर्षण सतुलित हो, पदार्थ का आकर्षण और चैतन्य का आकर्षण, बाहरी आकर्षण और भीतरी आकर्षण-दोनो मे संतुलन बना रहे तो समाज मे गडबडिया नहीं होतीं, ये अराजकता की स्थितियां पैदा नहीं होतीं, ये भ्रष्टाचार और अनाचर नहीं होते किन्तु वह

संतुलन बिगड गया और इसलिए बिगडा कि पदार्थ के प्रति अतिरिक्त आकर्षण मनुष्य मे पैदा हो गया। जब अतिरिक्त आकर्षण हो जाता है तो जरूर संतुलन बिगड जाता है। एक बहुत बडी बाधा है वस्तु के प्रति होने वाला आकर्षण, बाहरी आकर्षण। इसे आगम की भाषा में कहा जाता है—अविरति, अव्रत की भावना। मनुष्य बदलना तो चाहता है। वह अव्रत को वस्तु के प्रति होने वाले आकर्षण को छोडना भी चाहता है किंतु चाह का, जो मार्ग है वह अटपटा-सा लगता है। एक प्रथा चल पडी, हर धर्म के साथ जुड गई कि आकर्षण तो भीतर विद्यमान है पर आदमी बाहर से उसे छोड देता है। शाब्दिक प्रत्याख्यान भी कर देता है, त्याग भी कर देता है और भीतर का आकर्षण बना रहता है। वही दुविधा हमारी है।

एक आदमी सिगरेट पी रहा था। नली बहुत लम्बी थी। एक हाथ से भी ज्यादा। किसी ने पूछा—'अरे भई ! सिगरेट पीते हो, इतनी लम्बी नली क्यो?' वह बोला—'मैंने स्वास्थ्य-रक्षा मे पढा है कि नशीली वस्तुओ से दूर रहना चाहिए। इसे निकट कैसे ला सकता हूं।'

आदमी दूर रहना चाहता है। दूर भी रहेगा किन्तु नली लगा लेगा। ऐसी नलिया होती हैं, ऐसी गलियां निकलती हैं। जब भीतर का आकर्षण नहीं बदलता तब या तो नलियां निकल जाती हैं या गालियाँ निकल जाती हैं। रास्ता साफ नहीं होता। आवश्यकता है अभ्यास के द्वारा आकर्षण का रूपान्तरण हो, रस-परिवर्तन हो, रस बदल जाये और भीतर का रस भी थोडा जाग जाए। जब भीतर का रस जागेगा तो बाहर का रस अपने आप कम होने लग जाएगा। आज ही प्रात काल चैतन्य-केन्द्रों का ध्यान करने के बाद, हम लोग भीतर गए। एक भाई मेरे पास आया। उसने कहा—आज मुझे इतना आनन्द आ रहा है कि उसे मै शब्दो मे व्यक्त नहीं कर सकता। अभी तो जैसे पूरा शरीर आनन्द से सराबोर हो रहा है। अणु-अणु मे आनन्द टपक रहा है, झलक रहा है, मैं बता नहीं सकता। मैंने देखा—कहते-कहते उसकी आखें भीग रही थीं, गीली हो रही थीं और हर्षाश्रु की वर्षा हो रही थी। जब भीतर का रस जागता है, भीतर का आनन्द जागता है, जब भीतर की चेतना के स्पन्दन, भीतर की तेजोलेश्या के स्पन्दन और आनन्द के स्पन्दन जागते हैं तब आदमी को पता चलता है कि हमारी दुनिया मे केवल वस्तु ही सुख देने वाली नहीं है, वस्तु ही आनन्द देने वाली नहीं है किन्तु हमारे शरीर के भीतर ऐसे परमाणु हैं, ऐसी शक्तियां हैं, जो वस्तु से ज्यादा सुख और आनन्द देने वाली हैं, किन्तु यह अनुभव अभ्यास के बिना नहीं हो सकता। आप ध्यान की चर्चा करते-करते हजार वर्ष बिता दे, पूरे हजार वर्ष बीत जाये फिर भी इसका

अनुभव नहीं हो सकता। यह अनुभव अभ्यास और प्रयोग के द्वारा ही हो सकता है। जिस व्यक्ति ने प्रयोग किया है ध्यान का, जिस व्यक्ति ने भीतर की गहराइयो मे जाने का अभ्यास किया है, वही व्यक्ति जान सकता है कि भीतर मे कितना आनन्द है! कैसा आनन्द है ? उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती।

जब तक इस आकर्षण का परिवर्तन नहीं होता, तब तक चंचलता बढती रहेगी। चंचलता क्यों बढती है ? इसीलिए कि भीतर से करन्ट आ रहा है। पखा घूम रहा है तेज। क्यो घूम रहा है ? इसीलिए कि करन्ट आ रहा है। जब स्विच ऑन होता है और करन्ट आता है तो पखा बेचारा घूमेगा ही। मन तो बेचारा घूमेगा ही। वह कैसे रुकेगा ? इस वस्तु-जगत् का इतना तेज धक्का लगता है कि बेचारे मन को चक्कर लगाने पडते हैं। मन इसीलिए चक्कर लगा रहा है कि आकर्षण का धक्का उसे लग रहा है। वस्तु का आकर्षण--यह चाहिए, वह चाहिए, का ऐसा तेज धक्का लगता है कि बेचारा मन दौडता-फिरता है, चक्कर लगाता फिरता है। इस आकर्षण की दुनिया मे बडी अजीब स्थितियां पैदा हो जाती हैं।

पुराने जमाने की एक घटना है। एक नट नाच कर रहा था। बडा कुशल था। नाम था इलायचीकुमार। था कोई श्रेष्ठिपुत्र। बडा धनाढ्य। किन्तु आकर्षण ही तो सब विकृतियां पैदा करता है। वह एक नट-कन्या के प्रति आकृष्ट हो गया। आकर्षण। जुड गया। घर छोड दिया। परिवार छोड दिया। सपत्ति छोड दी। वह नटो के साथ रहने लगा। नट बन गया। बडा कुशल नट बना। नाटक करने राजसभा में गया। राजा बैठा है। पूरी परिषद् बैठी है। सभी जुडी हुई है। नाटक करना है। इलायचीकुमार बांस पर चढा। उसने ऐसे करतब दिखाए कि सारी सभा मुग्ध हो गई। राजा नाटक नहीं देख रहा था। राजा का ध्यान नीचे खडी नट-कन्या के प्रति चला गया। वह भी आकृष्ट हो गया। उसका आकर्षण वहा जुड गया। सारे लोग तालियां बजा रहे थे। वाह ! वाह! साधुवाद ! धन्यवाद ! आवाजें निकल रही थीं। सबका आकर्षण था इलायचीकुमार के प्रति, किन्तु राजा का आकर्षण था उस नट-कन्या के प्रति। राजा ने सोचा-जब तक यह नट है तब तक यह नट-कन्या मुझे नहीं मिल सकती। यह मर जाए तभी प्राप्त हो सकती है। पूरा एक प्रहर तक नाटक किया। बांस पर, रस्सियो पर, पतले-पतले धागों पर इतना भयानक करतब किया कि आदमी के पल-पल मे मरने की आशका होती है। बडा कुशल था। शरीर सधा हुआ था। वह नीचे उतरा। उसने सोचा राजा बहुत प्रसन्न होगा। दान मिलेगा। राजा के सामने आया। राजा बोला-'नट ! तूने करतब तो दिखाए पर मुझे अच्छा नहीं लगा, सन्तोष नहीं

हुआ। अगर तेरी कला है तो और दिखा। नहीं तो कुछ नहीं मिलेगा।' इलायचीकुमार को बहुत निराशा हुई। उसने सोचा–'मैने इतने करतब दिखाए, अद्‌भुत करतब दिखाए, पर राजा को पसन्द नहीं आए। राजा को पसन्द कैसे आए ? राजा को तो आकर्षण कहीं और जुडा हुआ था। नट दूसरी बार चढ़ा। पूरे एक प्रहर तक फिर नाटक दिखाया। दो प्रहर बीत गया। फिर नीचे उतर कर राजा के पास आया। राजा ने कहा–तूने श्रम तो किया, कुछ ठीक-ठीक हुआ है, पर मुझे तो पसन्द नहीं आया। अब क्या करे ? बेचारा परेशान हो गया। नट-मण्डली ने कहा–भई ! एक बार जाओ। राजा को प्रसन्न तो करना होगा। जब तक राजा प्रसन्न नहीं होगा, राजा प्रथम दान नहीं देगा, तब तक अन्य किसी का दान नहीं हो सकता। हमारा किया कराया सब व्यर्थ चला जाएगा। जो कुछ भी हो, एक बार तुम फिर कौशल दिखाओ। तीसरी बार फिर इलायचीकुमार ऊपर चढा, बडे विचित्र करतब दिखाए। सारी परिषद् झूम उठी। चारो ओर वाह-वाह हो रही थी, किन्तु राजा पर तो कोई असर नहीं हुआ। पूरे प्रहर तक बेचारे ने श्रम किया। नीचे उतरा। राजा ने फिर वैसे ही कहा–भई ! मुझे तो अच्छा नहीं लगा। पसन्द नहीं आया। बिना पसन्द आए दान कैसे मिल सकता है ? वह थक गया। चलो, आज व्यर्थ ही सही। कोई बात नहीं। नहीं मिला तो न सही, पर अब मैं नहीं चढूंगा। नट-कन्या ने आखिर भारी अनुरोध किया। उसकी पत्नी ने भारी अनुरोध किया कि एक बार तो फिर जाओ। चौथा प्रहर अभी बाकी है। एक बार फिर जाओ। वह क्या करे ? बेचारा गया। थक कर चूर-चूर हो रहा था। पुन· करतब दिखाने लगा। दिखाते-दिखाते कोई ऐसा विचित्र योग मिला कि उसका भाव परिवर्तित हो गया वहीं। उसे पता लग गया कि दान मिलने वाला नहीं है। मैं तो राजा को करतब दिखा रहा हूं और राजा कोई दूसरा ही करतब देख रहा है। काम कोई बनने वाला नहीं है। वहीं इतनी विरक्ति हुई, इतनी विरक्ति कि नीचे उतरा, बिना दान मागे चल पडा। आकर्षण बदल गया। जो आकर्षण था उस कन्या के प्रति, जो आकर्षण था नाटक के प्रति, जो आकर्षण था करतब दिखाने के प्रति, एक ऐसा मोड आया कि आकर्षण बदला और प्रस्थान कर दिया महायात्रा के लिए। उसका अभिनिष्क्रमण हो गया।

हमारे जीवन मे ये आकर्षण कठिनाइया पैदा करते हैं। हर आकर्षण एक खतरा पैदा करता है। मैं यह कहना नहीं चाहता कि सब आकर्षणो को समाप्त कर दे। चाहू तो भी कैसे कहू ? कहने की बात नहीं है। यह तो नहीं कहता कि जीवन नीरस बन जाए। जीवन के सारे रस समाप्त हो जाएं। अगर मैं कहूं भी तो आप कब मानेगे ? समाज का प्राणी, गृहस्थ जीवन को

जीने वाला प्राणी इस बात को कब स्वीकार करेगा कि हमारे जीवन के सारे आकर्षण, हमारे जीवन के सारे रस समाप्त हो जाए। विकर्षणता का जीवन जीए, नीरसता का जीवन जीए। यह बात स्वीकार नहीं होगी, किन्तु इतना कहने में मुझे कोई कठिनाई नहीं लगती कि जब तक आकर्षण का संतुलन नहीं होगा, अच्छा सामाजिक जीवन भी नहीं जिया जा सकेगा। जब तक आकर्षण का सतुलन नहीं होगा, अच्छा गृहस्थी का जीवन भी नहीं जिया जा सकेगा। जैसे बाहर के प्रति हमारा आकर्षण है, वैसे ही भीतर के प्रति भी बराबर हमारा आकर्षण बने। फिर जीवन मे हिंसा रह सकती है पर अनावश्यक हिंसा समाप्त हो जाएगी। आज की सबसे बडी समस्या अनर्थ हिंसा की समस्या है, अनावश्यक हिसा की समस्या है। जीवन में हिंसा आवश्यक होती है। हिंसा अनिवार्य होती है। उसके बिना जीवन नहीं चलता, किन्तु क्या आदमी आवश्यक हिंसा ही करता है। प्रायोजनिक हिंसा ही करता है? व्यर्थ की हिंसा नहीं करता ? अनावश्यक हिंसा नहीं करता? मैं मानता हूं यदि लेखा-जोखा किया जाए तो आवश्यक हिंसा पचीस प्रतिशत होती है तो पचहत्तर प्रतिशत हिंसा जीवन मे अनावश्यक और व्यर्थ की चलती है। आदमी ऐसे निकम्मे काम भी बहुत करता है जिनका प्रयोजन नहीं होता, जिनकी कोई आवश्यकता नहीं होती, कोई उपयोगिता नहीं होती। यह आवश्यक हिंसा इसलिए चलती है कि आदमी मे चचलता है, प्रिय-अप्रिय संवेदन है, प्रमाद है और बाहरी वस्तु के प्रति आकर्षण है। ये चार कारण हैं, इसलिए अनावश्यक हिंसा चलती है। इनके स्थान पर संतुलन किया जाए, चंचलता के स्थान पर एकाग्रता का विकास किया जाए, चचलता को कम किया जाए, प्रिय-अप्रिय सवेदनो के स्थान पर समता का विकास किया जाए, प्रमाद के स्थान पर जागरूकता का संतुलन पैदा किया जाए और बाहरी आकर्षण के साथ भीतरी आकर्षण भी पैदा किया जाए। इन चारो का संतुलन होगा तो अनावश्यक हिंसा समाप्त हो जाएगी। फिर आक्रमण समाप्त हो जाएगा, बेईमानी समाप्त हो जाएगी। आज उपदेश दिया जाता है कि प्रामाणिक बनो, अप्रामाणिक काम मत करो, मिलावट मत करो, नकली और असली का योग मत करो, धोखा-धडी मत करो—ये सारी बाते बतलाई जाती हैं। आदमी सुनता भी है। सुनने मे अच्छी भी लगती हैं, पर करते समय आदमी बेईमानी भी करता है, झूठ भी बोलता है, दूसरे को धोखा भी देता है, जानते हुए देता है। किसी का गला काटने मे भी सकोच नहीं करता। कोई कितना ही दु ख पाए तनिक भी मन मे करुणा नहीं जागती। प्रश्न होता है कि जानते हुए ऐसा क्यो होता है? ऐसी कौन-सी प्रेरणा है जिससे आदमी अच्छाइयो को जानते हुए भी बुराइयों

में प्रवृत्त रहता है और बुरे आचरण करता रहता है ? प्रश्न का उत्तर मिलता है कि आदमी मे वस्तु के प्रति अतिरिक्त आकर्षण है। सन्तुलन बिगड़ा हुआ है। मन का संतुलन ठीक नहीं है। जिसका मानसिक संतुलन ठीक नहीं होता वह गालियां भी बक सकता है, चांटा भी मार सकता है, उपद्रव भी कर सकता है क्योकि बेचारे का संतुलन ठीक नहीं है। वह विक्षिप्त है, पागल है। इतना ज्यादा आकर्षण हो गया वस्तु के प्रति कि वस्तु चाहिए। जब वस्तु मिलती है तो वस्तु के लिए ये सारे काम किए जा सकते हैं और वस्तु न मिले तो उसके लिए सारी कठिनाइयां पैदा हो जाती हैं। वस्तु के प्रति जब तक इतना आकर्षण है तब तक हृदय-परिवर्तन की बात नहीं सोची जा सकती। हृदय-परिवर्तन के लिए हमे सच्चाई को देखना होगा।

एक आदमी ने लालटेन जलाई अन्धकार को मिटाने के लिए। दूसरा आदमी आया, लालटेन को ठोकर लगा दी। वह लुढक गई। उसका काच फूट गया। वह बोला—लालटेन को जलाने से क्या होगा ? लालटेन को देखने के लिए आंख चाहिए। कोरी लालटेन जलाने से ही काम कैसे चलेगा ? आंख चाहिए लालटेन को देखने के लिए।

लालटेन का प्रकाश है, आग का प्रकाश है, दीये का प्रकाश है, बिजली का प्रकाश है, सूरज का प्रकाश है, चाद का प्रकाश है। सबका प्रकाश है, पर एक आंख का प्रकाश यदि नहीं है तो सारे के सारे प्रकाश अन्धकार मे बदल जाते हैं। कोई फर्क नहीं पडता। सबसे बडा है हमारी आख का प्रकाश जो प्रकाश को पकड सके, प्रकाश को ग्रहण कर सके। जब प्रकाश को ग्रहण करने वाला प्रकाश नहीं होता तो सारी बाते अन्धकार में बदल जाती हैं। जब तक यह भीतर की चेतना नहीं जागती, ध्यान की चेतना नहीं जागती, ध्यान का प्रकाश प्रस्फुटित नहीं होता तो बाहर के प्रकाश, सिद्धांतो के प्रकाश—ये सारे प्रकाश अन्धकार मे बदल जाते हैं। चाहे फिर वह महावीर के सिद्धान्त का प्रकाश हो, चाहे बुद्ध के सिद्धान्त का प्रकाश हो, चाहे कृष्ण के सिद्धांत का प्रकाश हो, चाहे दुनिया के किसी महापुरुष या अवतार के सिद्धान्त का प्रकाश हो। कितना ही बडा सिद्धान्त हो, सूरज हो, चाद हो, आंख के बिना सारी बातें व्यर्थ हो जाती हैं। चाणक्य ने ठीक कहा था—

'यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा, शास्त्रं तस्य करोति किम् ?
लोचनाभ्यां विहीनस्य, दर्पणः किं करिष्यति ?'

जिसकी अपनी प्रज्ञा नहीं है उसके लिये शास्त्र क्या करेगा ? शास्त्रो मे तो बहुत अच्छी बाते लिखी हुई हैं और शास्त्रो मे जितनी बातें लिखी हुई है उनके अनुसार आज आदमी चलता तो समाज का रूप ही दूसरा होता।

आदमी का चित्र ही दूसरा बनता। यह टेढी-मेढी लकीरें नहीं खिंचतीं तो आदमी का इतना भव्य चित्र बनता कि देखते ही बनता। पर आज आदमी का चित्र सुन्दर नहीं है। बहुत सुन्दर नहीं है क्योकि शास्त्रों मे तो बहुत अच्छी बाते हैं पर अपनी प्रज्ञा जागृत नहीं है तो शास्त्र उसके लिए कुछ भी काम नहीं देते। बहुत सुन्दर उपमा से उपमित किया है विषय को कि "लोचनाभ्या विहीनस्य दर्पण· किं करष्यिति ?" आदमी दर्पण के सामने जाकर खडा होता है, उसमे अपना मुंह देखता है। देख लेता है। दर्पण के सामने तो जाकर खडा हो गया, पर खडा होने वाला है अन्धा। दर्पण बेचारा क्या करेगा ? वह कुछ भी नहीं कर पाएगा। दर्पण को देखने कि लिए भी आंख चाहिए।

जरूरत है आंख की। हमारी सम्यक् दृष्टि की आंख खुल जाए। उल्टा चलता हूं अब। पहले चला था कि चंचलता से कषाय, कषाय से प्रमाद और प्रमाद से अव्रत। अब इस क्रम से चले, हमारी सम्यकदृष्टि की आंख खुले, सम्यकदृष्टि की आख जागे। जब सम्यकदृष्टि की आख खुल जाती है तो आकर्षण का परिवर्तन हो जाता है। फिर वस्तु-जगत् के प्रति हमारा उतना आकर्षण नहीं होता जितना कि मिथ्या-दृष्टि व्यक्ति में हो सकता है। जिसका दृष्टिकोण मिथ्या है उसका वस्तु के प्रति अतिरिक्त आकर्षण होगा और वह वस्तु को शरण मान बैठेगा कि बस इसके सिवाय दुनिया मे कोई शरण नहीं है। अन्तिम शरण तो धन है। आदमी यही तो सोचता है कि बूढा हो जाऊंगा, बीमार हो जाऊंगा, कोई काम करने वाला नहीं रहेगा, उस समय धन ही काम आएगा। केवल धन काम आएगा। पर कभी-कभी ऐसा होता है कि जो धन काम देने वाला होता है वह धन आत्महत्या और अपघात का कारण भी बन जाता है, मर्डर का कारण भी बन जाता है। जब दूसरो को पता चल जाता है कि बूढा आदमी है, अन्धा आदमी है, पैसा पास मे बहुत है, ऐसे तो मिलेगा नहीं, हत्या कर दो, सब कुछ हाथ लग जाएगा। पता नहीं लगता तब तो ठीक है, पता लगते ही आपदाओ का पहाड ढह पडता है उस पर। बडी कठिनाइयां पैदा हो जाती हैं। यह वस्तु के प्रति जो शरण की भावना और त्राण की भावना पैदा होती है, वह सम्यकदृष्टि आते ही बदल जाती है। वह सोचने लग जाता है कि शरण मिलेगी, त्राण मिलेगा तो अपने भीतरी आकर्षण से मिलेगा, बाहरी आकर्षण से नहीं मिलेगा। जब तक यह बाहर का स्वाद रहेगा, बाहर का उपभोग रहेगा तब तक त्राण नहीं मिलेगा, और ही कुछ मिलेगा। यह सारा स्वाद आकर्षण के कारण बनता है। स्वाद हमारे जीवन का बहुत बडा विघ्न है। जिस शक्ति ने अस्वाद की साधना कर ली उसने बहुत सारी समस्याओ का पार पा लिया। महात्मा गाधी ने अपने ग्यारह व्रतो मे एक व्रत रखा

था–अस्वाद व्रत। बहुत ठीक शब्द का चुनाव किया था अस्वाद। केवल खाने का स्वाद नहीं होता। स्वाद बहुत सारे होते हैं। जहां रस होता है वहां आदमी का स्वाद हो जाता है। जहां स्वाद है, वहां इस बात की सूचना है कि भीतर का आकर्षण कम नहीं हुआ है, बदला नहीं है।

एक मुनि थे। भिक्षा के लिए गए। योग ऐसा ही मिला, एक नट के घर पहुच गए। नट-कन्या ने एक मोदक का दान दिया। बहुत बढिया बनाया हुआ था। सुगंधी फैल रही थी ! बडा लड्डू था। मुनि बाहर आए। सुगंध से तृप्त हो गये। उन्होने सोचा, खाने पर तो कितना स्वाद आएगा ! स्वाद का भाव जाग गया।

स्वाद का भाव हर व्यक्ति में होता है। यह न मानें कि मुनि बन गया और स्वाद मिट गया। साधना की आंच जितनी परिपक्व होगी, जितनी तेज होगी, उसमें जो जितना पकेगा, उतना ही स्वाद कम होता चला जाएगा। कोरा साधु बन जाने मात्र से कुछ भी नहीं होता। साधु होने के बाद तो कितनी भूमिकाएं पार करनी होती हैं। व्रत स्वीकार किया है। अप्रमाद की भूमिका बाकी है। अकषाय की भूमिका बाकी है। वीतरागता की भूमिका बाकी है। सब कुछ बाकी है। बहुत बाकी है। स्वाद कोई बदल थोडा ही जाता है।

मुनि में स्वाद जाग गया। सोचा, इतनी भीनी-भीनी सुगंध, बढ़िया खुशबू, इतना बढिया मोदक जिसे देखते ही आंखे तृप्त हो जाती हैं। न जाने खाने में कितना अच्छा होगा ? पर मिला एक। एक से होगा क्या ? आगे गुरु तैयार हैं। गुरु को देना होगा। मेरे उपाध्याय तैयार हैं। उपाध्याय को देना होगा। मेरे सहपाठी मुनि तैयार हैं। उनको देना होगा। मेरे वृद्ध-स्थविर तैयार हैं। उनको देना होगा। कोई पांच-छह लड्डू मिले तब एक मेरे हिस्से में आएगा। उनको खिलाए बिना मैं कैसे खाऊंगा ? शिष्टाचार भी तो कुछ होता है। मेरे लिए कुछ नहीं बचेगा।

स्वाद ने अपना करतब प्रारंभ किया। नट बेचारा क्या करे ! स्वाद महानट होता है। मुनि था शक्तिशाली लब्धिधर। उसमें प्राण की शक्तियां जागृत थीं। तत्काल उसने एक युवक साधु का रूप बनाया। वेष नहीं बदला। रूप-परावर्तनी विद्या के द्वारा, अपनी शक्ति के द्वारा पूरा ढाचा शरीर का बदल लिया। दूसरे मुनि का रूप बदलकर फिर भिक्षा के लिए भीतर गया। नट-कन्या ने देखा कि साधु फिर आ गया। दूसरा आया है, वह तो नहीं है। एक लड्डू फिर दे दिया। उसने सोचा, दो ही मिले। दो से क्या होगा मुझे छह चाहिए। बडी समस्या पैदा हो गई। तीसरा रूप बनाया, चौथा बनाया, पाचवा बनाया। छह लड्डू मिल गए तब सोचा, अब ठीक है, कम से कम एक लड्डू

तो मिल ही जाएगा। नट-मण्डली का सरदार ऊपर बैठा था। वह सब कुछ देख रहा था। उसने सोचा-बडा गजब का आदमी है। यह अगर हमारे हाथ लग जाए तो हम चमक जायेगे। हमारी नट मडली सितारा बन जाएगी सारे संसार मे। ये नट वेष बदलते हैं, पर इसको वेश बदलने की जरूरत नहीं, परदा लगाने की भी जरूरत नहीं। यह तो जब चाहे, जहा चाहे, जैसा चाहे वैसा रूप बनाकर सारे संसार को आश्चर्य मे डाल सकता है। यह अगर हमारे हाथ लग जाए तो फिर कोई कमी नहीं रहेगी। वह नीचे आया। उसने अपनी कन्याओ से कहा-जो साधु आज आया था, कल फिर आए तो उसे बहुत स्वादिष्ट भोजन देना है। उसने नब्ज को पकड लिया कि वह साधु खाने का लोलुपी है। जब नब्ज हाथ मे आ जाती है फिर चिकित्सा करने में कोई कठिनाई नहीं होती। कठिनाई चिकित्सा में नहीं होती, कठिनाई निदान मे होती है। निदान सही हो जाए तो चिकित्सा होना कोई कठिन बात नहीं है।

नट ने अपनी पुत्रियो से कहा- देखो, वह साधु आए तो उसको ज्यादा से ज्यादा पकवान और स्वादिष्ट भोजन देना है। अब तैयारियां होने लगी। बनाये जाने लगा बढिया-बढिया भोजन। साधु का भी मन ललचा गया। उसने सोचा नट के यहां जायेंगे तो माल मिलेगा। वह दूसरे दिन भी वहीं आया। तीसरे दिन भी वहीं आया। आता है तो बहुत बढिया भोजन मिलता है। आखिर स्वाद बढा और बढते-बढते इतना बढ गया कि वह साधुत्व को छोडकर नट-मडली मे सम्मिलित हो गया।

स्वाद सबसे पहली बाधा है। वह चंचलता पैदा करने वाली बाधा है। आदमी कहां खडा था और कहां लाकर पटक दिया, स्थान-च्युत कर दिया। जितनी भी चंचलता है, उसके पीछे इंद्रियो का स्वाद बहुत काम करता है। जीभ का स्वाद, त्वचा का स्वाद, आखो का स्वाद, कान का स्वाद-ये सारे इन्द्रियों के स्वाद आदमी को चंचल बना देते हैं। ये पाच इन्द्रियो के पांच करन्ट निरन्तर स्रावित हो रहे हैं। एक करन्ट लगा और मन डावाडोल बन गया। दूसरा लगा और डावाडोल बन गया। एक बार भी बिच्छू काटता है तो कठिनाई हो जाती है और ये पांच बिच्छू जब एक साथ डक लगाने लग जाते हैं तो कितनी कठिनाई होती होगी आप कल्पना करेगे। मन बेचारा चचल नहीं है। वह चचल हो रहा है इन पाच दशो के द्वारा। ये जैसे-जैसे दंश लगाते हैं, मन एकदम चचल हो उठता है। चचलता को कम करने का अभ्यास जुडा हुआ है स्वाद के अभ्यास को कम करने के साथ। प्रेक्षाध्यान का अभ्यास करते हैं। अभ्यास करते हैं इस बात का कि मन एकाग्र बने, मन स्थिर बने, चचलता कम हो, चचलता मिटे। पर इस बात को न भूले कि तब तक मन

की चंचलता कम नहीं होगी जब तक कि स्वाद कम नहीं होगा। स्वाद को भी कम करना होगा। ये सारे जुडे हैं, परस्पर ये इतने गुंथे हुए हैं कि एक को छोडकर दूसरे को कम नहीं किया जा सकता। स्वाद कम होता है तो स्वाद से होने वाली चंचलता कम हो जाती है।

दूसरी बात है, प्रमाद चचलता पैदा करता है। मूर्च्छा, चिंतन का मिथ्याकोण, राग-द्वेष—ये अनेक प्रकार हैं प्रमाद के। नींद, विकथा, आलस्य—ये सारे चंचलता पैदा करते हैं, स्थिरता को समाप्त कर देते हैं।

तीसरी बात है प्रिय-अप्रिय का संवेदन, कषाय, आवेग और आवेश—ये चंचलता बढाने वाले हैं। ये बहुत चंचलता बढाते हैं। जिस समय गुस्सा आता है कितनी चचलता बढ़ जाती है। जब आदमी तेज गुस्से में होता है, ऐसा लगता है कि शरीर का अणु-अणु कांप रहा है। होठ कांप रहे हैं, मुंह कांप रहा है। सारा शरीर जैसे कांप रहा है। आचार्य भिक्षु ने ठीक उपमा दी—

'क्रोध मांहि ने हलफलियो, जाणी भाड़ मांहे सूं चणो उछलियो'

मैंने आंखों से देखा है। एक बार की घटना है—हम लोग मेवाड मे गंगापुर में थे। एक मकान मे ठहरे हुए थे। सामने एक चबूतरा था। एक छोटी गली थी। एक बैलगाडी वाला आया और उस गली में जाने लगा। जो आदमी चबूतरे पर बैठा था वह बोला—इधर से मत जाओ। गली संकरी है। हमारी चौकियां टूट जायेंगी तुम्हारी बैलगाडी से। उधर से मत जाओ। उसने कहा—रास्ता है, आम रास्ता है, तुम कौन रोकने वाले होते हो ? कहते-कहते झडप हो गयी। गाडीवान जाने लगा। वह आदमी चबूतरी पर बैठा। बैठा-बैठा गुस्से मे आया और उछल कर उसकी गाडी में जा बैठा। मैंने देखा तो सचमुच स्वामीजी का यह वाक्य याद आ गया कि गुस्से मे आकर आदमी कोरा बोलता ही नहीं है, उछल भी पडता है, कूद भी लेता है, छलांग भी भर लेता है। बडी विचित्र अवस्था होती है।

यह प्रिय और अप्रिय का सवेदन, यह राग की तरंग और द्वेष की तरंग जब-जब जागती है, हमारी चंचलता बढ जाती है। ये चचलता को बढाने वाले तीन बडे कारण हैं—अव्रत, प्रमाद और कषाय। और मैंने इनकी चर्चा प्रस्तुत प्रवचन मे की है।

तीन दिनों से 'हृदय-परिवर्तन के सूत्र' विषय पर चर्चा चल रही है। इसके परिप्रेक्ष्य मे मैंने बताया कि चंचलता को बढावा मिलता है पांच कारणो से। वे हैं—१ मिथ्यादृष्टिकोण, २ अविरति, ३ प्रमाद, ४. कषाय और ५ योग-प्रवृत्ति। यह एक पूरा चक्र है। जब हम पूर्वानुपर्वी से चलते हैं, तो ये चंचलता को बढ़ाने वाले साधन हैं। और जब पश्चानुपूर्वी से चलते हैं, उल्टे

चलते हैं तो ये हमारी साधना के सूत्र बन जाते हैं। हृदय-परिवर्तन के लिए इन पाचो पर थोडा-थोडा नियन्त्रण पाना आवश्यक होता है। चंचलता (प्रवृत्ति) को कम करना, प्रिय-अप्रिय सवेदनो (कषायो) को कम करना, प्रमाद को कम करना, आकर्षण (अविरति) को कम करना। ये कम होते हैं तो मिथ्यादृष्टिकोण कम होता है और हृदय-परिवर्तन की संभावना बढ जाती है। जो लोग हृदय-परिवर्तन की बात करते हैं, चाहते हैं कि हृदय बदले, दण्डशक्ति का प्रयोग कम हो, मैं उन्हे परामर्श देना चाहूंगा कि वे सिद्धात की बात ही न करे, प्रयोग की भूमिका पर प्रस्थान करे।

हृदय-परिवर्तन के प्रयोग

एक आदमी दूकानदार के पास जाकर बोला—'तुम्हारे पास आटा है ?' उसने कहा—है।' 'फिर पूछा—'चीनी है ?' दूकानदार बोला—'है।' फिर उसने पूछा—'घी है ?' दूकानदार ने कहा—'है।' ग्राहक बोला—'अरे ! भले आदमी तुम्हारे पास आटा है, चीनी है, और घी है फिर तुम हलुआ बनाकर क्यो नहीं बेचते ? हलुए मे तीन चीजे ही प्रयुक्त होती हैं और ये तीनों तुम्हारे पास हैं।

दूकानदार बोला—'भाई साहब ! हलुआ बनाने की सारी चीजें मेरे पास हैं, पर हलुआ बनाने की युक्ति मेरे पास नहीं है। मैं नहीं जानता कि हलुआ कैसे बनाया जाता है ? यदि बिना जाने हलुआ बनाने बैठूंगा तो आटा भी खराब होगा, चीनी और घी भी खराब होगा। न हलुआ ही बनेगा और न ये चीजें ही सुरक्षित रह पाएंगी। फिर न आटा आटा रहेगा, न चीनी चीनी रहेगी और न घी घी रहेगा। हलुए के अतिरिक्त और कुछ बन जाएगा।'

हर निर्माण में युक्ति की आवश्यकता होती है। युक्ति को जाने बिना कुछ भी निर्माण नहीं किया जा सकता।

हम हृदय के परिवर्तन की चर्चा कर रहे हैं। हृदय का परिवर्तन होना चाहिए, यह काम्य है परन्तु यदि हृदय-परिवर्तन की युक्ति ज्ञात नहीं है, प्रक्रिया ज्ञात नहीं है तो हृदय-परिवर्तन के स्थान पर पैर का परिवर्तन हो सकता है, और कुछ परिवर्तन हो सकता है।

चेतना का रूपांतरण करना छोटा कार्य नहीं है, बहुत बडा कार्य है। मैं मानता हूं, जितने भी बड़े कार्य हैं, उन सबसे बडा कार्य है चेतना का रूपांतरण। चेतना का रूपांतरण ही हृदय का परिवर्तन है। जब चेतना बदलती है तो हृदय बदल जाता है। चेतना नहीं बदलती है तो कुछ भी नहीं बदलता। युक्ति को जाने बिना चेतना का रूपांतरण नहीं हो सकता।

हमारे सामने दो कार्य हैं—चेतना को बदलना और आदमी की चेतना को बदलना। दोनो बडे कार्य हैं। भौतिक जगत् के लिए अनेक नियम खोजे गए, बनाए गए, परन्तु चेतना-जगत् के लिए सार्वभौम नियमों की खोज करना बडा जटिल कार्य है। वस्तु अचेतन है। अचेतन के नियमो की खोज सरल है,

क्योकि उसमे परिवर्तन नहीं होता। किन्तु चेतना बदलती रहती है, इतना जल्दी रूपांतरित हो जाता है कि नियम कार्यकर नहीं रहता। जितने नियम खोजे जाते हैं वे सारे व्यर्थ हो जाते हैं, क्योकि चेतना एकरूप नहीं रहती। छोटे से छोटा प्राणी अपनी स्वतंत्र इच्छा का प्रयोग करता है, छलांग भरता है और बेचारा नियम कहीं का कहीं रह जाता है। अचेतन में छलाग नहीं होती, चेतन मे छलाग होती है। अचेतन मे इच्छा नहीं होती, चेतन मे इच्छा होती है। यह इच्छा की स्वतंत्रता प्राणी का विशिष्ट लक्षण है। इसलिए चेतन प्राणियो के लिए नियमों को खोजना जटिलतम कार्य है।

प्राणी को बदलना, जिसकी अपनी स्वतत्र चेतना है, स्वतत्र इच्छा है, बहुत जटिल कार्य है। प्राणियों मे भी मनुष्य की चेतना को बदलना और भी अधिक जटिल है, क्यो कि उसके पास ऊह है, अपोह है, तर्क है, वितर्क है, बुद्धि है और चेतना के सारे व्यापार, सारे विकास विद्यमान हैं। उसको बदलना, सचमुच जटिल कार्य है। चेतना का परिवर्तन, मनुष्य की चेतना का परिवर्तन युक्ति को जाने बिना सम्भव ही नहीं है, क्योकि वह परिवर्तन परिस्थिति का परिवर्तन नहीं है। आदमी परिस्थिति को बदलने की बात सोच सकता है, प्रयत्न कर सकता है, उपाय खोज सकता है और यह संभव भी हो जाता है, किन्तु उस मनुष्य की चेतना को बदलना जिसके साथ स्मृति जुडी हुई है, संस्कार जुडे हुए हैं, दोष जुडे हुए हैं, बहुत कठिन बात है। ये सस्कार दीर्घ कालीन है। सुदूर अतीत के सस्कार सक्रात हो रहे हैं, आ रहे हैं। उनमे परिवर्तन करना सरल नहीं है।

कुछ घटनाएं विचित्र होती हैं। उन पर सहसा विश्वास नहीं होता। हमने सुना एक साध्वी किसी अदृश्य छाया से ग्रस्त हो गई। उसे भयकर मानसिक वेदना से गुजरना पडता। यह सिलसिला महीनो तक चलता रहा। अनेक उपाय किए। मत्र, जाप, इष्ट-स्मरण, आराधना के उपक्रम हुए। साध्वी के मुंह से आवाज आती-'हम बदला ले रहे हैं। इस जन्म से दो जन्म पूर्व इसने हमारा धन हजम कर डाला था। हमने इसके पास बन्धक के रूप मे धन रखा था। जब हमने मांगा तब यह मुकर गया। हम बदला लेना चाहते थे, बदला ले रहे हैं। अभी कुछ दिन इसको और पीडित करेगे। जब साध्वी कुछ स्वस्थ होती, वह छाया दूर होती, तब कहती-'कोई किसी का धन न हडपे, बन्धक रखी हुई वस्तु को हजम न करे। इसका परिणाम बहुत बुरा होता है।'

कुछ महीनो तक साध्वी ने बहुत वेदना सही। उस छाया ने बहुत कष्ट दिया। एक बार छाया ने कहा-'हम साध्वी को मार डालते। हमारे बदले

की तीव्र भावना थी। पर यह जाप करती है, ईश्वर का भजन करती है, इसलिए हम इसे मार तो नहीं सके, पर जितनी पीडा देनी थी, वह दी, अब हम इसे छोडकर जा रहे है।'

छाया के निकल जाने के बाद साध्वी पूर्णरूपेण स्वस्थ हो गई।

हम इस घटना की मानसिक व्याख्या भी कर सकते हैं और इसे मन की दुर्बलता कह कर टाल भी सकते हैं। पर व्याख्या का एक यही कोण नहीं है। उसका दूसरा कोण भी है। प्रत्येक प्राणी अपने किए पाप का फल पाता है। अपना किया हुआ अर्जन, अपना किया हुआ संचय फल देता है। एक होता है स्वाभाविक संचय और एक होता है अर्जित संचय। अर्जित संस्कारों का सचय लंबे समय तक फल देता है। जिस संस्कार का,स्वभाव का और प्रकृति का सचय किया है, हजार वर्ष बीत जाने पर भी जब परिपाक में आता है तब परिणाम देता है और आदमी तब कुछ का कुछ हो जाता है। उसका बडा विचित्र रूप सामने आ खडा होता है।

इसलिए यह कहा जाता है कि आदमी की चेतना को रूपान्तरित करना सहज-सरल कार्य नहीं है। अनेक प्रतिबन्धक स्थितियां सामने आती हैं। कुछ व्यक्ति ऐसे होते है जो थोडे से सत्य को जानकर, सत्य का अनुभव कर बदल जाते हैं। कुछ लोग ऐसे होते हैं कि हजार बार प्रयत्न करने पर भी नहीं बदलते। यह अन्तर क्यों आता है ? यह प्रश्न स्वाभाविक है।

एक आदमी सरल है, ऋजु है, करुणाशील है। वह बुराई करने से कतराता है। बुराई को पास मे भी नहीं फटकने देता।

एक आदमी वक्र है, मायावी है, क्रूर है। वह इतना पापिष्ठ है कि किसी भी पाप से नहीं डरता। वह बुराई करने मे सकोच नहीं करता। मनुष्यों को मारना उसके बाएं हाथ का खेल जैसा बन जाता है।

आदमी-आदमी में इतना अन्तर क्यो ? आदमी-आदमी के व्यवहार और आचरण में इतना भेद क्यों ? इस भेद की व्याख्या केवल परिस्थिति के आधार पर नहीं की जा सकती। बाहरी परिस्थिति ही यदि इस अन्तर का कारण बने तो शायद एक ही जैसी परिस्थिति मे जीने वाले लोग एक जैसे बन जाते। पर ऐसा नहीं है। एक जैसी परिस्थिति मे जीने वाले लोग भी एक समान नहीं हैं। उनमे भी बडा अन्तर है। तब हमे एक दूसरे कोण से सोचना पडता है। हमे यह निश्चित कहना पडता है कि बाहरी परिस्थिति ही सब कुछ नहीं है। भीतरी परिस्थिति भी भेद का कारण बनती है।

करकंडु राजकुमार था। उसकी गणना 'प्रत्येक-बुद्ध' की कोटि मे की जाती है। प्रत्येक-बुद्ध वह होता है जो किसी निमित्त विशेष से बोधि प्राप्त

करता है, जिसकी चेतना किसी एक निमित्त से जागृत हो जाती है। वह राजा बना। वह गो-प्रिय था। एक बार वह गोकुल मे गया। उसने एक पतले-दुबले बछडे को देखा। उसका मन दया से भर गया। उसने आज्ञा दी कि इस बछडे को उसकी मां-गाय का सारा दूध पिलाया जाये। और जब वह बडा हो जाए तो दूसरी गायो का दूध भी इसे पिलाया जाए। गोकुलरक्षक ने वैसा ही करना प्रारम्भ कर दिया।

बछडा सुखपूर्वक बढने लगा। वह युवा हुआ। वह हृष्ट-पुष्ट और विशाल स्कन्ध वाला बैल बन गया। उसके सींग सुन्दर थे। सारे अवयव प्रमाणोपेत थे। वह ऐसा लगता मानो कि स्फूर्ति का प्रतिबिम्ब हो। राजा ने उसको देखा। वह बहुत प्रसन्न हुआ। अब राजा प्रतिदिन गोकुल में जाता और एकटक उस बैल को देखता रहता। इससे उसका मन आनन्द से भर जाता। यह क्रम लम्बे समय तक चलता रहा।

कुछ समय बीता। राजा कहीं अन्यत्र चला गया था। वर्षों बाद आया। आते ही उसे बैल की स्मृति हो आयी। वह सीधा गोकुल में पहुंचा। उसने गोकुलरक्षक से पूछा—वह वृषभ कहां है ? उसने कहा—महाराज ! आपके सामने जो बैल बैठा है, वही वह वृषभ है। राजा ने सुना। वह अवाक् रह गया। अरे! ये कैसे ? इतना दुबला हो गया ? इतना बूढा हो गया ? इसकी आंखे अन्दर गडी जा रही हैं, पैर लडखडा रहे हैं। यह छोटे-बडे अन्य बैलो का सघट्टन सह रहा है। राजा ने सोचा, कितना हृष्ट-पुष्ट था यह ! इसके कंधे कितने बलिष्ठ थे ? इसके विषाण कितने सुन्दर थे ! कहां गया इसका बल ? कहां गई इसकी सुन्दरता ? क्या मुझे भी बूढा होना पडेगा ? क्या बूढा होने पर मेरी भी यही अवस्था होगी? इस चिन्तन से राजा का मन वैराग्य से भर गया। वह सीधा राजमहल मे आया, राज्य का परित्याग कर उसने मुनि-जीवन के लिए तत्काल प्रस्थान कर दिया।

बूढे बैलो को कौन नहीं देखता ? क्या उन्हे देखकर कोई मुनि-जीवन के लिए प्रस्थान कर देता है ? यदि बूढे बैल को देखने मात्र से मुनि बनने की या बूढा न होने की चेतना जाग जाए तो शायद आज साधु ही साधु मिलते, गृहस्थ नहीं मिलते। बूढा बैल राजा करकंडु की चेतना के परिवर्तन का निमित्त बना, पर सबके लिए यह निमित्त चेतना के परिवर्तन का घटक नहीं बन सकता। किसी के लिए यह निमित्त रूपान्तरण का घटक बन जाता है और किसी के लिए नहीं बनता।

थावच्चापुत्र अपनी मां के पास बैठा था। पडोस मे बाजे बज रहे थे। उसने सुना। मा से पूछा—'मां ! ये बाजे क्यो बज रहे हैं ?' मा ने कहा—बेटा!

उस घर मे पुत्र का जन्म हुआ है। उसकी खुशी मे बाजे बजाए जा रहे हैं।'

दूसरा दिन उगा। पडोस में करुण क्रन्दन हो रहा था। थावच्चापुत्र ने मां से कहा–'मां ! कल जो गीत गाए जा रहे थे, वे कानों को प्रिय लगते थे। आज जो गीत गाए जा रहे हैं, कर्णकटु और अप्रिय है। ऐसा क्यों है मां ?'

मां ने कहा–बेटा ! आज गीत नहीं गाए जा रहे हैं। घर मे क्रन्दन हो रहा है, लोग रो रहे हैं, विलाप कर रहे हैं। उसने कहा–'मां ! यह अंतर क्यों! कल सुहावने गीत गाए जा रहे थे और आज कानो को अप्रिय लगने वाले गीत गाए जा रहे हैं ? यह भेद क्यो?'

मां ने कहा– बेटा ! कल बालक जन्मा था। उस खुशी में खुशी के गीत गाए जा रहे थे। सबके मन मे उल्लास था, प्रसन्नता थी। आज वह बच्चा मर गया। सब रो रहे हैं, विलाप कर रहे हैं।'

'मां ! कल जन्मा और आज मर गया ? मां ! क्या मैं भी मरूंगा ?'

मां बोली–बेटा ! यह संसार है। इसका शाश्वत नियम है कि जो जन्मता है वह मरता है। यहां कोई अमर नहीं रहता।'

थावच्चापुत्र बोला–'मां ! यदि ऐसा है तो मैं मरने की दुनिया मे रहना नहीं चाहता। मैं अब अमर होने की दिशा मे प्रस्थान करना चाहता हूं।'

थावच्चापुत्र मुमुक्षु और अमर होने की दिशा मे प्रस्थित हो गया।

क्या मरने या रोने की गीत सुनकर सभी अमर होने की दिशा मे प्रस्थान कर देते हैं ? ऐसा नहीं होता है।

इन सार संदर्भो से यह सचाई स्पष्ट हो जाती है कि बाहरी परिस्थिति होने पर भी आन्तरिक परिस्थिति सबकी समान नहीं होती। आन्तरिक परिस्थितियो का अन्तर ही व्यक्ति-व्यक्ति में अन्तर पैदा करता है और इस भिन्नता के कारण ही सबके रास्ते अलग-अलग हो जाते हैं। कुछ लोग हिंसा की ओर मुड जाते हैं और कुछ लोग अहिंसा की ओर मुड जाते हैं। अहिंसा की परिस्थितियों में पलते हुए भी कुछ लोग हिंसा के वातावरण मे चले जाते हैं और कुछ लोग हिंसा की भीषण परिस्थितियो मे पलते हुए भी अहिंसा के वातावरण मे चले जाते हैं।

बाहरी परिस्थिति की समानता और आन्तरिक परिस्थिति की असमानता–इन दोनों के विश्लेषण के आधार पर हृदय-परिवर्तन की समस्या का समाधान खोजा जा सकता है। आयुर्वेद मे दो प्रकार की औषधियों का विधान है–शोधक और शामक। कोई रोग उत्पन्न हुआ है। शोधन से वह रोग समाप्त हो जाता है। शोधन की एक निश्चित प्रक्रिया है। उससे अनेक रोग मिट जाते हैं। शोधन की प्रक्रिया के तीन अंग है–वमन, विरेचन और

स्वेदन। इनसे दोष बाहर निकाला जाता है। वमन से दोष बाहर निकलते हैं, विरेचन से दोष बाहर निकलते हैं और स्वेदन—पसीने से दोष बाहर निकलते हैं।

शोधन की प्रक्रिया रोग के उन्मूलन की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। इससे फिर रोग के आक्रमण की आशंका नहीं रहती।

दूसरी प्रक्रिया है—शमन की। कुछ रोग ऐसे होते हैं जिनमे शोधन इतना अपेक्षित नहीं रहता। वे दोष शमन के द्वारा शांत हो जाते हैं, दब जाते हैं। यदि पित्त की उग्रता होती है तो उसका शमन घी से कर दिया जाता है। गिलोय, गडूची आदि शामक औषधियां हैं। इनसे दोष बाहर नहीं निकलता पर भीतर ही भीतर शांत हो जाता है।

शरीर के तीन दोष माने जाते हैं—वात, पित्त और कफ। वैसे ही मन के भी तीन दोष हैं—कृष्णलेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्या—ये तीन प्रकार के मनोभाव हमारे मन के तीन दोष हैं। सांख्य दर्शन की भाषा मे रजोगुण और तमोगुण—ये मन के दो दोष हैं। इन मानसिक दोषों का शोधन भी होता है और शमन भी होता है। इनके साथ विलय की बात मैं और जोड देना चाहता हूं। आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करने पर तीन बातें फलित होती हैं—दोषो का शोधन, दोषों का शमन और दोषों का विलयीकरण या क्षयीकरण। शमन या शांत किए गए दोष फिर उभर सकते हैं, पर क्षीण किए गए दोष कभी नहीं उभर सकते।

हम हृदय-परिवर्तन के लिए मानसिक दोषों का शोधन करना सीखें। उसकी युक्ति को हस्तगत करे। हमे हिंसा की चेतना को बदलना है। कैसे बदलेगे ? यह हमने सिद्धान्त रूप में स्वीकार कर लिया कि चंचलता को मिटाने का अभ्यास करने पर चेतना बदल जाती है। प्रश्न वही आएगा कि चंचलता को मिटाने की युक्ति क्या है ? जब हम युक्ति की बात करते हैं तो हमें बहुत गहरे में जाना होगा। हमारे समक्ष अनेक सचाइयां होती हैं, पर हम उन सारी सचाइयों को जान ही नहीं पाते और अपने आचरण की व्याख्या भी नहीं कर पाते।

एक बार पत्नी अपने प्रियतम को पत्र लिखने बैठी। वह एकान्त और अकेलेपन से ऊब चुकी थी। प्रियतम को घर से गए छह महीने हो गए थे। यह भावावेश में थी। आंखे डबडबा आईं। वह पत्र लिखने बैठी। हाथ में कलम है। पन्ने पर लिख रही है। आंखों से आंसू पन्ने पर गिर रहे हैं। अत्यन्त एकाग्र है। अपने भावो को अक्षरो में उतारती गई। संयोग ऐसा बना की उसी समय, उसी क्षण उसका पति परदेश से लौट आया। उसने अपनी पत्नी को

लिखने मे लीन देखा तो चुपचाप एक ओर खडा रह गया। पत्नी अपने प्रियतम को पत्र लिख रही है और वह प्रियतम उसके पास खडा है। पत्र पूरा हुआ। उसने उसे समेटा लिफाफे में डाला। उस पर पता लिखा और प्रसन्नता मे मुह ऊपर किया। देखा तो पास मे प्रियतम खडे हैं।

बहुत बार ऐसा होता है। सचाइयां सामने पडी होती हैं पर आदमी सचाइयो की खोज में ध्यान-मग्न हो जाता है। उसे पता ही नहीं चलता कि जिसे खोजा जा रहा है वह सचाई तो सामने पडी है। आदमी उसे जान नहीं पाता, व्याख्या नहीं कर पाता।

अनेक आदमी कान विंधाते हैं। स्त्रियां कान और नाक—दोनो विंधाती हैं। नक्र-वेधन और कर्ण-वेधन-दोनों होते हैं, पर उन्हें इस वेधन का कारण ज्ञात नहीं है। वह व्यवहार है, इसका अनेक प्रान्तों मे प्रचलन भी है, परन्तु इस व्यवहार की पृष्ठभूमि किसी को ज्ञात नहीं है। स्त्रियों के नक्र-वेधन और कर्ण-वेधन का मुख्य कारण था कि वासना पर नियन्त्रण रखा जा सके। वासना उच्छृंखल न बने, कामना उच्छृखल न बने, इसलिए यह एक उपाय सोचा गया था। यह उपाय वैज्ञानिक है। स्त्री के कान और नाक जहां से बींधे जाते हैं, वहा सूक्ष्म ग्रन्थियां हैं और वे ग्रन्थियां काम-वासना को उत्तेजित भी करती हैं। उनके वेधन से उस उत्तेजना की सघनता में परिवर्तन आता है और तब कामवासना नियन्त्रित हो जाती है। यह वैज्ञानिक तथ्य आंखो से ओझल हो गया और बहिनो ने मान लिया कि कान बींधे जाते हैं कर्णफूल पहनने के लिए और नाक बींधा जाता है नथ पहनने के लिए। आभूषणो की ओट मे मूल बात छिप गई।

आदमी का कान इसलिए बींधा जाता है कि उसके अंडकोशों की वृद्धि न हो, आंत की वृद्धि न हो। यह मुख्य दृष्टिकोण था कर्ण-वेधन का। पर बात विस्मृति में चली गई और पुरुषों ने मान लिया कि कान बींधा जाता है आभूषण पहनने के लिए, बाली पहनने के लिए। आजकल तो पुरुष कान विंधाते ही नहीं।

आदमी किसी एक प्रवृत्ति का आचरण करता चला जाता है, पर उसके यथार्थ को नहीं समझता। प्रत्येक के पीछे सचाई होती है। जब वह सचाई हाथ से छूट जाती है। तब वह प्रवृत्ति रूढि बन जाती है।

सब श्वास लेते हैं। कोई छोटा श्वास लेता है, कोई बडा श्वास लेता है और कोई कोरा श्वास लेता है। तीनो के तीन अर्थ हैं। लंबा श्वास लेने का एक अर्थ होता है। छोटा श्वास लेने का एक अर्थ होता है और कोरा श्वास लेने का एक अर्थ होता है। हम श्वास लेते हैं पर श्वास लेने का अर्थ नहीं

जानते, इसलिए हमे जो सत्य उपलब्ध होना चाहिए वह उपलब्ध नहीं होता। श्वास लेने का एक अर्थ जीना हो सकता है, पर केवल जीना ही नहीं है। श्वास लेने का वास्तविक अर्थ है–बाहर और भीतर–दोनों जगत् से संपर्क बनाए रखना। श्वास बाहर भी जाता है भीतर भी जाता है। हमारे शरीर मे सभवत: यही एक ऐसी व्यवस्था है, जिसका बाहर और भीतर–दोनों से सपर्क जुडा हुआ है।

हम चचलता को मिटाना चाहते हैं। युक्ति हमारे सामने पडी है। युक्ति को अन्यत्र ढूढने की आवश्यकता नहीं है। श्वास की युक्ति को काम मे लें। यही सबसे बडी युक्ति है। जैसे ही श्वास प्रेक्षा प्रारम्भ होगी, चंचलता धीरे-धीरे कम होती चली जाएगी। जैसे-जैसे श्वास की साधना सधती जाएगी, वैसे-वैसे एकाग्रता बढती जाएगी। यह तो कहना सर्वथा अतिशयोक्तिपूर्ण होगा कि पांच-दस दिन के श्वास-प्रयोग से चंचलता मिट जाएगी। पर यह निश्चित कहा जा सकता है कि श्वास के प्रयोग के माध्यम से चंचलता पर नियन्त्रण स्थापित किया जा सकता है। इसमे कोई सदेह नहीं है। श्वास-प्रेक्षा के प्रयोग को लम्बे समय तक चालू रखा जाए तो एक दिन वह साधक यह कहने की स्थिति मे आ सकेगा कि मन की चंचलता पर मेरा पूरा नियन्त्रण है। मैं चाहूं तो सोचूं, मैं न चाहूं तो न सोचू। मैं चाहूं तो स्मृति और कल्पना करू और न चाहूं तो स्मृति और कल्पना न करूं, निर्विकल्प बन जाऊ।

मैं कोरे सिद्धात मे विश्वास नहीं करता। सिद्धांत हो और मार्ग न हो तो वह सिद्धात किस काम का ? कोरे परिवर्तन की बात कहे और उपाय न बताए तो वह निकम्मी बात होगी, दीनता की बात होगी। जो दीनता की स्थिति मे नहीं जाना चाहता, उसे उपाय खोजना होता है। हमें उपाय उपलब्ध है। हम दीन नहीं हैं। परिवर्तन की बात करते हैं और साथ-साथ सही उपाय भी बतलाते हैं।

एक महात्मा ने लम्बा-चौडा भाषण दिया और परिषद् से बदलने की बात कही। उन्होने कहा–हमको सत्यवादी होना है, अक्रोधी होना है, क्षमाशील होना है, अमायावी और अलोभी होना है-आदि-आदि। एक आदमी ने पूछ लिया–'महाराज ! होने वाली बात आपने बहुत अच्छी कही। कैसे हुआ जाए, इसका भी कुछ् निर्देश दे।' इस प्रश्न के आते ही सब मौन, महात्माजी मौन और दूसरे श्रोता भी मौन। सारा वातावरण मौनमय बन गया।

एक ओर बदलने की बात है, सिद्धांत की बात है। दूसरी ओर निरुपायता है। यह तो एक ऐसा ही योग है, एक हाथ मे घोडा और एक हाथ मे गधा। बदलने की बात बहुत अच्छी है, सचाई है, यथार्थ है। यह तो रेस

का तेज घोडा है। जब बदलने का उपाय पूछा जाता है तो मौन। उपाय कोई नहीं। निरुपाय। यह गधे जैसी स्थिति हो जाती है। यह हमारे जीवन की व्यर्थता है, असफलता है। मेरा ऐसे असफल जीवन में विश्वास नहीं है। मैं उस बात में विश्वास करता हूं, जिसमे परिवर्तन के सिद्धांत की प्रतिष्ठापना के साथ-साथ उसके क्रियान्वयन के उपाय भी निर्दिष्ट हों। निरुपाय सिद्धांत व्यर्थ होता है। उसकी कोई उपलब्धि नहीं होती।

अपाय है तो उपाय भी है। अपने पुरुषार्थ के द्वारा उपाय को खोजना है और उसे काम में लेना है।

प्रश्न आता है कि आदमी प्रिय-अप्रिय संवेदनो को कैसे कम करे ? जीवन के ये दो तत्त्व हैं—प्रियता और अप्रियता। इनसे प्रत्येक व्यक्ति सदानित है। इनसे छुटकारा पाना सहज-सरल नहीं है। पर ये निरुपाय नहीं हैं।

जो व्यक्ति प्रिय-अप्रिय सवेदनों से मुक्त होना चाहता है वह ज्योति-केन्द्र पर ध्यान करे। यह एक अनुभूत और महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। इस प्रयोग से कषाय-विजय होती है। प्राण-केन्द्र पर ध्यान करने से प्रमाद आश्रव पर विजय प्राप्त होती है। प्रमाद अनुत्साह पैदा करता है, चेतना को अलस और मन्थर बनाता है, निष्क्रिय बनाता है। जो व्यक्ति प्राण-केन्द्र को साध लेता है वह प्रमाद से छुट्टी पा लेता है। उसके मन मे अरति नहीं होती, आर्त्त भावना कम हो जाती है। उसका मन विपदाओं से मुक्त हो जाता है। पदार्थनिष्ठ रस समाप्त होने लग जाता है। वही रस बचता है जो जीवन के लिए अनिवार्य होता है।

ध्यान करने वाला व्यक्ति आवश्यकता को नहीं खोता, किन्तु जीवन की व्यर्थताओं से बच जाता है। प्रत्येक आदमी लेखा-जोखा करके देखे तो सही कि वह जीवन में आवश्यक कार्य कितना करता है और कितने व्यर्थ। जीवन की बात छोड दें, वर्षभर की बात रहने दें, वह प्रतिदिन यह लेखा-जोखा करके देखे कि पूरे दिन में आवश्यक कितना किया और अनावश्यक कितना किया ? यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि सामान्यत: आदमी सत्तर-अस्सी प्रतिशत अनावश्यक काम करता है।

ध्यान का अर्थ निष्क्रिय और अकर्मण्य हो जाना नहीं है। ध्यान का अर्थ है—अनावश्यक से निष्क्रिय हो जाना और आवश्यक मे सक्रिय हो जाना और उसी मे सारी शक्ति का नियोजन कर देना। जो कार्य हो वह अधिक सुघडता, सफलता, कुशलता और दक्षता के साथ सम्पन्न हो। सुघडता और

कुशलता बढती जाए यह हमारी कौशल-वृद्धि का उपाय है। यह हमारी कुशलता का दर्शन है, सक्रियता का दर्शन है। ध्यान अकर्मण्यता या निष्क्रियता का दर्शन नहीं है। ध्यान यदि अकर्मण्यता का या जीवन की विफलता का दर्शन होता तो आज शायद सब लोग ध्यान करने लग जाते। यह कहना सच है कि समाज के शत-प्रतिशत लोग विफलता का काम करते हैं और सफलता का काम पांच-दस प्रतिशत लोग करते हैं। असफलता के जितने काम हैं, हर आदमी उनका आचरण करता है। सफलता के काम का आचरण हर आदमी नहीं करता। यदि सारे लोग सफलता के कार्य का आचरण करते तो वही प्रश्न उपस्थित होता जो पुराने जमाने मे उपस्थित हुआ था। धर्म-स्थान में भीड को देखकर एक आदमी ने संतों से कहा—महाराज! ये सारे लोग धार्मिक लोग हैं, धर्म करने वाले हैं, अब स्वर्ग मे इतनी भीड हो जाएगी कि वहां स्थान ही खाली नहीं मिलेगा। जैसे आज के वैज्ञानिको को भी ऐसी ही चिन्ता है कि यदि आबादी इस रफ्तार से बढती गई तो वह दिन दूर नहीं है, जिस दिन भूमि पर आदमी को पैर रखने की जमीन भी नहीं मिल पाएगी।

ध्यान यदि विफलता का सूत्र होता तो यहां बडी भीड लग जाती। सब के सब लोग ध्यानी बन जाते। स्वर्ग में अपार भीड हो जाती। ध्यान सफलता का सूत्र है इसीलिए उसे सभी लोग अपनाने मे झिझकते हैं। उन्हें संदेह होता है कहीं सफल हो न जाऊं।

प्रमाद को निरस्त करने का तथा सफलता की उपलब्धि का एक महत्त्वपूर्ण उपाय है—प्राणकेन्द्र और दर्शनकेन्द्र पर ध्यान करना।

एक समस्या और है। वह है बाहरी आकर्षण। उसका भी सतुलन अपेक्षित होता है। बाहरी आकर्षण के साथ-साथ भीतरी आकर्षण भी पैदा करे। दोनो का सतुलन साधे, जिससे बाहर की गति मे अवरोध न हो और भीतर की बेचैनी न बढ़े, भीतर का असंतोष न उभरे। आदमी उस प्रगति के पथ पर पैर न बढाए, जो प्रगति एक दिन मनुष्य-जाति के विनाश और सहार का हेतु बन जाए। जो मनुष्य-जाति को ही लील जाए वैसी प्रगति वाछनीय नहीं है। यदि ऐसी प्रगति हो तो उस पर नियत्रण की क्षमता होनी चाहिए। इस बाहरी आकांक्षा, आकर्षण और अतृप्ति पर नियन्त्रण करने का उपाय है—विशुद्धिकेन्द्र पर ध्यान करना और आनन्दकेन्द्र की प्रेक्षा करना। ये दो उपाय ऐसे हैं, जिनसे भीतर का आकर्षण बढता है, बाहर का आकर्षण कम होता है। आनंद-केन्द्र वह महान् द्वार है, जो हमे अन्दर प्रविष्ट कराता है।

जो व्यक्ति आनंद-केन्द्र को सक्रिय करने मे सक्षम हो जाता है वह यह निश्चित अनुभव कर लेता है कि बाहरी और भीतरी जगत् के बीच सम्पर्क स्थापित करने का यह सबसे शक्तिशाली माध्यम है। इस माध्यम से सूक्ष्म जगत् में प्रवेश करना सहज हो जाता है।

हम प्रेक्षाध्यान के परिपार्श्व में आकर निरुपाय या असहाय नहीं हैं। हमारे दोनों हाथों में घोडे हैं। हमारे पास सिद्धांत की यथार्थता है तो उपाय की भी यथार्थता है। एक ओर हम सिद्धांत के सत्य का प्रतिपादन करते हैं, हमारी अगुली सत्य की ओर इंगित करती है तो साथ-साथ उस सत्य की उपलब्धि के लिए उपायो की ओर भी निर्देश करती है। प्रत्येक सिद्धांत की क्रियान्विति के लिए उपाय हैं और वे सब कार्यकर उपाय हैं, अनुभूत उपाय हैं।

निषेधात्मक भाव

पौराणिक कहानी है। तपस्वी ने तप तपना शुरू किया। इन्द्र का आसन डोल गया। जब-जब तपस्वी तप तपते तब-तब इन्द्रासन डोल जाता। इन्द्र का आसन डोला और वह तत्काल चिन्तातुर हो गया। उसने सोचा, खतरा पैदा हो रहा है। मेरा सारा ऐश्वर्य समाप्त हो रहा है। मेरे स्थान पर दूसरा आ रहा है। वह तत्काल धरती पर आया। उसने देखा, एक तपस्वी तप तप रहा है। कारण समझ मे आ गया। उसने एक उपाय सोचा। सोने की एक सुन्दर तलवार लाकर उसने तपस्वी के पास रख दी और हाथ जोडकर कहा—'तपस्वी ! मैं शहर मे जा रहा हूं। मेरी तलवार कुछ समय के लिए अपने पास रख लो। अभी-अभी लौट जाता हू। आते ही मैं अपनी तलवार ले लूंगा।'

तपस्वी ने कहा—'अच्छा, रख दो। जल्दी लौट आना।' इन्द्र चला गया। एक दो घंटे बीते। दिन बीत गया। रात भी बीत गई। इन्द्र लौटकर नहीं आया। सोने की तलवार थी। तपस्वी को सुरक्षा करनी ही थी, अन्यथा उसे कोई चुरा कर ले जा सकता था। प्रतीक्षा करता रहा। इन्द्र नहीं आया। प्रतीक्षा मे उसकी साधना हिल उठी। साधना कमजोर हो गई। तपस्वी तपस्या को भूल गया। सोने की तलवार की सुरक्षा स्मृति मे बनी रहती। साधना का आसन हिला और इन्द्रासन मजबूत हो गया।

मै देखता हूं, जब-जब तपस्या शुरू होती है, इंद्रासन डोल जाता है। सबके भीतर एक-एक इन्द्र बैठा है। उसका इन्द्रासन भी है। जब-जब आदमी ध्यान करता है, इन्द्र का इन्द्रासन डोल जाता है, खतरा पैदा हो जाता है, तब फिर वह सोने की तलवार रख जाता है और साधक उसकी सुरक्षा मे ध्यान को भुला देता है। जिन लोगो ने ध्यान का अभ्यास और अनुभव किया है, वे जानते हैं, जो निषेधात्मक विचार नहीं आते थे, वे ध्यान-काल मे अवश्व ही उभरते हैं। ऐसा क्यो होता है ? यह इसलिए होता है जब आदमी ध्यान करता है तब इन्द्रासन डोल जाता है और उस इंद्रासन की सुरक्षा के लिए ये सोने की तलवार (निषेधात्मक भाव) सामने आती हैं। ध्यान-साधक जब गहराइयों मे उतरता है और जब उसका तेज बढता है तब भीतर बैठा हुआ इन्द्र कांप जाता है। इन्द्र का अर्थ है—परम ऐश्वर्य-सपन्न, परम शक्ति-सपन्न और सबसे बडा। हमारे जीवन-चक्र मे एक परम शक्तिसपन्न तत्त्व बैठा हुआ है जो समूचे जीवन का सचालन कर रहा है। वह इंद्र का स्थान लिए बैठा है। वह

है—लोभ। केन्द्र मे है लोभ। लोभ सबका सचालन करता है। यह सबसे अधिक शक्ति-सपन्न, ऐश्वर्य-सपन्न और वैभव-संपन्न है। यह समर्थ है। दूसरे सारे इसकी पर्युपासना में लगे रहते हैं। सैद्धान्तिक भाषा मे कहा जाता है कि क्रोध, अहंकार और माया के नष्ट हो जाने पर भी लोभ बचा रह जाता है। परिधि के समाप्त हो जाने पर भी केन्द्र बचा रह जाता है। सब नष्ट हो जाते हैं, लोभ सबके अन्त मे नष्ट होता है।

केन्द्र मे लोभ है और उसने एक ग्रन्थि पैदा की है ममता की। इसीलिए मनुष्य के जीवन मे निषेधात्मक विचारो का साम्राज्य है। विधेयात्मक विचार कम आते हैं, निषेधात्मक विचार अधिक आते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के मन मे भय की भावना उभरती रहती है। अनिष्ट कल्पनाएं और आशंकाएं आती रहती हैं। यह हो जाएगा, वह हो जाएगा—आदि की चिंता से आदमी का मन भरा रहता है। प्रत्येक व्यक्ति यदि आत्मालोचन करे आत्म-निरीक्षण करे तो उसे सहज ज्ञात हो जाएगा कि उसमे नब्बे प्रतिशत विचार निषेधात्मक और मुश्किल से दस प्रतिशत विचार विधायक आते हैं। जब आदमी ध्यान की अवस्था मे होता है तब वे सारे निषेधात्मक विचार उभरते हैं, उनका जाल-सा बिछ जाता है।

प्राचीन साहित्य मे देवो के साथ जुड़ी हुई घटनाओं का प्रचुर विवरण मिलता है। यदि ध्यान और साधना के संदर्भ मे इनकी व्याख्या की जाए तो वहा देव, पिशाच या राक्षस नहीं टिकेंगे। वे सारी घटनाएं निषेधात्मक भावों की घटनाएं होगी। देव, राक्षस या पिशाच—यह सब हमारा निषेधात्मक विचार ही है।

भगवान् महावीर के युग की घटना है। वाराणसी नगरी में एक श्रमणोपासक रहता था। उसका नाम था चूलनीपिता। उसने भगवान् महावीर से धर्मप्रज्ञप्ति स्वीकार की और सतत धर्म-जागरिका करने लगा। एक दिन वह पौषधशाला में साधना कर रहा था। दिन बीता। रात आई। आधी रात बीत गई। वह जागरूक था। सो नहीं रहा था। ध्यान की साधना चल रही थी। चारो ओर अंधकार ही अंधकार था। पर उसका अन्तःकरण ध्यान की ज्योति मे जगमगा रहा था। सोने के समय ध्यान की साधना अच्छी चलती है। अन्धकार मे प्रकाश की साधना ज्यादा अच्छी चलती है। प्रकाश और प्रकाश का मेल नहीं होता। अन्धकार में प्रकाश का अधिक मेल बैठता है।

मध्यरात्री का समय। नीरव वातावरण। एकान्त और शात स्थिति। चूलनीपिता धर्मध्यान मे लीन बैठा है। अकस्मात् उसे प्रतीत हुआ कि एक देव सामने प्रकट हुआ है। देव ने कहा— देवानुप्रिय ! क्या कर रहे हो ? ध्यान

साधना को छोड दो। इससे कुछ भी होना-जाना नहीं है।' चूलनीपिता शांत और सहज बैठा रहा। देव ने दो-तीन बार कहा। पर चूलनीपिता मौन और शात। देव फिर बोला–सुन नहीं रहे हो ? छोड दो ध्यान को। साधना को तिलाञ्जलि देकर चले जाओ यहां से। अगर तुम मेरी बात नहीं मानोगे तो तुम्हे उसका अनिष्ट परिणाम भुगतना होगा। परिणाम बहुत भयंकर होगा। उठो, चले जाओ अपने घर। चूलनीपिता पूर्ववत् अडोल, अप्रकंप और अविचल बैठा रहा। देव बोला–तुम नहीं मानते हो तो लो, मैं अभी तुम्हारे ज्येष्ठ पुत्र को तुम्हारे सामने लाकर मारता हूं। उसके टुकडे-टुकडे कर कडाई मे तलता हू और उस पुत्र को चूनलीपिता के समक्ष मारा, टुकडे-टुकडे कर कडाई में तला और फिर उसके रक्त से चूलनीपिता के शरीर को सींचा।

इतना होने पर चूलनीपिता अविचलित रहा। वह अपनी ध्यान साधना मे लगा रहा।

देव बोला–'बडे ढीठ हो, निर्दयी और निर्मम हो। एक ओर धार्मिक आराधना का ढोग कर रहे हो और दूसरी ओर करुणा का स्रोत सूखता जा रहा है। धार्मिक वह होता है, जिसमे करुणा होती है। बेटा तडप-तडप कर मर रहा है और तुम इतने निर्दयी हो, उसको बचाने के लिए भी नहीं उठ रहे हो। अच्छा, अब भी मान जाओ। अन्यथा मैं तुम्हारे दो और पुत्रो की भी वही दशा करूंगा, जो पहले पुत्र की है। छोड दो धर्म-कर्म को। पुत्र की रक्षा करो।'

चूलनीपिता पर इसका कोई असर नहीं हुआ। देव ने मंझले लडके को उसके सामने मारा, टुकडे-टुकडे किए, कडाहे में तला और रक्त से चूलनीपिता के शरीर को सींचा।

पर चूलनीपिता का एक रोम भी नहीं हिला। देव ने कनिष्ठ पुत्र की भी वही दशा की। पर चूलनीपिता पूर्ववत् धर्म मे लगा रहा।

तीनो पुत्रो की हत्या हो गई। देव निराश हो गया। चूलनीपिता का एक रोम भी प्रकपित नहीं हुआ। देव खिसिया गया। उसने अन्त में कहा–'चूलनीपिता ! नहीं मानते हो तो अब मैं तुम्हारी माता भद्रा को घर से निकाल कर लाता हू और तुम्हारे सामने उसके टुकडे-टुकडे कर कडाहे मे तलता हू।'

चूलनीपिता ने सुना। उसने सोचा–यह दुष्ट और अनार्य पुरुष कुछ भी कर सकता है। मेरे तीनो पुत्रो की इसने हत्या कर डाली। अब मेरी मा को भी मार डालेगा। मा के प्रति ममता उभर आयी। स्नेह उमडा, भीतर का इन्द्रासन डोल गया, ध्यान का आसन डोल गया। वह साधना को छोड उस

दुष्ट पुरुष को पकडने दौडा। पुरुष आकाश मे उड गया। घर के सब लोग दौडे-दौडे आए। न पुत्रों की हत्या हुई थी। न मां को मारने की किसी ने तैयारी की थी। न कडाह था न मांस था, कुछ भी नहीं था। सारी देवमाया थी।

इस घटना की पौराणिक व्याख्या यह हो सकती है कि देव आया और उसने वैसा घटित किया। ध्यान या योग के संदर्भ में इसकी यह व्याख्या हो सकती है—वहां न कोई देव था, न और कुछ था। व्यक्ति के अपने निषेधात्मक भाव जागे और उन भावों ने एक मायाजाल रचा कि उस मायाजाल मे तीनों लडके सामने मारे गए, तले गए, माता भद्रा की बात भी आई आदि-आदि। जब निषेधात्मक भावो का तांता समाप्त हुआ और जैसे ही ध्यान टूटा सब कुछ समाप्त हो गया, कुछ भी नहीं रहा।

इस दुनिया में जीने वाला प्रत्येक व्यक्ति हिंसा और मारकाट से परिचित है, हत्या और आत्महत्या से परिचित है। वह चोरी, डकैती और अपराध को जानता है। वह सभी प्रकार की उपद्रवी और अपराधी मनोवृत्तियों को जानता है। ये सारी घटनाए स्मृति मे अकित रहती हैं। अनेक घटनाएं आदमी स्वयं भोगता है और अनेक घटनायें वह सुनता है—सबकी स्मृतियां अकित हो जाती हैं। एक जन्म की नहीं, अनेक जन्मों की स्मृतियों को आदमी संजोए रहता है। ये अंकन भाव-शरीर में होते हैं। जब आदमी बाहरी चेष्टाओ और प्रवृत्तियो से उपरत होकर एकाग्र होता है तब ये भीतरी स्मृतियां उभरती हैं, साक्षात् होने लगती हैं। कौन व्यक्ति ऐसा है जिसने जीवो को न मारा हो, हत्याएं न की हों ? कौन व्यक्ति ऐसा है जिसने झूठ न बोला हो, कपट और मायाजाल न रचा हो ! कौन व्यक्ति ऐसा है जिसने चोरियां, डकैतियां, लूटपाट या अन्य अपराध न किए हों ? प्रत्येक व्यक्ति ने किए हैं, इस जन्म में नहीं तो अतीत के अनन्त जन्मों में तो किए ही हैं। इन प्रवृत्तियो के सूक्ष्म सस्कार हमारे भाव-शरीर मे चिपके हुए हैं। वे पढे नहीं जा सकते, देखे नहीं जा सकते। जब आदमी ध्यान की अवस्था मे होता है तो ऊष्मा बढती है। उस ऊष्मा की आंच में वे सूक्ष्म अंकन पिघल कर स्थूल बनते है, स्थूल लिपियो में उभरते हैं तब ऐसा लगता है कि कोई देव आकर सता रहा है, कोई राक्षस या पिशाच आकर पीडित कर रहा है। अजीब-अजीब दृश्य सामने आते हैं और तब आदमी घबडा जाता है।

आयुर्वेद का सिद्धात है कि प्रात.काल उठते ही ओकार का जप करना चाहिए। प्रत्येक धर्म सप्रदाय कहता है कि उठते ही भगवान् का नाम स्मरण करना चाहिए। आत्मवादी दर्शन कहते हैं कि उठते ही आत्म-चिन्तन या

आत्म-निरीक्षण करना चाहिए। ये सारे विधायक भाव को जगाने के साधन हैं। जब प्रात.काल उठते ही विधायक भाव का चक्का घूम जाता है तो पूरा दिन उसी जागृति मे बीतता है। यदि उठते ही बुरी बात सामने आती है तो निषेधात्मक भावों का चक्का घूमने लग जाता है और पूरा दिन उसी में गुजरता है।

आज स्थिति कुछ बदल गई है। आज का आदमी उठते ही या तो चाय पीना पसन्द करता है, अखबार देखना पसन्द करता है या फिर रेडियो सुनना पसन्द करता है। अखबार मे उसे निषेधात्मक भावों को जगाने की सामग्री अधिक मिलती है और तब आदमी का मन पूरे दिन तक उन्हीं की उधेडबुन में बीत जाता है। आज के अखबारो मे मारकाट, हत्या, बलात्कार, चोरी, डकैती, लूट-खसोट या एक्सीडेन्टो के समाचार अधिक होते हैं। वह रोमाचकारी घटनाओं से भरा रहता है। ये सारी निषेधात्मक भावो की घटनाएं हैं और ये घटनाएं पढने वालो में निषेधात्मक भावो की सृष्टि करती हैं। आदमी पूरे दिन उन्हीं के प्रभावो मे रहता है। आज के आदमी का यह है प्रभु-भजन, यह है आलोचना की प्रक्रिया और यह है ओकार जाप।

इसलिए ऐसा अनुभव होता है कि दैनिक चर्या के निर्धारण मे भी आदमी की दृष्टि वैज्ञानिक नहीं है। उसकी पूरी दिनचर्या अवैज्ञानिक है। ध्यान और साधना की बात तो बहुत आगे की बात है, पर दिनचर्या की बात तो प्राथमिक है।

दिनचर्या कैसे शुरू हो ? दिनचर्या कैसे सम्पन्न हो ? दिनचर्या का आदि-बिन्दु क्या हो ? दिनचर्या का अन्तिम बिन्दु क्या हो ? इन सब पर आदमी को पहले सोचना चाहिए। पुराने जमाने मे इस विषय पर बहुत ध्यान दिया गया था। उन्होंने स्वास्थ्य रक्षा के साथ-साथ इसका भी निर्देश दिया था कि स्वस्थवृत्त का ध्यान रखो। यदि तुम शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक दृष्टि से स्वस्थ रहना चाहते हो तो अमुक बिन्दु से दिनचर्या प्रारम्भ करो और अमुक बिन्दु पर उसकी समाप्ति करो।

हमारी दिनचर्या का आदि-बिन्दु होना चाहिए शक्तिमय, चैतन्यमय और आनन्दमय प्रभु का दर्शन। दूसरे शब्दो मे हमारी दिनचर्या प्रारम्भ होनी चाहिए प्रेक्षा से, दर्शन से। उठते ही हम अपने इष्ट को देखे। इष्ट वह होता है जो शक्तिमय है, चैतन्यमय है और आनन्दमय है। जो शक्तिशून्य है, चैतन्यशून्य और आनन्दशून्य है वह कभी इष्ट नहीं बन सकता। प्रत्येक आदमी उठते ही अपनी हथेलियो और रस अगुलियो को देखता है। इसलिए देखता है कि वह जानता है—'कराग्रे वसति लक्ष्मी·'-हाथ की अंगुलियो मे लक्ष्मी

का निवास है। लक्ष्मी कल्याणकारी है, बुरी नहीं है। लक्ष्मी शक्ति, चैतन्य और आनन्द का प्रतीक है। जब लक्ष्मी नहीं होती है तो सारी शक्ति लुप्त हो जाती है, चैतन्य गायब हो जाता है और आनन्द तिरोहित हो जाता है। लक्ष्मी शक्ति, चैतन्य और आनन्द–इस त्रयी की प्रतीक है। लक्ष्मी हमारा इष्ट है। चाहे कोई भगवान् को लक्ष्मी माने, अरिहत को लक्ष्मी माने, अपनी आत्मा को लक्ष्मी माने–ये सारी लक्ष्मियां हैं। दरिद्रता कभी इष्ट नहीं बन सकती। वह इस त्रिपदी से शून्य है।

लक्ष्मी और दरिद्रता–ये दो प्रतीक हैं संपादाओं के और विपदाओ के। लक्ष्मी सपदा की प्रतीक है और दरिद्रता आपदा की प्रतीक है। जितनी दैवी शक्तियां, आत्मिक अनुभूतियां और विशेषताएं हैं, उनका प्रतीक बना दिया लक्ष्मी को और जितनी विपत्तियां हैं, निषेधात्मक भाव हैं, बुरे विचार हैं उनका प्रतीक बना दिया दरिद्रता को।

एक पंडित राजा के पास गया। धन चाहता था। राजा को प्रभावित करने के लिए उसने एक युक्ति ढूढ निकाली। राजा को देखते ही उसने ननस्कार किया और वह बोला–'महाराज ? मैं आपका भाई हूं और बहुत दूर से मिलने आया हूं।' राजा ने देखा। फटे-कपडे, बुरा हाल। उसका चेहरा परिचित भी नहीं, जाना-पहचाना भी नहीं। राजा स्तब्ध और अवाक् रह गया। पडित बोला–'आप बोलते क्यो नहीं ? क्या आपने मुझे नहीं पहचाना ? मैं आपका छोटा भाई हू। बहुत दिनों बाद आया हूं।' राजा ने उसकी उदंडता को नजरअंदाज करते हुए कहा–बताओ, मेरे भाई कैसे हुए ? भाई हो और मैं न पहचानू, यह कैसे हो सकता है। पंडित बोला–मैं असत्य नहीं कह रहा हूं। हूं तो आपका ही भाई। राजा ने पूछा–कैसे ! पंडित बोला–राजन् ! मेरी मा का नाम है आपदा और आपकी मां का नाम है संपदा। आपदा और संपदा–दोनों बहिनें हैं। इसलिए मैं आपकी मौसी को बेटा भाई हूं। अब तो पहचाना आपने?

'आपदा च मम माता, तव माता च संपदा।
आपत्संपदे भगिन्यौ, तेनाहं बान्धवो नृप !।।'

आपदा और संपदा–ये दोनो सगी बहिने है। दोनो साथ रहती हैं। सभवत. शरीर का दाया-बाया भाग भी उन्हीं का प्रतीक है। दांया भाग लक्ष्मी का है, संपदा का है और बांया भाग दरिद्रता का है, विपदा का है।

आज सारी दुनिया मे दो ही मार्ग हैं–दक्षिण मार्ग और वाम मार्ग। धर्म के क्षेत्र मे भी दो ही मार्ग हैं–दक्षिणमार्गी और वाममार्गी। तान्त्रिक वाममार्गी होते हैं और दूसरे धार्मिक दक्षिणमार्गी होते हैं। राजनीति के क्षेत्र मे भी

दक्षिणमार्ग और वाममार्ग—ये दो ही मार्ग हैं। हमारे शरीर में, विचारो में और जीवन में भी ये दो मार्ग चलते हैं। एक है विधायक भावों का मार्ग और एक है निषेधात्मक भावो का मार्ग। विधायक भावों का मार्ग है दक्षिण मार्ग और निषेधात्मक भावों का मार्ग है वाम मार्ग। इस मार्ग पर बहुत भीडभाड है। यह चालू रास्ता है। यह इतना व्यस्त मार्ग है कि प्रतिपल भरा रहता है। विधायक मार्ग बेचारा खाली पडा रहता है। वह चौडा रास्ता है, भीड भी नहीं है, पर कभी-कभी भूला-भटका उधर से गुजरते हुए देखा जाता है। खाली रहता है यह मार्ग। हम जब-जब साधना मे बैठते हैं, बाएं मार्ग को साफ करने का प्रयत्न करते हैं और दाएं मार्ग पर प्रस्थान करने के लिए पैर बढाते हैं तब बाए मार्ग की भीड-भाड हमारे सामने से गुजरती है। वह सीमा का अतिक्रमण भी कर देती है।

ध्यान करते समय अनेक प्रलोभन भरे विचार आते हैं। यदि साधक प्रलोभनो की चिकनी-चुपडी बातो मे आ जाता है तो उसकी साधना का आसन प्रकम्पित हो जाता है। प्राचीन समय के ऋषि-मुनियो की अनेक घटनाएं सुनते हैं। कहा जाता है कि उनके सामने अनेक प्रलोभन उपस्थित हुए। कुछ प्रलोभन मे आकर अपनी स्थिति से च्युत हो गए और कुछ ने प्रलोभन को नीचे दबाकर अपनी स्थिति को उभार कर रखा। नचिकेता को यमराज ने अनेक प्रलोभन दिए। यमराज ने कहा—नचिकेता ! तुम सत्य को जानने की बात छोड दो। यह आग्रह मत रखो। तुम धन, परिवार, राज्य या वैभव मागो। मैं सब कुछ दूगा। सत्य की बात छोड दो। नचिकेता ने कहा—यमदेव ! मैं कुछ भी नहीं चाहता। मैं केवल अमरत्व को जानना चाहता हू, सत्य को जानना चाहता हूं।

उपनिषदो मे वर्णित मैत्रेयी और गार्गी का संवाद और उत्तराध्ययन सूत्र मे वर्णित कमलावती का संवाद—इसी तथ्य को उजागर करता है कि सत्य को जानने के सिवाए सब प्रलोभन हैं। वे फिसलाते हैं। जो व्यक्ति प्रलोभन और भय से बचकर अपने विधायक भावों के सृजन मे सक्षम होता जाता है वह अपने आसन से कभी नहीं डोलता। वह आगे बढता जाता है। जो व्यक्ति निषेधात्मक भावो के आवर्त मे फस जाता है, उसका आसन डोल जाता है।

हम मूल पर ध्यान दे। बहुत बार यह प्रश्न सामने आता है कि हमारे जीवन का सचालन कौन कर रहा है ? केन्द्रीय तत्त्व कौन-सा है, जिसकी परिधि मे जीवन का सचालन हो रहा है ? हम खोजें, शाति और एकाग्रता के साथ खोजे। आखिर खोजते-खोजते हमे यह ज्ञात हो जाएगा कि केन्द्र मे बैठा है लोभ। उस पर हम ध्यान केन्द्रित करे। उसने ममता और मोह को पैदा

किया है। उसने ऐसा प्रपंच रचा है कि आदमी मारा-मारा फिर रहा है। वह जीवन भी उसकी परिक्रमा करता है। मैं कई बार सोचता हूं कि कोल्हू का यह बैल चक्कर क्यो लगा रहा है ? कारण क्या है ? अनन्त काल से वह चक्कर लगा रहा है। पर परिक्रमा कभी पूरी ही नहीं होती। पर एक सुविधा है। आदमी ने उस बैल की आंख पर पट्टी बांध रखी है। यदि उसकी आंखे खुली रह जाए तो दुविधा हो सकती है। समझदार है कोल्हू के बैल को चलाने वाला। उसकी आंखें बंद कर देता है, जिससे उसे पता न चले कि वह कहां जा रहा है। न जाने कितना लम्बा रास्ता तय कर लिया है। पर उस बेचारे को क्या पता है कि कोरी परिक्रमा हो रही है, गति नहीं हो रही है। कोल्हू का बैल जीवन भर चलता है, परिक्रमा करता है, उसे यदि जीवन की संध्या मे पूछा जाए कि तुम कितने चले ? क्या उत्तर होगा ? चला कुछ भी नहीं। उसी लकीर पर परिक्रमा देता रहा।

हम केन्द्र पर ध्यान दे। मूल वृत्ति को पकडें। यदि ध्यान की साधना करने वाला व्यक्ति केन्द्रीय वृत्ति को नहीं पकडेगा, उसकी खोज नहीं करेगा तो ध्यान साधना बहुत सफल नहीं हो सकेगी। उसे केन्द्रीय वृत्ति को पकडकर यह जानना है कि कौन-सा तत्त्व सारे निषेधात्मक भावों का संचालन कर रहा है। ये सभी निषेधात्मक भाव कहां से आ रहे हैं ? यदि वह इन भावों को पकडने मे सक्षम हो जाता है तो साधना सफल हो जाती है। तब वह जान जाएगा कि क्रोध क्यो पैदा हो रहा है ? अहंकार और भय क्यो पैदा हो रहा है। कारण समझ मे आ जाएगा। जितने निषेधात्मक भाव हैं वे सारे एकत्रित मिल जाएंगे।

चोर जेल में था। वह सीखचो से बाहर झांक रहा था। एक आदमी ने पूछा—'अरे, किसकी प्रतीक्षा कर रहे हो ? क्या कोई मिलने आने वाला है ?' वह बोला—'बाहर से कौन आएगा ? मेरे परिवार के सारे सदस्य यहीं हैं, जेल मे ही हैं। बाहर कोई है ही नहीं।'

सारे निषेधात्मक भाव भीतर हैं। बाहर से आने वाला कोई नहीं है। जब केन्द्र मे स्थित लोभ पकड लिया जाएगा तब पता चलेगा कि अहकार, भय, ईर्ष्या, मात्सर्य—ये सब भीतर ही बैठे हैं। बात समझ मे आ जाएगी। सचाई का उद्घाटन हो जाएगा।

विधेयात्मक भाव

दुनिया मे कोई भी तत्त्व ऐसा नहीं है जो न बदलता हो। सबमे परिवर्तन होता है। हृदय में भी परिवर्तन होता है। 'हृदय-परिवर्तन'—इस प्रयोग का एक विशेष तात्पर्य है। यह कोई हृदय को ही बदल देना नहीं है, चेन्ज ऑफ हार्ट नहीं है। चेन्ज ऑफ हार्ट तो आज डॉक्टर करते ही हैं। वे कृत्रिम हृदय लगाकर आदमी को लम्बे समय तक जीवित रख लेते हैं।

पति और पत्नी—दोनो डाक्टर के पास गए। पति का हृदय कमजोर था। उसको बार-बार हृदय-रोग हो जाता था, हार्ट ट्रबल हो जाता था। डॉक्टर को दिखाया। डॉक्टर ने कहा—ऑपरेशन करना होगा। ऑपरेशन हो जायेगा। मैं जीर्ण-शीर्ण को बदलकर, मजबूत हार्ट लगा दूगा।

ऑपरेशन किया। हार्ट बदल दिया। वह स्वस्थ हो गया।

एक बार वह पत्नी डॉक्टर से मिली। डॉक्टर ने पूछा—कैसे हैं तुम्हारे पति ? स्वस्थ हैं ? हार्ट ठीक काम कर रहा है ? वह बोली—डॉक्टर महोदय! पति बिल्कुल स्वस्थ हैं। हार्ट ठीक काम कर रहा है। पर आजकल उन्हे क्या हो गया कि वे झूठे वादे बहुत करते हैं, झूठे आश्वासन बहुत देने लगे हैं। डाक्टर बोला—'अरे' मेरे से ही भूल हो गई। मैने जल्दबाजी मे एक राजनेता का हार्ट उन्हे लगा दिया।'

हार्ट बदल देने मात्र से हृदय-परिवर्तन हो गया, ऐसा मानना अज्ञानपूर्ण है। हम जिस हृदय-परिवर्तन की चर्चा कर रहे हैं, वह एक हृदय को निकाल कर कृत्रिम हृदय लगा देना नहीं है, किसी आदमी का हृदय दूसरे आदमी पर प्रत्यारोपित करना नहीं है। हृदय-परिवर्तन से हमारा तात्पर्य है निषेधात्मक भावो को समाप्त कर विधायक भावो को जगाना। प्रत्येक व्यक्ति के भीतर दो धाराए प्रवाहित होती हैं। एक है निषेधात्मक भावो की धारा और दूसरी है विधेयात्मक भावो की धारा। घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, राग—ये सारे निषेधात्मक भाव है। इनकी एक धारा प्रवाहित हो रही है। मैत्री, अहिंसा, सहिष्णुता, आर्जव, मार्दव—ये विधेयात्मक भाव हैं। इनकी एक धारा प्रवाहित हो रही है। ये दोनो धाराएं प्रत्येक आदमी मे प्रवाहित रहती हैं पर हमारी इस दुनिया मे निषेधात्मक भावो की धारा को प्रकट होने का बहुत अवसर मिलता है, निमित्त अनेक मिल जाते हैं। पग-पग पर इतने निमित्त हैं कि निषेधात्मक भाव सहजता से उत्पन्न हो जाते हैं। हमारा कोई भी आचरण या व्यवहार आकस्मिक नहीं होता। किसी को गुस्सा आता है तो हम सोचते हैं कि यह आकस्मिक है। पर

कोई आवेश आकस्मिक नहीं आता। वह कोई आकस्मिक घटना नहीं है। कोई घृणा करता है, वह आकस्मिक नहीं है। हमारे भीतर वे भाव निरन्तर प्रवाहित है। उनकी धारा सतत चलती रहती है। निमित्त मिलने पर भाव प्रकट होते हैं। उनकी अभिव्यक्ति होती है, उत्पत्ति नहीं होती। वे मात्र अभिव्यक्त होते हैं, उत्पन्न नहीं होते। वे नए रूप से नहीं जन्मते। वे जन्मे हुए ही है। निमित्त मिलता है और अभिव्यक्त हो जाते हैं।

प्रत्येक पदार्थ के साथ दो पर्याय जुडे हुए रहते हैं—व्यक्त और अव्यक्त। अव्यक्त पर्याय व्यक्त हो जाता है और व्यक्त पर्याय अव्यक्त हो जाता है। यह भावधारा अव्यक्त है, सूक्ष्म है। इसे निमित्त मिलता है और तब यह व्यक्त हो जाती है। व्यक्त होने पर हम इसे आचरण कह देते हैं। किसी भी आचरण या व्यवहार की व्याख्या आचरण और व्यवहार के स्वरूप के आधार पर नहीं की जा सकती। भावधारा के आधार पर की जा सकती है। आचरण से हमें पता चल जाता है कि व्यक्ति मे किस प्रकार की भावधारा प्रवाहित हो रही है। जो व्यक्ति क्षण-क्षण मे क्रोध करता है, उत्तेजित होता है, भयभीत होता है, अहकार-ग्रस्त होता है तो मान लेना चाहिए कि उसमे उस समय निषेधात्मक भावधारा प्रवाहित हो रही है और वह व्यक्ति उसी के प्रवाह मे प्रवाहित होकर इन आवेशो से आविष्ट हो रहा है। कोई आदमी सहिष्णु है, क्षमाशील और विनयी है, अनुशासित और अहंकारशून्य है, मैत्री और प्रेम से परिपूर्ण है तो मान लेना चाहिए कि उसमें उस समय विधायक भावधारा बह रही है।यह सारा आकस्मिक नहीं होता। यदि आकस्मिक होता तो हर कोई कर लेता। व्यक्ति ने भीतर की धारा मे जाकर विधायक भावधारा को सक्रिय बनाने का प्रयत्न किया है। वह भावधारा इस दिशा मे प्रवाहित है और वह निमित्त पाकर प्रकट हो जाती है। बडा आश्चर्य होता है। विरोधी निमित्त में भी दोनो प्रकार की घटनाएं मिलती है। अनुकूल निमित्त मे घटना घटित होती है, आश्चर्य नहीं होता। जैसे निमित्त है क्षमा का और जाग जाता है क्रोध, निमित्त है क्रोध का, और जाग जाती है क्षमा। बडे आश्चर्य की बात है।

एक कहानी है। शीतला देवी का मदिर था। एक कौआ आकर बैठ गया। शीतला देवी बोली—अरे, यहां कैसे आए ? क्यों बैठे हो यहां? कौआ बोला—क्या यहां कोई नहीं आ सकता ? क्या इस स्थान पर तेरा ही अधिकार है ? कौआ बैठा रहा। वह बींटे करने लगा। अनेक बार बींट की। शीतला बोली—अरे भाई कौआ ! आज तो बहुत ठडी-ठंडी बींट कर रहा है। कौए ने उत्तेजित होकर कहा—जो गर्म बींट करे उसे रख, मुझे यहा नहीं रहना है। कौआ उड़ गया।

शीतला देवी बहुत सीधी-साधी बात कर रही थी। वह अपने आप मे

शात थी। पर कौआ उत्तेजना से भरा हुआ बात कर रहा था। ऐसा बहुत बार होता है। क्षमा का निमित्त भी क्रोध जगा देता है और क्रोध उभरता ही नहीं। तीर्थंकरो और साधको की अनेक घटनाए हमारे समक्ष हैं, जिसमे क्रोध और उत्तेजना को उभारने का प्रयत्न किया गया, पर वे तीर्थंकर और साधक क्षमा की ऊर्जा बिखेरते रहे। वे कुपित हुए ही नहीं। बार-बार प्रयत्न करने पर भी, प्रयत्न करने वाले को सफलता नहीं मिली।

महाराष्ट्र के एक महान् साधक सत एकनाथ नदी मे स्नान कर आते। एक व्यक्ति उन पर थूक देता। सत पुन नदी पर जाते, स्नान करते और घर की ओर प्रस्थान करते। पर फिर वह व्यक्ति उन पर थूक देता। वे पुन· स्नान कर आते। स्नान करने और थूकने का क्रम चलता रहा। उन्हे इक्कीस बार स्नान करना पडा। अंत मे वह व्यक्ति हार गया और जब सत इक्कीसवीं बार स्नान कर आ रहे थे तब पैरो मे लुढककर क्षमा-याचना करने लगा। संत ने उसे उठाकर छाती से लगाते हुए कहा—भाई ! तुम मेरे परम सखा हो। मैं मा गोदावरी की गोद मे प्रतिदिन एक बार जा पाता हू। आज तुम्हारे योग से मा की गोद मे इक्कीस बार जाने का सुअवसर मिला। धन्य हो गया। तुम मेरे उपकारी हो।

क्या कारण है कि विरोधी निमित्तो के होने पर भी भिन्न प्रकार की घटनाएं घट जाती है ? इन सारी बातो से यह पता चलता है कि भीतर मे जिस प्रकार की भावधारा होती है, उसी प्रकार का आचरण अभिव्यक्त होता है। वहा निमित्त गौण और अकिंचित्कर हो जाते हैं। उमादान का स्थान पहला और निमित्त का दूसरा। भावधारा उपादान है। यदि हम भीतर की भावधारा को मोड देते हैं तो वहा बाहर के निमित्त बहुत प्रभाव नहीं डाल सकते। जब तक व्यक्ति ध्यान के द्वारा भीतर प्रवेश नहीं करता, भीतरी गहराइयो मे नहीं उतरता और अपने अन्त करण को पहचानने का प्रयत्न नहीं करता तब तक निमित्त हावी रहता है और तब आदमी उसी के प्रभाव मे जीने लगता है। किन्तु जिस व्यक्ति ने ध्यान के द्वारा अपने भावो को पहचान लिया है, उनके साथ सपर्क स्थापित कर लिया है, वहा निमित्त गौण हो जाते हैं और भाव प्रधान बन जाते हैं।

प्राचीन साहित्य मे दस प्रकार के धर्म, चार या बारह प्रकार की अनुप्रेक्षाएं तथा अनेक प्रकार के आलम्बन बतलाए गए हैं। उनके प्रतिपादन का कारण क्या था ? वह यही तो था कि साधक इन माध्यमो से भावो के साथ सीधा सपर्क स्थापित कर सके, भावधारा तक पहुच सके और जो शुद्ध भावधारा है, विधायक भावधारा है, उसको जगा सके।

ध्यान करने वाले और ध्यान न करने वाले व्यक्ति तथा धर्म की आराधना करने वाले और न करने वाले व्यक्ति मे यदि कोई भेदरेखा खींचनी हो तो यही खींची जा सकती है कि अपने प्रयत्नो के द्वारा विधायक भावों की धारा को सक्रिय करता है, प्रवाहित करता है, वह ध्यानी होता है, धार्मिक होता है, आराधक होता है। जो ऐसा नहीं कर पाता, जो निषेधात्मक भावों की धारा मे विशेष रस लेता है, वह अधार्मिक होता है, वह ध्यान करने वाला नहीं होता। यह बहुत ही मनोवैज्ञानिक पहचान है धार्मिक और अधार्मिक की, ध्यानी और अध्यानी की। इसी भेदरेखा के आधार पर मनुष्य के सारे आचरणो और व्यवहारो की व्याख्या की जा सकती है।

आज लोग चिंतित हैं, इस दुनिया में हिंसक घटनाएं बहुत घटित हो रही हैं, झूठ बहुत बोला जा रहा है, चोरियां और डकैतिया अधिक हो रही हैं, बलात्कार और व्यभिचार बढा है, ईर्ष्या और द्वेष का बोलबाला है, अपराध दिनोदिन बढ रहे हैं, उपद्रव और आक्रामक वृत्तियां अनियंत्रित हो रही हैं, साम्राज्यवादी मनोवृत्ति फैल रही है—इसका कारण क्या है ? भावधाराओं के आधार पर यह सुगमता से कहा जा सकता है कि आज निषेधात्मक भावो की अधिक सक्रियता से हिंसा आदि को सहारा मिलता है और तब समाज मे ये वृत्तियां अधिक पनपती हैं। प्रश्न होता है कि मनुष्य मे विधायक भाव अधिक हैं या निषेधात्मक भाव ? किसको कम बताएं और किसको अधिक ? प्रश्न जटिल है पर जटिल प्रश्न का उत्तर भी हमें प्राप्त हो जाता है।

एक शुकराज राजा के पास गया। दोनों मे संवाद हुआ। शुकराज की बुद्धि पर राजा स्तब्ध रह गया। उसे बहुत आश्चर्य हुआ। उसने पूछा—शुकराज! आज बहुत विलम्ब से पहुंचे। शुकराज बोला—महाराज ! मैं भी अपनी जाति की प्रजा का राजा हूं। मुझे उसका पालन-पोषण करना होता है। सदस्यो में मामले निपटाने होते हैं। उसका न्याय करना होता है। आज एक ऐसा ही मामला सामने आ गया था, उसे निपटाने में समय लग गया।

दो सूए लडते-झगडते मेरे समक्ष आए। मैंने उनके विवाद का कारण पूछा। एक सूए ने कहा—राजन् ! हम दोनों में 'मलद्वार' के विषय में विवाद हुआ। मैंने कहा—मलद्वार अधिक हैं और मुखद्वार कम हैं। यह कहता है कि मलद्वार उतने ही हैं जितने मुखद्वार। कम या अधिक नहीं हैं। शुकराज बोला—राजन् ! यह जटिल प्रश्न था। पर मैंने अपने बुद्धिबल से उसे निपटा दिया, उसका समाधान दे दिया। राजा की जिज्ञासा बढी। उसने पूछा—कैसे निपटाया ? सुनाओ। शुकराज बोला—राजन् ! जिनके मलद्वार हैं उनके मुखद्वार हैं और जिनके मुखद्वार हैं उनके मलद्वार हैं। किंतु ऐसे आदमी भी

इस दुनिया में बहुत हैं जो अपनी बात से मुकर जाते हैं, इनकार कर जाते हैं, उन आदमियो के मुखद्वार नहीं होता, मलद्वार होता है। अत. मैंने कहा—दुनिया मे मलद्वार अधिक हैं। मामला निपट गया।

इसी प्रकार आज दुनिया मे मलद्वार—निषेधात्मक भाव अधिक हैं। होना तो यह चाहिए कि विधायक भाव अधिक हो, या दोनो समतुल्य हों। पूरा समीकरण हो। किन्तु समीकरण है नहीं। निषेधात्मक भावधारा अधिक तेज है, गतिशील है, इसलिए वाणी की विषमता, भावो की विषमता और आचरणो की विषमता अत्यधिक मात्रा मे है। जब निषेधात्मक भावो का इतना आधिपत्य है, वहां विधायक भावों को जगा पाना बहुत कठिन हो जाता है। बडी समस्या है। किन्तु जब हृदय-परिवर्तन की समस्या पर विचार करते हैं तो हमे एक प्रयत्न करना होगा। वह प्रयत्न होगा कि हम ऐसे आलंबनों को स्वीकार करें, जिनके द्वारा निषेधात्मक भाव की धारा गौण बन जाए और विधायक भावो की धारा प्रधान बन जाए।

आदमी किसी भी चीज को यकायक मिटा नहीं सकता। जो स्थिर हो जाता है उसे निकालना कठिन होता है। यह व्यवहार में भी हम देखते हैं जो अफसर गजटेड लिस्ट में आ जाते हैं, फिर सरकार भी उन्हें अवधि से पहले निकाल नहीं सकती। यदि सरकार ऐसा करती है तो न्यायालय उस अफसर की मदद करने के लिए तैयार है। निलबित व्यक्ति की सर्विस पुन: चालू हो जाती है। सरकार को न्यायालय का आदेश मानना होता है। सरकार निलबित नहीं कर सकती पर इतना अवश्य कर सकती है कि अफसर को ऐसे प्रदेश या स्थान मे स्थानान्तरित कर देती है कि उसे बिना निलम्बन, निलम्बन का अनुभव हो जाता है।

निषेधात्मक भावो की भी यही स्थिति है। वे इतनी दृढता से स्थापित हो चुके हैं कि उन्हें निलम्बित करना, निकाल बाहर करना, किसी के वश की बात नहीं है। पर इतना अवश्य किया जा सकता है कि उनकी मुख्यता को छीनकर, उन्हे गौणता दी जाती है। जब विधायक भाव प्रबल होता है तब निषेधात्मक भाव निर्बल हो जाता है। विधायक भाव को प्रबल करने का एक मात्र उपाय है—प्रेक्षा, देखना। वस्तुत. हम देखना नहीं जानते, साथ मे मिल जाना जानते हैं। हम घटना के द्रष्टा बनना नहीं जानते, उसे भोगना जानते है। जब-जब हम घटना के साथ जुडते हैं, तब-तब घटना को भोगने लग जाते हैं और निषेधात्मक भावो को उभरने का प्रोत्साहन मिलता है। यदि हम द्रष्टा बनकर रह सकें, घटना को जान सके, घटना को देख सके तो निषेधात्मक भाव अपने आप कमजोर हो जाते हैं, गौण हो जाते हैं।

आचार्य बाग्भट्ट ने आरोग्य और रोग की व्याख्या करते हुए लिखा- 'दोषाणां साम्य आरोग्यम्। दोपाणां वैषम्यं रोग: ।' दोषो की समावस्था आरोग्य है और दोषो की विषम अवस्था रोग है। शरीर के तीन दोष माने जाते हैं—वात, पित्त और कफ। दोषो को सर्वथा मिटा देने का अर्थ है मृत्यु। साधारण आदमी यही सोचता है कि इन दोषो को मिटा देना चाहिए। गैस की बीमारी वाला सोचता है कि वायु को समूल नष्ट कर देने से बीमारी मिट जाएगी। इसी प्रकार पित्त और कफ वाला भी सोचता है। जिस दिन वायु समाप्त हो जाएगी तब शरीर नहीं बचेगा। जिस दिन कफ और पित्त से छूटकारा मिल जाएगा उस दिन प्राण से भी छुटकारा मिल जाएगा। वात, पित्त और कफ—तीनों दोष है, पर इनके बिना जीवन नहीं चलता। पूरा जीवन इनके आधार पर चलता है। इनको मिटाने की आवश्यकता नहीं है। इनके मिट जाने पर जीवन का संचालन ही नहीं हो सकता। ये दोष बढते हैं, घटते हैं, विपम हो जाते हैं तब रोग उत्पन्न होता है। जब वायु बढ जाता है तो एक प्रकार की बीमारी सामने आ जाती है। जब पित्त बढ जाता है तो दूसरे प्रकार की बीमारी उभर आती है और जब कफ बढ जाता है तब तीसरे प्रकार की बीमारी पैदा हो जाती है। जब ये तीनो घट जाते हैं, कम हो जाते हैं तब भी अनेक बीमारियां उभर आती हैं। इनमें से एक भी घट-बढ जाता है तो रोग पैदा कर देता है। इन दोषों की जितनी विषमता है, वह सारी बीमारी है और इन दोषों की जितनी समता है, वह आरोग्य है। आरोग्य का अर्थ होता है दोषों का समीकरण, न न्यून और न अधिक। शरीर संचालन के लिए जितने जरूरी हैं उतने रहे। आचार्यश्री के अनुसार दोषो का सूत्र ही जीवन है।

मानसिक दोषों के विषय में यह कहा जा सकता है कि जब तक हमारे जीवन का संचालन है, हम यह कल्पना नहीं कर सकते कि राग समाप्त हो जाए। यदि जीवन से राग समाप्त हो जाता है तो फिर जीवन कोई दूसरा ही मिलेगा, मिलेगा ही नहीं, फिर तो जीवन-मुक्ति ही मिलेगी। राग के बिना जीवन का संचालन नहीं हो सकता। द्वेष के बिना भी जीवन का संचालन नहीं हो सकता। राग और द्वेष को, सांख्य दर्शन या चरक की भाषा मे, रजस् और तमस् गुण कहा जा सकता है। रजोगुण का अर्थ है राग और तमोगुण का अर्थ है द्वेष। ये दोनो गुण हमारे जीवन के संचालक सूत्र हैं। इनके बिना जीवन संचालित नहीं हो सकता। किसी वीतराग को किसी दुकान पर बिठा दिया जाये तो एक दिन भी दुकान चल नहीं सकती। वीतराग को कोई मतलब नहीं होता कि दुकान से कोई चोरी कर माल ले जाता है या पैसे देकर ले जाता है। दुकान रहेगी ही नहीं, वह सिर्फ मकान बन जाएगा।

यदि किसी केवली को राज्य का संचालक बना दिया जाय तो राज्य दूसरे ही दिन किसी दूसरे के हाथ मे चला जायेगा। केवली निष्पक्ष होता है। न किसी के प्रति राग, न किसी के प्रति द्वेष, न इधर, न उधर। ऐसे व्यक्ति से राज्य का संचालन नहीं हो सकता। उसे न आक्रमण की चिन्ता सताती है और न जमीन-जायदाद की चिन्ता सताती है। कोई हिमालय पर कब्जा कर ले तो वह चितित नहीं होता और कोई मूल विभाग हडप ले तो वह चिंतित नहीं होता। वह सब सीमाओ से अतीत होता है। उसे राज्य की चिन्ता ही नहीं होती। इन सारी व्यवस्थाओ, जीवन की व्यवस्थाओ और जीवन का सारा संचालन राग और द्वेष—इन दो दोषो द्वारा होता है। यह सुनकर अचम्भा हो सकता है कि एक मुनि, एक आचार्य कैसे बाते कर रहे हैं ? मुझे समर्थन वीतराग का करना चाहिए था, केवली का करना चाहिए था। किन्तु यह यथार्थ है, इसीलिए जैनाचार्यों ने एक शब्द की संयोजना की—प्रशस्त राग अप्रशस्त राग, प्रशस्त द्वेष अप्रशस्त द्वेष। उन्होने राग को भी प्रशस्त और अप्रशस्त तथा द्वेष को भी प्रशस्त और अप्रशस्त बना दिया। गौतम महावीर के प्रति राग रखते थे, भक्ति रखते थे। कैसे हिम्मत हो उसे बुरा कहने की। कैसे बुरा कहा जा सकता है? दूसरे को कहा जा सकता है, पर जहां राग के पात्र हो महावीर तब कैसे बुरा बताया जा सकता है ? तब आचार्य ने उसे प्रशस्त राग कहकर पुकारा। इतना मान्य हो सकता है। जीवन को चलाने के लिए इसे अस्वीकार कैसे किया जाये ? इसके बिना जीवन कैसे चले ? जीवन को चलाने के लिए भक्ति की जरूरत है, जीवन को प्रेरणा देने के लिए अनुराग की जरूरत है, प्रेम की जरूरत है। इन्हे अस्वीकार कैसे किया जाए ? आगमों मे कहा गया है कि धार्मिक व्यक्ति की अस्थि और मज्जा धर्म के प्रेम से और अनुराग से रजित होती है। वह इनसे रगा हुआ होता है। रंगा हुआ व्यक्ति वीतराग तो नहीं हो सकता, पर इसे प्रशस्त राग माना गया है।

राग और द्वेष दोनों प्रशस्त हो सकते हैं।

एक आचार्य अपने शिष्य को उलाहना दे रहे हैं। शिष्य ने अपराध किया। आचार्य की भृकुटी तन गई, आखे लाल हो गई। शिष्य काप रहा है। यह प्रशस्त द्वेष की प्रवृत्ति है।

इस प्रकार राग भी प्रशस्त और अप्रशस्त होता है तो द्वेष भी प्रशस्त और अप्रशस्त—दोनो होते हैं। कोई व्यक्ति घृणा या तिरस्कारवश किसी को

तर्जना, ताडना दे रहा है। कोई व्यक्ति वासना से अभिभूत होकर राग कर रहा है। अनेक प्रकार की प्रवृत्तियां होती है। प्रशस्त राग और प्रशस्त द्वेष छोडना मुश्किल है, असंभव है। मैं असंभव को संभव बनाने की बात नहीं कर रहा हू कि ध्यान के माध्यम से चेतना का ऐसा निर्माण करें, जिससे राग-द्वेष समूचा नष्ट हो जाए। यह सभव है, पर यह बहुत आगे की अवस्था है।

अनेक लोग सोचते हैं कि ध्यान के द्वारा वीतराग बन जाएंगे तो फिर जीवन कैसे चला पाएगे ? जीवन की चिन्ता करे। अभी तो चिन्ता वह करे कि वात, पित्त और कफ का दोष बढ गया है, बीमारी बढ गई है, उसे कम कैसे करे ? दोषो का समीकरण कैसे करे ? आज चिन्ता का विषय यह होना चाहिए कि मानसिक चिन्ताएं जो बढी हैं, उनमे राग आदि का मुख्य हाथ है। हम उन बीमारियो को कैसे मिटाएं ?

साधना, ध्यान, हृदय-परिवर्तन या विधायक भावो की चर्चा इसीलिए की जाती है कि आज मनोदोष बहुत बढ गया है, विषम हो गया है। राग और द्वेष में वैषम्य है। कहीं राग अधिक है तो कहीं द्वेष अधिक है। कहीं रोग से पैदा होने वाले विकार अधिक हैं, कहीं द्वेष से उत्पन्न होने वाले विकार अधिक हैं। वैषम्य मानसिक विकार, मानसिक भय और मानसिक रोगों को पैदा कर रहा है। इस स्थिति में समीकरण आवश्यक है। यह ध्यान के द्वारा संभव है।

हम उपर्युक्त उपायो के द्वारा राग और द्वेष का साम्य करें, जिससे हमारा आरोग्य बढे। कम से कम हमे मानसिक आरोग्य तो प्राप्त हो, वीतरागता की प्राप्ति हो या न हो। वीतरागता की बात को हम एक बार छोड दे। आज साधक को जीवन चलाना है, समाज और राष्ट्र का संचालन करना है। उसका स्वय के प्रति, समाज और राष्ट्र के प्रति मोह है। इस स्थिति मे वीतरागता की बात प्राप्त नहीं होती। यह भी सत्य है कि यहां साधना के लिए आने वाले वीतराग बनने के लिए नहीं आए हैं। यद्यपि अतिम लक्ष्य यही है। पर अभी हम प्रारम्भ से चल रहे हैं।

यदि प्रेक्षाध्यान शिविर मे आने वाले सभी सदस्य वीतराग बनने के लिए आते हैं तो गडबडी पैदा हो जाएगी। समाज की पूरी व्यवस्था लडखडा जाएगी। अपने बच्चे-बच्चियों को ध्यान शिविर मे भेजने वाले माता-पिता सोचेगे कि भेजे या न भेजे ! यदि वहा से वीतराग बनकर लौटेगे तो हमारे किसी काम के नहीं रहेगे। न पति काम का रहेगा, न पत्नी और न

माता-पिता और न लडके-लडकिया। सभी सम्बन्धो से अतीत हो जाएंगे। इसका तात्पर्य यह होगा कि प्रेक्षा का मन्दिर खाली हो जाएगा। यहा प्रेक्षा-प्रदीप मे लोग आ रहे हैं, यह सोचकर नहीं कि हमे वीतराग बना दिया जाएगा। यह सोचकर कि हमारे दोषो की विषमता मिटेगी, आरोग्य प्राप्त होगा। विषमता मिटे, साम्य आए, रोग मिटे, आरोग्य आए यही एकमात्र आकाक्षा है शिविर साधको की।

आयुर्वेद विज्ञान की भाषा मे जिसे आरोग्य कहा जाता है, अध्यात्म विज्ञान की भाषा मे उसे समता कहा जाता है। दोनो एक ही हैं। आयुर्वेद के आचार्यों ने आरोग्य की बहुत सुन्दर परिभाषा दी है–'दोषाणा साम्य आरोग्यम्'–दोनो का समीकरण आरोग्य है। परन्तु प्रश्न है कि समीकरण का उपाय क्या है ? इसका एक उपाय है–सतत-स्मृति, सतत जागरूकता। मानस का ऐसा निर्माण हो जाए कि विधायक भावो की स्मृति निरन्तर बनी रहे। विधायक भावो के सूत्र हैं–सत्य, क्षमा, मृदुता, ऋजुता। ये सूत्र हैं, शब्द हैं। क्या इन शब्दो को रटने मात्र से कोई ऋजु या मृदु हो जाएगा। क्रूरता या माया मिट जाएगी ? ऐसा घटित नहीं होगा। ये विधायक भावो का प्रतिनिधत्व करने वाले शब्द हैं। इनका चयन बहुत मनोवैज्ञानिक है। ये केवल शब्द नहीं अपितु, विधायक भावो के प्रतिनिधि हैं। जो विधायक भाव अन्तराल मे छिपे हुए हैं, जिन्हे देखा नहीं जा सकता, जाना नहीं जा सकता, उसके साथ संपर्क स्थापित करने के लिए सत्य आदि शब्द सपर्क-सूत्र बन जाते हैं। आचार्यों का यह प्रतिपादन यथार्थ है। सत्य शब्द की भावना मे उतरने पर विधायक भाव जाग जाएगा। मृदुता और ऋजुता शब्द की गहराई मे डुबकिया लेते ही मृदुता और ऋजुता का विधायक भाव जागृत हो जाएगा। एक महत्त्वपूर्ण बात और बता दू। आचार्य कोई भी बात बतलाते हैं, वह मत्र रूप होती है। आचार्य का अर्थ है–मत्रदाता। वे मंत्रदान करते हैं। मत्र का अर्थ होता है–रहस्य, गूढ बात। वह छिपी रहती है। कुछ थोडा सामने आता है और कुछ छुपा का छुपा रह जाता है। पूरी बात समझ मे नहीं आती, सामने नहीं आती। पूरी बात आचार्य ही समझा सकते हैं। कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि सारी बाते समझ ली गई हैं और जब भेद खुलता है तो प्रतीत होता है कि कुछ भी नहीं समझा गया है। उस रहस्य की चाबी आचार्य के हाथ मे ही रह जाती है।

भावो को हम जान गए। उनका प्रतिनिधित्व करने वाला शब्द भी हम

जान गए, पर दोनो के बीच संपर्क-सूत्र को हम नहीं जान पाए। प्रेक्षाध्यान का अभ्यास करने वाला साधक उस संपर्क-सूत्र को भी जान जाता है। वह है—जागरूकता, भाव क्रिया। इसका एक अर्थ है—सतत स्मृति। जिस गुण या दोष को प्रकट करना चाहते हैं उसके प्रति सतत उपयोग, सतत स्मृति होगी तो वह अवश्य ही प्रकट होगा। कभी उस स्मृति की और फिर दीर्घकाल तक उसे भुला दिया तो वह प्रकट नहीं होगा।

यह सतत धारा या अखण्ड धारा की बात बहुत महत्त्वपूर्ण होती है। बूंद-बूंद से वह काम नहीं हो सकता, जो काम धारा से होता है। कभी कुछ किया, कभी नहीं किया, मन हुआ तब ध्यान करने बैठ गए। मूड नहीं हुआ तो दो महीने भी ध्यान नहीं किया, यह बूंद-बूंद की प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया अधिक लाभप्रद नहीं होती। सफलता के लिए निरन्तरता चाहिए। जिस भाव को हमे विकसित करना है, प्रकट करना है, उसका सतत स्मृति करनी चाहिए। उसका निरन्तर अभ्यास करने से वह अवश्य ही प्रकट हो जाता है।

सतत स्मृति, सतत जागरूकता—यह संपर्क-सूत्र है जो हमें भीतरी भावों से जोडता है।

शब्द मंत्र होता है। प्रत्येक शब्द मंत्र है। आगम का एक श्लोक है—

धम्मो मंगल मुक्किट्ठं, अहिसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो।।

हमें लगता है कि यह उपदेश वाक्य है, पर यह है बडा मंत्र। इसी प्रकार एक और श्लोक है—

चइत्ता भारहं वासं, चक्कवट्टी महिड्ढियो।
संती सति करे लोऐ, पत्तो गई मणुत्तरं।।

यह भी बहुत बड़ा मंत्र है। जैन आचार्यों ने आठ कर्मों को क्षीण करने के लिए भिन्न-भिन्न मंत्रों की रचना की। ज्ञानावरण कर्म को क्षीण करने का मत्र है—'**अनन्तज्ञानिभ्यो नमः।**' दर्शनावरण कर्म को क्षीण करने का मत्र है—'**अनन्तदर्शनिम्यो नमः।**' अन्तराय कर्म को क्षीण करने का मंत्र है—'**अनन्तवीर्येभ्यो नमः।**' इस शब्द-रचना मे कोई गूढता नहीं लगती, पर ये सारे शब्द ज्ञान, दर्शन और शक्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं। यदि अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अनन्तवीर्य की सतत स्मृति बनी रहे तो वह इतना शक्तिशाली मत्र बन जाएगा कि वे भाव हमारे भीतर अवश्य प्रकट होगे।

आज सम्मोहन चिकित्सा करने वाले या मनोवैज्ञानिक चिकित्सक

बीमार व्यक्ति को कुछ शब्द दे देते है और उनको बार-बार दोहराते रहने का निर्देश देते है। उठते-बैठते, सोते-जागते उन शब्दों को दोहराने की बात कहते है। यह इसलिए कि सतत दोहराने से स्मृति बनी रहती है और बीमारी का परिणाम कमजोर होने लग जाता है तथा आरोग्य का परिणमन प्रारंभ हो जाता है। आयुर्वेद का सूत्र है–'कालः परिणामः'। काल का अर्थ है–परिणाम। काल का परिणमन प्रारम्भ हो जाता है।

विधायक भावो को जगाने के लिए सतत स्मृति की प्रक्रिया बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसका प्रयोग कर हम विधायक भावो को प्रधान बना सकते हैं और निषेधात्मक भावो को गौणता दे सकते हैं।

हृदय परिवर्तन का प्रशिक्षण

दो आदमी जा रहे थे। रास्ते में नदी आ गई। पानी गहरा था। एक व्यक्ति नदी के तट पर खडा रह गया। दूसरा व्यक्ति नदी मे उतरा और देखते-देखते दूसरे तट पर पहुंच गया। ऐसा क्यो होता है ? नदी को पार करना एक समस्या है। एक खडा रह गया, दूसरा पार कर गया। कोई बड़ी समस्या नहीं है। जिसने तैरने का प्रशिक्षण ले रखा था, वह तैर गया। जो प्रशिक्षण से शून्य था, वह तट पर ही खडा रह गया। प्रश्न है प्रशिक्षण का।

जीवन में अनेक समस्याएं आती हैं। नदी से भी भयंकर समस्याएं आती हैं। नदी को पार करना आसान होता है। इन समस्याओं को पार करना बहुत कठिन काम है, पर प्रशिक्षित आदमी उन सभी समस्याओ को पार पा जाता है। जिसका मस्तिष्क और हृदय प्रशिक्षित नहीं है वह तट पर ही खडा रह जाता है। पार नहीं पहुंच पाता। दूसरा तट उसे कभी नहीं मिल पाता। जीवन में प्रशिक्षण का बहुत महत्त्व है। जो कार्य सामान्य आदमी नहीं कर सकता, प्रशिक्षित आदमी वह कार्य कर लेता है। नाट्य, कलाएं, कौशल और शिल्प तथा कर्म--ये सब प्रशिक्षण-सापेक्ष हैं। सारे कार्य प्रशिक्षण के द्वारा सम्पन्न हो जाते हैं। प्रशिक्षण नहीं होता है तो सुई में धागा पिरोना भी समस्या बन जाती है। हर कोई व्यक्ति सुई नहीं पिरो सकता। हर बात समस्या बन जाती है। बडी-छोटी, सभी समस्याओं का पार प्रशिक्षण के द्वारा ही पाया जा सकता है। जो आदमी रोटी बनाना नहीं जानता, उसे रसोई में बिठा दिया जाए तो खाने वालों को कुछ भी नहीं मिलता।

केवल मनुष्य ही नहीं हाथी, घोडे, बंदर और कुत्ते भी प्रशिक्षित किए जाते हैं। इनके करतबो को देखकर आदमी चकित रह जाते हैं। हम इस बात को अस्वीकार नहीं करेगे कि प्रशिक्षण हमारे समूचे जीवन पर एकाधिकार जमाए हुए है। कोई व्यक्ति धार्मिक बन जाता है और प्रशिक्षण नहीं लेता है तो बडी आश्चर्य की बात होती है। जैसे मंत्री बनने का अधिकार भी बिना प्रशिक्षण के है, वैसे ही लगता है कि धार्मिक बनने का अधिकार भी बिना प्रशिक्षण के है। माना जाता है कि धार्मिक के लिए प्रशिक्षण की कोई आवश्यकता ही नहीं है। यह भ्रान्ति है। अप्रशिक्षित धार्मिक धर्म का भी बहुत भला नहीं करता और अपना भी भला नहीं करता।

हृदय परिवर्तन की चर्चा हो रही है, पर प्रशिक्षण के बिना हृदय-परिवर्तन कैसे होगा। इसके लिए बहुत कठोर प्रशिक्षण की जरूरत है। इस प्रशिक्षण के

अभाव मे हृदय-परिवर्तन की बात संभव नहीं हो सकती। प्रशिक्षण के बिना अहिंसा जीवन मे सफल हो सके, यह संभव नहीं है।

एक व्यक्ति ने कहा—जब युद्ध होता है तब अहिंसा विफल हो जाती है। युद्ध में अहिंसक क्या करेगा ?

मैंने कहा—अहिंसक कभी विफल नहीं होता। अहिंसा कभी विफल नहीं होती। विफल होता है पुरुषार्थ का अभाव। हमने अहिंसा का प्रशिक्षण कब दिया ? आज तक हमने इस ओर प्रयत्न किया ही नहीं। यदि अहिंसा का प्रशिक्षण मिलता है तो व्यक्ति मे करने की शक्ति विकसित होती है। युद्ध के स्तर पर या जीवन के किसी भी द्वन्द्व के स्तर पर जिस व्यक्ति के मन में मरने की चेतना जाग जाती है, मरने का भय समाप्त हो जाता है तो वह कभी असफल नहीं हो सकता। असफलता का मूल कारण है—जीवन का मोह और मृत्यु का भय। जिस व्यक्ति मे जीने का मोह है, मरने का भय है, वह आदमी सर्वत्र असफल रहता है। युद्ध मे ऐसे व्यक्ति तो निश्चित ही असफल रहते हैं। जिस व्यक्ति में जीने का मोह समाप्त हो जाता है और मरने की विभीषिका नहीं रहती, वह आदमी अहिंसक हो सकता है। ऐसा अहिंसक आदमी कभी विफल नहीं होता।

युद्ध में जाने वाला सैनिक क्या अभी जीवन की गारण्टी लेकर जाता है ? वह तो यह सोचकर जाता है कि मरना तो बहुत संभव है, बच गया तो बडी बात है। वह मौत को सामने रख कर चलता है। बच जाता है तो भाग्य है। ऐसा क्यो होता है ? क्यों लडता है वह ? हिंसक साधनो से लडने वाला व्यक्ति इसीलिए लडता है कि उसे उस कला का प्रशिक्षण मिला है। वह जिस दिन सेना मे भर्ती होता है, उस दिन से लेकर जीवन भर प्रशिक्षण का क्रम चलता ही रहता है। रोज अभ्यास, सिद्धांत का प्रशिक्षण, अभ्यास का क्रम—ये बराबर चलते हैं। हिंसा का जितना प्रशिक्षण दिया जाता है, अहिंसा का उससे आधा प्रशिक्षण प्राप्त हो तो युद्ध भी अहिंसको द्वारा लडा जा सकता है और पूर्ण निर्भीकता के साथ लडा जा सकता है। पर आज स्थिति ऐसी है कि न अहिंसा का प्रशिक्षण ही दिया जा रहा है और न अहिंसको को प्रशिक्षण देने की कोई चिंता ही है। वे तो मानते हैं कि अहिंसा पर हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। हिंसा तो ऊपर से थोपी जाती है, इसलिए उसकी प्रशिक्षण देने की आवश्यकता होती है। अहिंसा के लिए किसी भी प्रशिक्षण की जरूरत नहीं है। यह भ्रांति है। प्रशिक्षण के अभाव मे सत्य विफल हो रहा है, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य विफल हो रहा है। यह कहा जा सकता है कि जीवन की सारी सचाइया, जीवन के सारे सत्य इसलिए विफल हो रहे हैं कि इनका कोई प्रशिक्षण नहीं मिल रहा है।

प्रेक्षाध्यान का शिविर प्रशिक्षण का शिविर है। इसमे अध्यात्म का प्रशिक्षण होता है। प्रशिक्षण के तीन घटक तत्त्व हैं–

१ आस्था का निर्माण।

२ उपाय-बोध।

३. अभ्यास।

आदमी जो काम करता है या करना चाहता है यदि उस कार्य के प्रति आस्था नहीं बनी है तो वह अपने कार्य मे कभी सफल नहीं हो सकता। सफलता की पहली शर्त है आस्था का निर्माण। जिस कार्य के प्रति आस्था निर्मित हो जाती है, उस कार्य मे हम सफल हो जाते हैं। जिस कार्य के प्रति आस्था का निर्माण नहीं होता, उसमें हम विफल हो जाते हैं। विफलता का पहला चिह्न है आस्था का न होना।

प्रशिक्षण का दूसरा सूत्र है–उपाय-बोध। सफलता के लिए यह भी अनिवार्य तत्त्व है। आस्था है पर उपाय नहीं है, मार्ग उपलब्ध नहीं है, ज्ञान नहीं है, युक्ति का अवबोध नहीं है तो कार्य निष्पन्न नहीं होगा। अनेक लोग ऐसे होते हैं जो यह अनुभव ही नहीं करते कि वे क्या कर रहे हैं ? उन्हे क्या होना है ? वे अपनी उलझनो मे ही उलझे रहते हैं।

एक आदमी बस मे खडे-खडे सफर कर रहा था। पास मे बैठे लोगो ने कहा–'अरे, बैठ जाओ। अभी गांव दूर है।' वह बोला–कैसे बैठ जाऊ ? तुम्हे पता नहीं है, मुझे जल्दी पहुचना है। मेरे पास बैठने का समय ही नहीं है।

आदमी अपनी ही उलझनो मे और अज्ञान मे उलझा रहता है। उसमे ऐसा दृष्टिमोह और दृष्टिभ्रम पैदा हो जाता है कि वह सच्चाई को पकड ही नहीं पाता।

उपाय-बोध के बिना प्रशिक्षण का क्रम सफल नहीं हो सकता। हमे उपाय चाहिए।

मगध के सम्राट् श्रेणिक के पास सेचनक नामक गंधहस्ती था। उसकी गध मात्र से दूसरे सारे हाथी निवीर्य हो जाते थे। एक बार वह हाथी नदी पार कर रहा था। एक मगरमच्छ ने उसे पकड लिया। हाथी बहुत शक्तिवान् था, पर वह फस गया। हमारी इस दुनिया मे कोई एक प्राणी ही शक्तिशाली नहीं होता। चारो ओर शक्तिशाली प्राणी भरे पडे हैं। जिसका जहा अवकाश हो जाए, वहां वह शक्तिशाली बनकर बैठ जाता है। नदी मे मगरमच्छ बहुत शक्तिशाली होता है।

राजा को ज्ञात हुआ। अनेक उपाय किये पर मगरमच्छ ने हाथी को

नहीं छोडा। महामत्री अभयकुमार से उपाय पूछा। उसने कहा—महाराज! यदि जलकान्त मणि मिल जाए तो छुडाया जा सकता है, अन्यथा नहीं। जलकात मणि का यह प्रभाव है कि पानी मे उसे डालते ही रास्ता बन जाता है, पानी हट जाता है। राजा ने घोषणा कराई कि यदि कोई व्यक्ति जलकात मणि प्राप्त करायेगा तो मैं उसे अपनी कन्या ब्याह दूंगा। बडी घोषणा थी।

संयोग की बात है। एक दिन एक हलवाई के पास एक लड्डू आया था। उसमे से एक मणि निकली थी। हलवाई ने उसे पानी मे डाला, साफ करने के लिए। पानी फट गया। घोषणा सुनकर वह उस मणि को लेकर दौडा-दौडा उस राजा के पास गया। अभयकुमार ने उस मणि को पहचान लिया। तत्काल उसे नदी के पानी मे डाला, पानी फट गया, स्थल बन गया। मगरमच्छ कमजोर हो गया। उसकी पकड ढीली हो गई। हाथी कि शक्ति बढ गई। वह छूट गया।

समस्या की पकड कितनी ही गहरी हो, समस्या कितनी ही विकट हो हमारे जीवन के सेचनक को पकडे हुए हो, गंधहस्ती को कितना ही विकराल मगरमच्छ पकडे हुए हो, यदि उचित युक्ति मिल जाती है तो समाधान मिल जाता है।

प्रशिक्षण का तीसरा सूत्र है—उपाय-बोध, उपाय की जानकारी। मन बडा जटिल है। उसकी चचलता कम समस्या नहीं है। बडे-बडे विकट काम करने वाले भी अपने मन पर काबू नहीं रख पाते। विश्व मे जितनी भी बडी समस्याएं हैं उनमे मन की चंचलता भी एक है। मन की चंचलता को कम करना, मन को स्थिर करना, एकाग्र करना, मन रहित स्थिति का निर्माण करना, निर्विचार और निर्विकल्प स्थिति का निर्माण करना बहुत बडी समस्या है। सब समस्याओ से आगे की समस्या है। पर उपाय-बोध के कारण इसका भी समाधान हो जाता है।

प्रेक्षाध्यान के शिविरो मे आस्था का निर्माण होता है, आस्था का बोध होता है और उपाय की जानकारी होती है। एक घटा ध्यान करते हैं। ध्यान पूरा होने पर साधक पूछते है—क्या आज ध्यान दस मिनट का ही कराया था? ध्यान-काल मे काल-बोध समाप्त हो जाता है। जहा गहन एकाग्रता होती है वहा काल-बोध समाप्त हो जाता है। देश और काल का बोध चचलता मे अधिक होता है। गहरी एकाग्रता मे ये दूरिया मिट जाती हैं।

लेश्याध्यान और रंगध्यान हृदय-परिवर्तन के लिए महत्त्वपूर्ण ध्यान है। यह हमारे सारे अन्तकरण को प्रभावित करता है। लेश्याध्यान के प्रयोग से गुजरने के पश्चात् अनेक साधक-साधिकाओ ने कहा—आज तो मन ऐसा जमा

कि उसे अपने बिन्दु से हटाने की इच्छा ही नहीं हुई। मैंने सोचा, एक ओर समस्या है कि मन जमता ही नहीं, तो दूसरी ओर यह समस्या है कि मन टूटता ही नहीं। कभी तो समस्या होती है कि दूध जमता ही नहीं और कभी इतना गाढा जम जाता है कि उसे काटना पडता है। दोनों ओर समस्याएं हैं।

उपाय-बोध के द्वारा सब कुछ हो सकता है। उपाय नहीं होता तो दूध दही नहीं बनता।

हम पर्यायो के जगत् मे जीते हैं। द्रव्य के जगत् में हमारा प्रवेश नहीं है। हमारा सारा जीवन पर्याय का जीवन है। पर्याय अनन्त हैं। उनका कहीं अन्त नहीं आता। इन पर्यायों में आदमी खो जाता है। एक के बाद दूसरा पर्याय उभरता रहता है। दूध के बाद दही, दही के बाद मक्खन। तरलता के बाद सघनता और सघनता के बाद प्रगाढता का पर्याय। ये सारे पर्याय आते हैं पर ये सारे पर्याय निमित्त से होते हैं। पर्याय होते हैं उपाय के द्वारा, युक्ति के द्वारा।

हम प्रेक्षा-ध्यान के अभ्यास से युक्तिबोध करते हैं, युक्तियों को जानते हैं कि मन को गाढा कैसे बनाया जा सकता है ? मन को कैसे जमाया जा सकता है ? उसकी तरलता को कैसे समाप्त किया जा सकता है ? अनेक उपाय हैं। रंगध्यान एक उपाय है। चैतन्य-केन्द्र-प्रेक्षा एक उपाय है। शरीर-प्रेक्षा एक उपाय है। देखना एक उपाय है, बहुत बडा उपाय है। सोचना उतना बडा उपाय नहीं है, जितना बडा उपाय है देखना। सोचना मन का एक कार्य है। सोचने का अर्थ है—चिंतन करना, चंचल होना। चंचलता और चिंतन दोनों एक साथ होते हैं। चचलता के बिना चिन्तन नहीं होता और चिन्तन के बिना चंचलता नहीं होती। सोचना एक पर्याय है, देखना दूसरी पर्याय है। देखने मे चंचलता अपने आप समाप्त हो जाती है। देखना और जानना संवेदन से मुक्त होना है। सवेदन चंचलता पैदा करता है। ज्ञान और दर्शन, जानना और देखना चंचलता को समाप्त करते हैं।

दर्शन बहुत बडा तत्त्व है। आज का दर्शन बुद्धि के सहारे चलने वाला दर्शन है। यह बुद्धि और तर्क के जाल मे लिपटा हुआ दर्शन है। यह दर्शन आदमी को भटकाता है, पहुंचाता नहीं। दर्शन का मूल अर्थ है—साक्षात्कार। जहां साक्षात्कार होता है वहां सारी दुनिया समाप्त हो जाती है, सारे व्यवधान समाप्त हो जाते है, ज्ञेय और ज्ञाता के बीच की दूरी मिट जाती है। ज्ञाता ज्ञेय को साक्षात् जान लेता है, अव्यवहित जान लेता है, निकटता से जान लेता है। दोनो मे तादात्म्य स्थापित हो जाता है। यह है प्राचीन दर्शन, मूल दर्शन।

मैं इसी दर्शन की चर्चा कर रहा हू। प्रेक्षा-ध्यान दर्शन का प्रयोग है,

साक्षात्कार करने की प्रक्रिया है। रंगो के ध्यान मे हम सुझाव देते हैं—ज्योतिकेन्द्र पर श्वेत रग का साक्षात्कार करे, आनन्द-केन्द्र पर हरे रंग का साक्षात्कार करे, विशुद्धि-केन्द्र पर नीले रग का साक्षात्कार करे। आप सोच सकते है कि बन्द आखो से रंगो का साक्षात्कार कैसे होगा ? हमारी आस्था आंखो पर है। हमारी आस्था का नया आयाम खुलना चाहिए। आस्था का विस्तार होना चाहिए कि आंखो से देखना एक छोटी बात है। हमारी शक्ति बहुत अधिक है। हम आखो के बिना भी देख सकते हैं, अनुभव कर सकते हैं। इस समूचे आकाशमण्डल मे रग भरे हुए हैं। जितने रग इस दुनिया मे हैं, उन सारे रंगों के घटक परमाणु समूचे आकाशमण्डल मे व्याप्त हैं। हम जब आखे बद कर गहरी तन्मयता और एकाग्रता के साथ अनुभव करना शुरू करते हैं तो हमे नाना प्रकार के रग दिखाई देते हैं। आखे बद होने पर भी ऐसे चमकीले रंग दिखाई देते हैं, ऐसे सुन्दर और आकर्षक रग दिखाई देते हैं कि जिनकी कल्पना आखे कर ही नहीं सकतीं। वे सारे रग हमारे साक्षात् होते हैं।

दर्शन के द्वारा अनुद्घाटित पर्याय उद्घाटित होते हैं और आवृत पर्याय अनावृत होते हैं। तब ऐसा चक्र चलता है कि सारी घटनाएं सामने घटित होती चली जाती है। वस्तु-जगत् की घटनाए और अन्तर-जगत् की घटनाएं—दोनो हमारे सामने साक्षात् होती चली जाती हैं। जो घटनाए हमारे अन्तर-जगत् मे घटित हो रही हैं, जिनका हमने कभी साक्षात्कार नहीं किया वे सारी घटनाएं आखों को बद करने के बाद, मन की एकाग्रता सधने के बाद अव्यक्त से व्यक्त होकर सामने मूर्त्त होती रहती हैं। वस्तु-जगत् की घटनाएं भी बद आखो के सामने नाचने लग जाती हैं।

हम अनुभव करे कि हमारी चेतना इन्द्रियो से सिमटी हुई चेतना नहीं है। चेतना उतनी ही नहीं है जो इन्द्रियो के द्वारा उपलब्ध हो रही है। हमारी चेतना अनन्त है। उसका कहीं अन्त नहीं है। उसकी कोई सीमा नहीं है। अनन्त और असीम चेतना को सीमित कर आदमी अज्ञान पूर्ण जीवन जी रहा है। यह प्रेक्षा-ध्यान इस अज्ञान के निरसन की प्रक्रिया है। अज्ञान के निरस्त होने पर चेतना को नया आयाम मिलता है और तब उसका विस्तार होता है। यह चेतना का विस्तार हमे उपाय से उपलब्ध होता है।

प्रशिक्षण का तीसरा सूत्र है—अभ्यास। आस्था निर्मित हो गई, उपाय भी जान लिया गया, पर यदि अभ्यास नहीं किया तो बात अधूरी रह जाएगी। प्रशिक्षण के लिए यह बहुत महत्त्वपूर्ण बात है कि उपाय को अभ्यास मे लाना, अभ्यास के द्वारा उसे पुष्ट करना। जो लोग अभ्यास नहीं करते वे पा नहीं

सकते। उपाय और अभ्यास—ये दोनो जुडें हुए है। इन दोनो का प्रयोग अलग नहीं किया जा सकता। उपाय के अभाव में अभ्यास सफल नहीं हो सकता और अभ्यास के अभाव मे उपाय सफल नहीं हो सकता।

एक आदमी गाय खरीदने निकला। एक दुकान पर विश्राम करने बैठा। वह दुकान थी साइकिलो की। दुकानदार ने कहा—'साइकिल खरीद लो। गाय खरीदकर क्या करोगे ? साइकिल पर चढकर आराम से गांव पहुंच जाओगे। यदि तुम गाय पर चढकर जाओगे तो लोग मजाक करेगे। तुम्हारे पास पैसा है, मेरे पास साइकिल। खरीद लो।' वह ग्रामीण बोला—'बात तो तुम ठीक कह रहे हो। पर जब गांव जाकर, साइकिल को दुहाने बैठूंगा तो कितना मूर्ख लगूंगा ?'

उपाय सही होना चाहिए। दूध यदि पाना है तो वह साइकिल से नहीं पाया जा सकता। दूध गाय से ही प्राप्त किया जा सकता है। गाय है और यदि उसे दूहा न जाए तो दूध नहीं मिलेगा। दूध के लिए गाय भी चाहिए और दोहने की प्रक्रिया भी चाहिए। दोनो होते हैं तब दूध मिलता है। दोनो के अभाव मे दूध नहीं मिलता। उपाय और अभ्यास—दोनो साथ जुडे हुए है।

प्रशिक्षण तभी सफल होता है जब वह अभ्यास से जुड जाता है। आज दृष्टि बहुत स्पष्ट हो गई है। मध्यकाल मे सारी पढाई बुद्धि की पढाई थी। शिक्षण कोरा ज्ञानात्मक था, बोधात्मक था, क्रियात्मक नहीं था, किन्तु विज्ञान के विकास के पश्चात् शिक्षण में सिद्धांत और प्रयोग—दोनो जुड गए। सैद्धान्तिक शिक्षण और प्रैक्टिकल—क्रियात्मक शिक्षण-दोनों चलते है। बिना प्रयोग के कोई बात सफल नहीं होती, विद्यार्थी को अनुभव भी नहीं होता। विद्यार्थी निपुण बनता है प्रयोग और प्रशिक्षण के द्वारा।

प्रशिक्षण का महत्त्वपूर्ण अंग है अभ्यास। अभ्यास से अनेक तथ्य स्पष्ट हो जाते है। जो सिद्धांत के द्वारा समझ मे नहीं आती वह बात अभ्यास के द्वारा समझ मे आ जाती है।

पहले सिद्धांत बताना होता है, फिर आसेवन की बात आती है। आचार्य ने अपने शिष्य को पाठ पढाया—'अणुसासिओ न कुप्पेजा'—गुरु के अनुशासन करने पर शिष्य कुपित न हो। यह पाठ था। केवल इस पक्ति को याद करना मात्र की पाठ पढने का तत्पर्य होता तो सब पढ़ जाते। केवल ग्रहण मात्र से या जान लेने मात्र से सफलता मिल जाती तो फिर इस दुनिया मे कोई विफल नहीं होता। सभी सफलता का आलिगन कर लेते। किन्तु अभ्यास के बिना सूक्त फलता नहीं।

आचार्य ने पाठ पढाया। पढने वाला शिष्य था कूरगडू। उसमे खाने की बडी कमजोरी थी। वह न उपवास कर सकता था और न एकासन। प्रातः

होते ही वह खाने के लिए तडप उठता, पर उसने इस सूक्त का अभ्यास प्रारंभ कर दिया। अभ्यास चलता रहा। कभी मन मे उच्चावच भाव आया, रोष आया, अन्यथाभाव आया, फिर भी सम्हलता हुआ चलता रहा। अभ्यास पुष्ट होता गया। अनुशासन के समय शान्त रहा जा सकता है, ऐसी स्थिति बन गई।

अनुशासन आग है। जहा-जहा अनुशासन होता है वहा-वहा आग भभकती है। अभ्यास से ही उसके ताप को सहा जा सकता है।

कूरगडू का अभ्यास चालू था। पर्व का दिन आया। सभी साधुओ ने उपवास किया। आचार्य ने भी किया। प्रात.काल होते ही कूरगडू मुनि भिक्षा के लिए तैयार होकर आज्ञा लेने के लिए आचार्य के सामने आया। आचार्य ने समझाया। उपदेश दिया। कठोरता से कहा। वह शान्त रहा। उसने हाथ जोडकर शान्त भाव से कहा—'गुरुदेव ! आपकी शिक्षा अमूल्य है, पर मैं विवश हूं।' आज्ञा लेकर वह गया। खीचडी ले आया। आचार्य को दिखाई। आचार्य का पारा उतरा नहीं था। वे पुन बोले—सभी साधु उपवासी हैं और तू खाएगा? आवेश मे उन्होने बहुत कडी-कडी बाते कह दीं। कूरगडू शात था। अन्त मे आचार्य ने गुस्से मे आकर उसके पात्र मे थूक दिया। कूरगडू फिर भी शात था। वह अपने स्थान पर गया। शान्तभाव से, बिना घृणा किए, भोजन कर लिया। उसका मन सतुलित था। उसने सोचा, कितने महान् हैं गुरु। उसने गुरु का दोष नहीं देखा। उनके वाक्यों को गुण रूप मे स्वीकारा। कहा जाता है कि भोजन करते समय उसमे समताभाव का इतना उत्कर्ष हुआ कि कूरगडू केवली बन गया। गुरु अकेवली ही रह गए।

उपवास करना कोई बडी बात नहीं है और खाना कोई छोटी बात नहीं है। हमारा मापदण्ड भिन्न है। न खाने वाले को बडा मान लेते हैं और खाने वाले को छोटा मान लेते है। ये सब गौण बाते हैं। मुख्य तथ्य यह है कि अभ्यास के द्वारा समता का कितना विकास हुआ, चेतना को समता में कितना प्रतिष्ठत किया, आन्तरिक चेतना का जागरण कितना हुआ ? मुख्य बात है कि राग-द्वेष कितना कम हुआ, गर्मी-सर्दी कितनी घटी ? अनुकूलता हमारे जीवन की सर्दी है और प्रतिकूलता हमारे जीवन की गर्मी है। जो इनसे बच जाता है वह महान् चेतना का जागरण कर लेता है। किन्तु यह अभ्यास के बिना सभव नहीं है।

प्रशिक्षण के तीन तथ्यो—आस्था का निर्माण, उपाय-बोध और अभ्यास की जब एक धारा बनती है, तब ऐसी कोई समस्या नहीं जिसका पार न मिल सके। ऐसी कोई दुस्तर नदी नहीं जिसे तैरा न जा सके।

हृदय-परिवर्तन : एक महान् उपलब्धि

कुछ समय पहले की बात है। एक चर्चा पढी थी। उसका विषय था–सबसे बडी उपलब्धि क्या है ? जहां चर्चा होती है, वहां अनेक मत होते हैं। समाज मे अनेक धाराओ के लोग है और अनेक मतों द्वारा विचारों का पोषण होता है। नृवंश-शास्त्रियों का मत है कि संतति का विकास मनुष्य समाज की सबसे बडी उपलब्धि है। मनुष्य ही एक ऐसा बुद्धिमान प्राणी है, जिसने अपनी संतति का विकास किया है। प्राणियों की अनेक जातियां आज लुप्त हो चुकीं, जबकि मनुष्य की आबादी लगभग पांच अरब तक पहुंच गयी। सतति का विकास मनुष्य की सबसे बडी उपलब्धि है।

मानव-विकासशास्त्रियो का मत है कि दौ पैरों पर खडा होना, दो हाथों को खाली रखना, मनुष्य की सबसे बडी उपलब्धि है। वास्तव मे यह महान् उपलब्धि है। रीढ़ के आधार पर खडा होना, दोनो हाथो को काम करने का अवसर देना, एक महान् उपलब्धि है। यदि मनुष्य चौपाया (चार पैरो वाला) होता तो उसका मूल्य गाय-भैंस से अधिक नहीं होता।

मनुष्य की सबसे बडी उपलब्धि है–अन्यान्य ग्रहों पर मनुष्य जाति की खोज। इस पूरे ब्रह्माण्ड मे मनुष्य कहां-कहां है–यह खोज हो रही है और यदि यह खोज हो गई तो यह सबसे बडी उपलब्धि होगी।

प्रश्न एक था। पर उसके समाधान में नाना विचार, नाना धारणाएं सामने आईं। इन सारी धारणाओ के संदर्भ मे मैं अपना अभिमत प्रगट करना चाहता हूं कि मनुष्य की जो प्रतिमा बनी है, मनुष्य और पशु के बीच जो भेद-रेखा खींची गई है, उसमे सबसे महत्त्वपूर्ण धारणा है–हृदय का परिवर्तन। कोई भी अन्य प्राणी हृदय-परिवर्तन करना नहीं जानता। बडे से बडा और अक्लमंद पशु भी हृदय-परिवर्तन करना नहीं जानता। मात्र मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो हृदय-परिवर्तन करना जानता है। उसने हृदय-परिवर्तन के सिद्धान्त की स्थापना की है और उसका प्रयोग किया है। उसमे वह सफल हुआ है।

मनोविज्ञान ने कुछ मौलिक मनोवृत्तिया मानी हैं। उनकी संख्या मे मतभेद है फिर भी दो-चार मनोवृत्तियां सर्वसम्मत है। आहार की खोज, काम की तृप्ति, पलायन और युयुत्सा–ये मौलिक मनोवृत्तियां हैं।

आहार की खोज मौलिक मनोवृत्ति है। इसका सवेग है भूख। आदमी को भूख लगती है, तब वह आहार की खोज करता है।

काम की तृप्ति मौलिक मनोवृत्ति है। इसका सवेग है मैथुन। मनुष्य संतति पैदा करता है। हर प्राणी करता है।

पलायन मौलिक मनोवृत्ति है। इसका सवेग है भय। आदमी डरता है और डर से पलायन कर जाता है, भाग जाता है।

युयुत्सा मौलिक मनोवृत्ति है। इसका सवेग है मान। युयुत्सा का अर्थ है लड़ने की इच्छा। आदमी लडने-झगडने मे रस लेता है।

ये कुछ मौलिक मनोवृत्तिया हैं। इनका परिष्कार आदमी ही कर सकता है, दूसरा कोई प्राणी नहीं कर सकता। काम की वृत्ति का परिष्कार ब्रह्मचर्य मे होता है। किसी भी प्राणी या पशु ने ब्रह्मचर्य का विकास नहीं किया। भय का परिष्कार अभय मे होता है। किसी भी प्राणी ने अभय का विकास नहीं किया। पशु आज भी उतने ही डरते हैं, जितने पहले डरते थे। उनमे उतनी ही काम-भावना है जितनी पहले थी। युयुत्सा का परिष्कार सहिष्णुता मे होता है। किसी भी प्राणी ने यह परिष्कार नहीं किया। पशु जितने पहले लडते थे, आज भी उतने ही लडते हैं। भौकने वाला भौंकता है, लडने वाला लडता है। किसी भी देश के कुत्ते ने यह विकास नहीं किया कि उसने भौकना बन्द कर दिया हो, परस्पर लडना बद कर दिया हो। एक मुहल्ले का कुत्ता जब दूसरे मोहल्ले मे जाता है, तब लडाई न होती हो, ऐसा न सुना न देखा। सभव ही नहीं है। अमेरिका का हो या रूस का हो, सबकी यह मनोवृत्ति समान है। इसमे कोई अन्तर नहीं है।

मनुष्य ने अपनी मौलिक मनोवृत्ति का परिष्कार किया है। मनोविज्ञान के संदर्भ मे हृदय-परिवर्तन का अर्थ हो सकता है—मौलिक मनोवृत्तियो का परिष्कार। जो मौलिक मनोवृत्तियो का परिष्कार है वह चेतना का परिवर्तन है, हृदय का परिवर्तन है। दिशा बदल जाना साधारण बात नहीं। आदमी एक ही दिशा मे चलता है तो एक ही प्रकार का आचरण और व्यवहार होता है। जब दिशा बदलती है तब सारी स्थितियां बदल जाती हैं, आचरण और व्यवहार बदल जाता है।

हिम्मतसिह पटेल सौराष्ट्र का निवासी था। वह हृष्ट-पुष्ट और स्वस्थ था। उसे अपने शारीरिक बल पर गर्व था। वह मानता था, ऐसा कोई भी कार्य नहीं है, जो मै न कर सकू। एक दिन एक व्यक्ति ने कहा—'हिम्मत सिह ! तुम

शक्तिशाली हो। सब कुछ कर सकते हो तो एक काम कर दिखाओ। वह काम है स्वय की छाया को पकड़ना। सूरज उदय हो रहा है। जाओ, अपनी छाया को पकडो।' उसने कहा—'अभी पकडता हूं। यह भी कोई काम है।' वह दौडा छाया को पकडने। जैसे-जैसे दौडता है, छाया आगे बढती जाती है। अपनी छाया को पकडने की दौड मे वह पसीने से तरबतर हो गया। श्रम बहुत किया, पर सफल नहीं हुआ। ज्यो दौडता है छाया आगे सरक जाती है। निराश हो गया।

अकस्मात् सामने से रात आ गए। उन्होंने पूछा—'अरे हिम्मत ! यह क्या? इतने परेशान क्यो हो रहे हो ?' वह बोला—महाराज ! आज तक मैं कभी अपने काम मे असफल नहीं हुआ। आज सफलता दूर भाग रही है। परेशान हू। मार्गदर्शन करे। मैंने अपनी छाया को पकडने का वादा किया है, पर अभी तक इसे पकड नहीं पाया हू। आप उपाय बताएं। सन्त बोले—'बहुत सीधी बात है। तुम अपना मुंह मोड लो।' उसने मुंह मोडा। दिशा बदल गयी। जैसे ही दिशा बदली छाया पकड मे आ गयी। जहा खडा है, वहीं उसकी छाया स्थिर है।

जब दिशा बदलती है तब छाया पकड मे आ जाती है। आदमी छाया और माया के लिए दौडता है। पर न छाया पकड मे आती है और न माया पकड मे आती है। सब आगे से आगे बढती जाती हैं। ऐसी मरीचिका है, जिसे कभी पकडा नहीं जा सकता। जैसे ही दिशा का परिवर्तन होता है, छाया भी पकड में आ जाती है, माया भी पकड मे आ जाती है और काया भी पकड मे आ जाती है। सब कुछ पकड मे आ जाता है।

मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जिसने दिशा को बदला है, मौलिक वृत्तियो का परिष्कार किया है, हृदय का परिवर्तन किया है, चेतना का रूपान्तरण किया है। इस सारे संदर्भों मे कहा जा सकता है कि मनुष्य की सबसे बडी उपलब्धि है हृदय का परिवर्तन, चेतना का रूपान्तरण और मौलिक मनोवृत्तियो का परिष्कार।

हृदय-परिवर्तन के आधार पर समाज मे नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा हुई। किसी प्राणी जगत् मे नैतिक मूल्य जैसा कोई तत्त्व नहीं होता। आवश्यक भी नहीं है, क्योकि उनके पास बुद्धि का इतना विकास नहीं है। जहा बुद्धि का विकास नहीं होता वहां नैतिक मूल्यों की स्थापना हो ही नहीं सकती। बुद्धि के द्वारा अनैतिक मूल्यो की भी स्थापना होती है। बेचारे दूसरे प्राणियो मे

बौद्धिक विकास नहीं है तो अनैतिक मूल्य भी नहीं हैं। वे कभी मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करने। वे सदा बधी-बधाई मर्यादा मे चलते है, अतिक्रमण नहीं होता। न नैतिकता और न अनैतिकता। मनुष्य ने अपनी बुद्धि के द्वारा ऐसे मूल्यो की स्थापना की जो समाज के लिए कल्याणकारी नहीं हैं, अकल्याणकारी हैं। दिशा-परिवर्तन हुआ और उसने नैतिक मूल्यो की स्थापना की। दडशक्ति का प्रयोग करते है। प्राणियो की बात छोड दे, वनस्पति जगत् मे भी दण्डशक्ति का प्रयोग चलता है। चींटियो मे भी यह प्रचलित है। मधुमक्खिया दण्डशक्ति का प्रयोग करती हैं। खोज करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्राणीमात्र मे दण्डशक्ति का प्रयोग और बलप्रयोग--दोनो चलते है। ऐसे वृक्ष होते हैं जो दण्डशक्ति का प्रयोग कर प्राणियो को फसा लेते हैं। ऐसे वृक्ष है जिनकी पत्तियां पहले खुली होती हैं, फिर ज्योही कोई प्राणी आकर उन पर बैठता है, वे सिकुड जाती हैं। प्राणी उसमे फस जाता है। वे पत्तिया प्राणी को निचोड कर, निस्सार खोल को बाहर फेक देती हैं। एक नहीं, अनेक ऐसे वृक्ष हैं, पौधे हैं, जो बलप्रयोग करते हैं। वे अन्य जीवो को चूसते हैं, उनका शोषण करते हैं। इसी तरह चींटियां सामुदायिक व्यवस्था का पालन करती हैं। चींटियो की रानी सारी व्यवस्था का सचालन करती है। जो चींटिया काम करने से जी चुराती हैं, आलसी हो जाती हैं, उन्हे समाज से बाहर निकाल दिया जाता है। मधुमक्खियो की भी यही व्यदस्था है। रानी मधुमक्खी काम न करने वाली मधुमक्खियो को दण्ड देती है, उनका बहिष्कार करती है और दण्डस्वरूप उनसे अधिक काम कराती है।

समूचे प्राणीजगत् मे दण्ड की और बल-प्रयोग की व्यवस्था चलती है। मनुष्य ने दडशक्ति के स्थान पर आत्मानुशासन का विकास किया है। उसकी धारणा यह रही कि बल-प्रयोग कम हो, दडशक्ति का प्रयोग कम हो और आत्मानुशासन जागे।

हृदय-परिवर्तन का पहला सूत्र है--आत्मानुशासन। जब तक आत्मानुशासन का विकास नहीं होता तब तक नहीं माना जा सकता कि हृदय-परिवर्तन घटित हुआ है। हृदय-परिवर्तन एक अमूर्त क्रिया है हमारी चेतना की। उसे देखा नहीं जा सकता। किंतु आत्मानुशासन के विकास को देखकर जान जाते हैं कि इस व्यक्ति का हृदय-परिवर्तन हो गया है।

आत्मानुशासन का विकास समाज और सामाजिक मूल्यो की प्रतिष्ठा का एक महत्त्वपूर्ण अवदान है। आत्मानुशासन के बिना अहिंसा की कल्पना

नहीं की जा सकती। अहिंसा का पूरा विकास आत्मानुशासन के आधार पर हुआ है।

हृदय-परिवर्तन का दूसरा सूत्र है–अभय का विकास। अभय के बिना अहिंसा की कल्पना नहीं की जा सकती। भय मौलिक मनोवृत्ति है। आदमी डरता है। डर समूचे जीवन में व्याप्त है। आदमी को अतीत का भय, वर्तमान का भय और भविष्य का भय–तीनो कालों का भय सताता रहता है। आदमी अतीत के भय से त्रस्त हो जाता है। जो घटना घट चुकी, जो घटना चली गई, उसका भी भय आदमी के संस्कारों में अंकित हो जाता है और आदमी जीवन उस भय से डरता रहता है।

आदमी के जीवन मे एक घटना घटी। आदमी उससे भयाक्रांत हो गया। उसने भय को मिटाने के उपाय किए, पर सफलता नहीं मिली। एक व्यक्ति से पूछा। उसने कहा, सबसे सरल और अचूक उपाय यह है कि तुम घटना को भूल जाओ। उसे याद मत करो। उसे यह उपाय अच्छा लगा। अब वह निरन्तर यह सोचने लगा–'मुझे उस घटना को भूलना है', 'मुझे उस घटना को भूलना है।' भूलने-भूलने के बहाने स्मृति की पकड इतनी मजबूत हो गई कि वह घटना निरन्तर तरोताजा रहने लगी। अतीत का भय रहता है। भय की स्मृतियां बहुत सताती हैं।

आदमी को वर्तमान का भय भी सताता है। यह न हो जाए, वह न हो जाए, चोर न आ जाए, अफसर न आ जाए–वर्तमान का यह भय भी बहुत पीडादायक होता है।

भविष्य का भय है–कल्पनाजनित भय। वह भी कम भयानक नहीं होता। आदमी बार-बार सोचता रहता है कि अवस्था आ रही है, बूढा हो जाऊंगा तो क्या होगा ? क्या बच्चे सेवा करेगे ? क्या भोजन सुख से मिल पाएगा ? धन नहीं रहेगा तो क्या करूंगा? अस्वस्थ हो जाऊंगा तो क्या होगा? इस प्रकार एक के बाद दूसरी चिंता उसे घेरे रहती है। डर मनुष्य के जीवन के क्षण-क्षण मे साथ चलता है। किन्तु मनुष्य ने विकास किया अभय का। साधना करते-करते इतना विकास हो जाता है कि भय शब्द ही समाप्त हो जाता है। आदमी ने उन सापो के साथ भी मैत्री की स्थापना की जिनका नाम सुनते ही आदमी कांप उठता है। उसने ऐसे हिंसक पशुओ के साथ भी मैत्री स्थापित की, जो आदमी को मारकर खा जाते हैं। आदमी ने मैत्री का विकास किया, अभय का विकास किया। जैसे-जैसे जीवन मे अहिंसा, अभय और मैत्री

का विकास होता है, सभी प्राणी मित्र बन जाते हैं।

कोई भी प्राणी किसी दूसरे प्राणी को सताता है तो उसके मुख्य कारण दो होते है—भोजन और भय। या तो भोजन के लिए सताया जाता है या भय के कारण सताया जाता है। गाय, भैंस, बैल आदि पशु आदमी को मारने के लिए दौडते हैं। विकराल मुद्रा बना लेते हैं। इसका क्या कारण है ? इसका एक ही कारण है कि वे डर जाते हैं जब उन्हे डर लगता है तब वे ऐसा करते हैं। यात्रापथ मे हमने अनेक बार देखा कि आगे चलने वाले झंडे को देखकर गाये और भैंस चमक उठती हैं, भागती हैं और विकराल रूप बना लेती हैं। हमने सोचा ऐसा क्यो होता है? खोज करने पर ज्ञात हुआ कि ये पशु कपड़ों से नहीं डरते, रगो से डरते हैं। पशु रगो से बहुत भयभीत होते हैं। पशुओ मे रगो की पहचान नहीं है। पर जब रंगीन वस्तु सामने आती है तब उन्हे लगता है कि कोई विकराल जीव सामने आ गया। उसको देखते ही उनके प्राण कांप उठते हैं। वे घबराकर दौडने लग जाते हैं। उनके पलायन का और भयंकर मुद्रा का मूल कारण है भय। दूसरा कारण है भोजन। जब भूखे होते हैं तब आक्रमण करते हैं।

किन्तु मनुष्य ने अपनी साधना और अभय की वृत्ति के द्वारा ऐसी तरंगो को निर्मित्त किया है, वह ऐसी तरगे फैला सकता है कि उनकी सन्निधि मे भूखे पशु भी आक्रमण नहीं करते और भयाक्रांत पशु भी आक्रमण नहीं करते। वे स्वय अभय बनकर, पास में आकर बैठ जाते हैं। जब ध्यान की रश्मिया, राग-द्वेष मुक्त चेतना की रश्मिया विकीर्ण होती हैं तब सामने वाले व्यक्ति का भय समाप्त हो जाता है। अनेक चित्रो मे हम शेर और बकरी को एक घाट पर साथ-साथ पानी पीते हुये देखते हैं। वह अभय का प्रतीक है। यह प्रतीक है निर्मल चित्त धारा का। जब चित्त की धारा निर्मल होती है, वीतरागता का विकास होता है तब ऐसी घटनाएं स्वाभाविक बन जाती हैं। ऐसी स्थिति में शेर और बकरी को एक ही पिंजडे मे बंद देख सकते हैं। पर यह एक दूसरी घटना है।

एक आदमी प्रतिदिन चिडियाघर मे जाता और देखता कि एक ही पिंजरे मे शेर और बकरी दोनो बधे हुए हैं। एक दिन उसने वहा के कर्मचारी से पूछा—कितनी बडी मैत्री? कैसा आश्चर्य ! कैसे विकास हुआ इसका ? उसने कहा—बाबूजी ! मैत्री कुछ नहीं है। इस पिंजरे मे रोज एक नई बकरी बाधी जाती है। जब तक शेर को भूख नहीं लगती, तब तक तो बंधी रहती है, जब

भूख लगती है तब दूसरी ही बकरी बन्धती है।

ऐसी मैत्री नहीं चाहिए। मैत्री वह होती है जहां भूख होने पर शेर बकरी पर नहीं झपटता और एक ही पिंजरे मे एक साथ रह जाता है। विरोधी प्राणी एक साथ रहे, यह वास्तविक मैत्री है। आदमी ने इस चेतना का विकास किया है। उसने अपने विकसित चेतना के द्वारा ऐसी तरंगों का निर्माण किया है जहा पूरा अभय है। उसे देश, काल, व्यक्ति, वस्तु और अपने मन में उठने वाली तरगो का भय नहीं है। सबसे अधिक भय अपनी तरंगो का होता है। जब मन की तरगे विकराल रूप धारण करती हैं, मन मे जब बवंडर या तूफान उठता है, तब चेतना का पूरा समुद्र मथित हो जाता है, उद्वेलित और क्षुब्ध हो जाता है। उस समय व्यक्ति संतुलन खो देता है। कल्पना का भय सबसे भयंकर होता है। परन्तु ध्यान के अभ्यासी व्यक्ति में ये तरगे पैदा ही नहीं होती। उसकी चेतना जब इस स्थिति तक पहुंच जाती है, तब वह अभय के क्षेत्र में प्रवेश कर जाता है। वह सर्वत. अभय हो जाता है।

हृदय-परिवर्तन का तीसरा सूत्र है—सहिष्णुता का विकास। एक बहिन ने पूछा—पारिवारिक जीवन मे शांति कैसे रह सकती है ? मैंने कहा—शाति की बात बाद मे सोचना। पहले सहिष्णुता की बात सोचो। सहिष्णुता का फलित है—शांति। यदि सहिष्णुता नहीं है तो शाति हो ही नहीं सकती। सहिष्णुता का अर्थ है—एक दूसरे को सहन करना। भिन्न विचार, भिन्न आचार, भिन्न सस्कार, भिन्न रुचि—सब कुछ भिन्न है। न विचार मिलते हैं, न आचार मिलता है, न संस्कार मिलते हैं और न रुचि मिलती है। इतनी भिन्नता होने पर भी शातिपूर्ण सह-अस्तित्व हो जाता है। कहीं कोई कठिनाई नहीं है। सर्दी और गर्मी, अंधकार तत्त्वो का सह अवस्थान हो सकता है। अनेकान्त सिद्धात की सबसे बडी फलश्रुति है—विरोधी युगलो का एक साथ रहना। यह अनेकांत की मूल आधारभूमि है। जब पदार्थ-जगत् मे विरोधी युगल एक साथ रह सकते हैं तो क्या विरोधी विचार वाले या विरोधी व्यवहार वाले दो आदमियो का सहावस्थान हो नहीं सकता ? उनका सहावस्थान हो सकता है, शातिपूर्ण सह-अस्तित्व हो सकता है। पर इसका मूल सूत्र है—सहिष्णुता का विकास। इसका अर्थ है एक दूसरे को सहन करना, भिन्न आचार-विचार को सहन करना, भिन्न संस्कार और रुचि को सहन करना। सहन करने से कलह का निवारण हो जाता है। यही शान्ति का बहुत बडा आलंबन है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी दृष्टि से सोचता है, विचार करता है। मै अपनी दृष्टि से सोचता हू,

विचार करता हूं। क्या मेरा विचार अन्तिम है? क्या मैंने ही सच्चाई का ठेका ले रखा है ? क्या दूसरे आदमी को सोचने का अधिकार नहीं है ? क्या दूसरा सही नहीं सोच सकता? क्या उसका विचार और व्यवहार सही नहीं हो सकता ? नितिज्ञ आचार्यों ने कहा कि एक बूढा या अनुभवी आदमी भूल कर सकता है और एक बालक भी सही परामर्श दे सकता है। सही बात, चाहे किसी की हो, वह मान्य होनी चाहिए। ऐसी अनेक कहानियां प्रचलित हैं जिनका सार तत्त्व है कि जहां बडे-बूढे सब विफल हो गए वहां या तो छोटे लडके ने समाधान किया या सबसे छोटी लडकी ने समाधान प्रस्तुत किया।

एक कहानी है—राजा ने अमुक परिवार के मुखिए से कहा, तुम्हें हमारे प्रश्न का उत्तर देना है, अन्यथा सारे परिवार वालों को फांसी दे दी जाएगी। परिवार का मुखिया निराश हो गया, कोई समाधान उपजा नहीं। गांव के छोटे लडके ने समाधान ढूंढ निकाला और सारा परिवार बच गया। राजा ने कहा—मुझे बालू रेत की रस्सी की आवश्यकता है। उसे तुम जल्दी भेजो। यदि नहीं भेजोगे तो समूचे परिवार को नष्ट कर दूंगा। बडी अजीब बात थी। बालू की रेत की रस्सी कैसे बने ? न कभी ऐसी रस्सी के बारे में सुना न जाना। सारे लोग घबरा गए। छोटे से एक बालक ने समस्या सुनी। उसने कहा—मैं जानता हूं इसका समाधान। बडे-बडे लोग उसके पास पहुंचे। उसके सामने समस्या रखते हुए कहा—यह असंभव अनुष्ठान है। मौत हमें दीख रही है। क्या इसका समाधान हो सकता है ? बालक ने कहा—सब हो जाएगा। डरने की बात नहीं है। चिन्ता मत करो। सब बचे रहेगे। मैं अकेला ही इस प्रश्न से निपट लूंगा। तत्काल उसने एक पत्र लिखा और दूत के हाथों राजा के पास भिजवा दिया। राजा ने पत्र पढ़ा। उसमे लिखा था—महाराज ! आपकी आज्ञा शिरोधार्य है। आप जैसा चाहेंगे वैसा ही होगा, वैसा ही करेंगे। एक अनुरोध है कि आपकी राजधानी बहुत बड़ी है। वहां सभी प्रकार के शिल्पी, कलाकार और अन्यान्य विद्याओं में निष्णात व्यक्ति रहते हैं। हमारा गांव छोटा है। आप कृपा कर बालू की रेत की रस्सी का नमूना भिजवाए। हम उसी के अनुसार, आप जितनी रस्सियां चाहेगे, उतनी बनाकर भेज देगे।

बालक की इस सूझ-बूझ ने सारे परिवार के प्राण बचा दिए।

हम क्यो ठेकेदार बने कि हम सोचते हैं वही ठीक है, दूसरे जो सोचते हैं वह सारा गलत है। इस ठेकेदारी को छोडे। सहिष्णुता का विकास अपने आप होगा। घर का मुखिया जब सही चिन्तन का ठेकेदार बन जाता है तब

यह ठेकेदारी असहिष्णुता पैदा करती है। इससे कलह और कदाग्रह बढता है। यदि बुद्धि या अक्ल की इस ठेकेदारी को समाप्त कर देते है तो सहिष्णुता का विकास हो सकता है। तब यह सोचने का अवसर मिलता है, मैं उसे समझूं, वह मुझे समझे। मैं उसे सहन करूं, वह मुझे सहन करे। जब एक-दूसरे को सहने का विकास होता है जब शातिपूर्ण सह-अस्तित्व फलित होता है। मनुष्य समाज ने सहिष्णुता और शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व का विकास किया है।

हृदय-परिवर्तन का महत्त्वपूर्ण सूत्र है—सहिष्णुता का विकास और सहिष्णुता के विकास के द्वारा शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व का विकास।

हृदय-परिवर्तन का चौथा सूत्र है—करुणा का विकास। पशु समाज मे क्वचित् करुणा का उदाहरण मिल जाता है, पर सभी पशुओ मे करुणा का विकास नहीं देखा जाता।

एक घटना पढ़ी थी। एक विदेशी व्यक्ति के पास कुत्ता था। वह बहुत समझदार था। वह प्रतिदिन थैला लेकर बाजार में जाता और एक निश्चित दुकानदार से बारह डबलरोटियां थैले में डलवाकर ले आता और मालिक को सौंप देता। यह प्रतिदिन का क्रम था। कुछ दिन बीते। अब मालिक ने देखा कि बारह डबलरोटियो के बदले ग्यारह ही आ रही हैं। मालिक ने सोचा, एक रोटी कहीं गिर जाती होगी। प्रतिदिन ऐसा ही होने लगा। एक रोटी की कमी की खोज की तो पता चला कि रास्ते मे एक बीमार कुतिया बैठी रहती थी। वह चल-फिर नहीं सकती थी। कुत्ता बारह रोटियों में से एक रोटी उसे दे आता और शेष ग्यारह रोटियां मालिक को सौंप देता।

पशुओ में कहीं-कहीं ऐसे करुणा के उदाहरण मिलते हैं। अपने बच्चो के प्रति वात्सल्य भी पशुओं मे प्राप्त होता है। कहीं-कहीं मां की ममता का उत्कृष्ट उदाहरण पशुओ में प्राप्त होता है।

एक शिकारी हरिणी को मारने लगा। उसने अपने धनुष पर बाण चढाया। निशाना साधा। इतने मे ही हरिणी ने कहा—

“आदाय मांसमखिलं स्तनवर्जितांगाद्,
मा मुञ्च वागुरिक ! यामि कुरु प्रसादम्।
अद्यापि सस्यकवलग्रहणादभिज्ञाः,
मन्मार्गवीक्षणपराः शिशवो मदीयाः।।”

—हे शिकारी ! तुम मेरे पूरे शरीर के मांस को ले लो, पर दोनो स्तनो को छोड दो। शिकारी ने पूछा—क्यो ? वह हरिणी बोली—देखो, मेरे दोनों

बच्चे आज भी इतने छोटे हैं कि वे अभी घास नहीं खा सकते। वे केवल मेरे स्तनो का दूध पीकर ही जी रहे हैं। स्तनो के दूध के अभाव में वे बेचारे मर जाएगे। अत. मेरे पर कृपा करो। दो स्तनो को छोडकर, पूरे शरीर का मांस ले लो।'

कितनी मार्मिक उक्ति है ! वात्सल्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। वात्सल्य के अभाव मे ऐसी बात नहीं कही जा सकती। पशुओ मे वात्सल्य है, करुणा है, पर उसका सामाजीकरण नहीं हुआ, सामाजिक विकास नहीं हुआ। मनुष्य की यह विशेषता है कि उसने करुणा का विकास किया है, करुणा की प्रतिष्ठा कर उसको महान् मूल्य दिया है।

हृदय-परिवर्तन की चर्चा के संदर्भ मे हमने इस विषय के अनेक पहलुओ को छुआ है। हृदय-परिवर्तन के घटक तत्त्व और फलित भी जान लिये हैं। इन सारे संदर्भो मे कहा जा सकता है कि मनुष्य की सबसे बडी उपलब्धि है हृदय का परिवर्तन।

भय-मुक्ति

अभयदान

'णमोत्थुणं अभयदयाणं'—मैं अभय देने वाले तीर्थकरो को नमस्कार करता हू।

नमस्कार सूत्र मे शक्रस्तुति के प्रसंग मे तीर्थकरों को नमस्कार किया है। नमस्कार इसलिए किया गया है कि वे अभय का दान करते हैं, प्राणी मात्र को अभय देते हैं। किसी को भयभीत नहीं बनाते। स्वय डरना या दूसरो को डराना, स्वयं भय की अनुभूति करना और दूसरो को भय का अनुभव कराना—दोनो भौतिकवादी प्रक्रियाएं हैं। दोनों अध्यात्म के प्रति प्रतिकूल आचरण हैं।

हम धर्म की चर्चा करते हैं, अध्यात्म की चर्चा करते हैं, किन्तु धर्म या अध्यात्म की अन्तरात्मा का अनुभव नहीं करते। कोई भी व्यक्ति अभय बने बिना आध्यात्मिक नहीं हो सकता। भय और भौतिकवाद दोनो पर्यायवाची हैं। अभय और अध्यात्म दोनो पर्यायवाची हैं। अपने आपको अध्यात्मवादी मानने वाला डरता है तो वह बाहर से अध्यात्मवादी है और अन्त.करण से भौतिकवादी। जो व्यक्ति अभय है, डरता नहीं, वह अपने आपको भौतिकवादी मानता हुआ भी सही अर्थ मे अध्यात्मवादी है।

भय हमारे शरीर-दर्शन के साथ जुडा हुआ है। दर्शन के दो कोण है—शरीर-दर्शन और शरीरातीत दर्शन। जो शरीर को देखता है, वह भय की सृष्टि करता है। भय उसी व्यक्ति मे पैदा होता है जो शरीर को देखता है। सारे भयो का मूल कारण है—शरीर-दर्शन। जिसकी दृष्टि शरीर से परे नहीं जाती, शरीरतीत नहीं होती, वह अभय का अर्थ समझ नहीं सकता।

सारी मूर्च्छा पैदा होती है शरीर से और मूर्च्छा ही भय का मूल कारण है। मूर्च्छा है तो भय है। यदि मूर्च्छा नहीं है तो भय नहीं है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से सवेगात्मक व्यवहार और संवेगात्मक अनुभव ये दोनो हाइपोथेलेमस से पैदा होते हैं। ये दोनो इमोशनल हैं। हमारे शरीर मे ऐसे केन्द्र हैं जहां से नाना प्रकार की प्रवृत्तियो का सचालन होता है। सवेग का संचालन शरीर से होता है। सारे सवेग हाइपोथेलेमस मे पैदा होते हैं। भय का यही स्थान है।

कर्मशास्त्रीय कारण है कि मूर्च्छा है, मोह है इसलिए भय पैदा होता है। मूर्च्छा की अनेक प्रकृतियो मे एक प्रकृति है—भय। मोह के कारण ही मनुष्य यथार्थ को नहीं समझ सकता। सचाई को न समझ सकने के कारण वह जाने

अनजाने भय की स्थिति में चला जाता है। उसे लगता है कि यदि शरीर छूट गया तो सब कुछ छूट गया। शरीर चला गया तो सब कुछ चला गया। उसका आदि-दर्शन है शरीर, मध्य-दर्शन है शरीर और अन्त-दर्शन है शरीर। शरीर के अतिरिक्त उसका कोई दर्शन नहीं है। शरीर के प्रति जब इतनी प्रगाढ आस्था होती है तब भय पैदा होना स्वाभाविक है।

वर्तमान की दुनिया मे, विशेषत वर्तमान की चिन्तनशील दुनिया मे एक आंदोलन चल रहा है—'गरीबी हटाओ' यह बहुत सुनहला और स्वच्छ लगता है। थोडे गहरे मे उतर कर देखे तो पता लगेगा कि यह गरीबी की समस्या को उलझाने वाला आंदोलन है। 'गरीबी हटाओ' इस आंदोलन से आज तक गरीबी नहीं मिटी। रोटी की समस्या है, रोटी दो। बात बहुत अच्छी लगती है, किन्तु यह आंदोलन भी रोटी की समस्या को समाहित करने वाला नहीं, उसे उभारने वाला ही है। इस आदोलन से न रोटी मिली है न मिलने वाली ही है। बहुत बार ऐसा होता है कि आदमी समग्र को नहीं पकडता, एक खण्ड को पकडकर उलझ जाता है। अखंड की प्रक्रिया में खंड स्वयं उपलब्ध होता है और खंड की प्रक्रिया मे खड स्वयं खडित हो जाता है।

अदालत में चोरी का केस चल रहा था। चोर के वकील ने अपना तर्क प्रस्तुत करते हुए कहा—'जज महोदय ! चोरी तो हाथ ने की है, इसलिए समूचे शरीर को क्यो दण्ड दिया जाए ? दण्ड उसी को दिया जाए जिसने चोरी की है। इसलिए दण्ड का भागी हाथ है, न कि शरीर।' न्यायाधीश को यह तर्क अच्छा लगा। उसने अपना निर्णय सुनाते हुए कहा—'मैं वकील के इस तर्क को स्वीकार करता हू और हाथ को दण्ड देना चाहता हू। जिस हाथ ने चोरी की है, उसे दस वर्ष के सश्रम कारावास की सजा भुगतनी पडेगी।'

तत्काल चोर आगे आया और बोला—'मैं न्यायप्रिय न्यायाधीश के निर्णय को सहर्ष स्वीकार करता हूं। मेरे बाएं हाथ ने चोरी की थी। उसे सजा मिलनी ही चाहिए।' यह कहकर चोर ने अपना कृत्रिम हाथ जो लकडी का बना था, निकाल कर जज के टेबल पर रख दिया। सब देखते रह गए। जज स्वयं अवाक् रह गया।

जब हम खंड में उलझ जाते हैं, समग्रता को भुला देते हैं, वहां निर्णय गलत हो जाता है। हाथ ने चोरी की, दण्ड हाथ को ही मिलना चाहिए—यह तर्क सुनने मे बहुत अच्छा लगता है, पर सही नहीं है। यहां अखण्ड कर विस्मृति का खड मे उलझना पडता है।

ऐसा ही नारा या तर्क है—'गरीबी हटाओ।' चेतना नहीं जागेगी तो गरीबी मिटेगी कैसे ? इतना प्रयत्न करने पर भी जब गरीबी नहीं मिट रही

है, रोटी की समस्या नहीं मिट रही है तो इसका भी कोई न कोई कारण यह है कि हम खंड में उलझ गए, अखंड को भुला दिया।

चेतना एक और अखंड है। चेतना के द्वारा ही ये सारी प्रवृत्तियां संचालित होती हैं। गरीबी का निर्माण भी चेतना के किसी कोण से हो रहा है तो गरीबी की समस्या का समाधान भी चेतना के किसी कोण से ही निकलेगा। हम मूल बात को भुला कर केवल बाहर सामने आने वाली समस्या को ही सुलझाने का प्रयत्न करे तो मूल समस्या का समाधान नहीं होगा। आज सबसे बडी समस्या है चेतना को जगाने की। चेतना को जगाने वाले आन्दोलन बहुत मंद गति से चलते हैं, उनका स्वर कहीं सुनाई ही नहीं देता, किन्तु गरीबी और रोटी की समस्या को सुलझाने वाले आन्दोलन बडी तीव्र गति से चलते हैं और अपनी नारेबाजी से सारे आकाश को गुंजा देते हैं। पर होता कुछ भी नहीं।

जिन लोगो ने रोटी की समस्या को सुलझाने के लिए जीवन प्रणालियो का परिवर्तन किया है, फिर चाहे वह सामाजवादी प्रणाली हो या साम्यवादी प्रणाली हो, प्रथम दर्शन मे लगता है कि रोटी की समस्या सुलझ गई है किन्तु जब भीतर् में प्रवेश करते हैं तो ऐसा अनुभव होता है कि रोटी की़ समस्या और उलझ गई है। आदमी रोटी खाते हुए भी अनुभव नहीं कर रहा है कि रोटी खा रहा है। उसे केवल यान्त्रिक चेतना का-सा अनुभव हो रहा है। ऐसा लगता है कि सवेगात्मक व्यवहार मन्द पड गए हैं।

जो व्यक्ति शराब पीता है, उसके सवेगात्मक व्यवहार मंद पड जाते हैं। शरीर लडखडाने लग जाता है। उसके सारी सेन्सरी सेंटर (sensory centre) निष्क्रिय हो जाते हैं। उसकी सारी सक्रियता समाप्त हो जाती है। जब तक शराब का नशा बना रहता है, प्रभाव बना रहता है तब तक सक्रियता नहीं रहती या मन्द पड जाती है। चेतना की सक्रियता को मन्द करने वाली जितनी समाधान की प्रक्रियाएं हैं, वे शायद एक बार आदमी को प्रलोभन मे डाल देती हैं, किन्तु अन्त तक उनका कोई प्रभाव होता दिखाई नहीं देता। ऐसी स्थिति मे चारो ओर भय का सृजन होता है और समूचे वातावरण मे भय ही भय दीखने लगता है।

भय का एक संवेग है। मनोविज्ञान की भाषा मे पलायन एक प्रवृत्ति है और उसका सवेग है भय। आदमी डरता है तो पलायन करता है। पलायन और भय—ये दोनों जुडे हुए हैं। भय का सीधा काम है पलायन करना। जब भय की स्थिति पैदा होती है तब आदमी दौडना चाहता है, बचना चाहता है। कभी-कभी नींद की अवस्था में आदमी किसी स्वप्न के कारण डरता है और तब उठकर भागने लग जाता है।

मुझे अपनी बात याद या रही है। मेरी अवस्था छोटी थी। मैं मुनि बन चुका था। एक दिन मै रात को बैठे-बैठे नींद ले रहा था। भींत का सहारा ले रखा था। अचानक एक मुनि आए, मुझे जगाया। मैं डर गया और वहां से दौड कर आंगन मे आ रुका। जानते हुए या जागृत अवस्था मे नहीं दौडा, नींद मे ही दौड पडा।

नींद में भी आदमी डरता है और उस भय से बच निकलना चाहता है। भय की स्थिति मे रहना कभी नहीं चाहता। वह भय से पार चला जाना चाहता है। स्वभाविक है। यही कारण है कि बहुत बार सुनते-पढते हैं कि अमुक का लडका या भाई घर से पलायन कर गया, अमुक की स्त्री या पति भाग गया। इस पलायन के पीछे भय ही मुख्य कारण बनता है, फिर चाहे वह भय मान-प्रतिष्ठा का हो या धन-दौलत का या प्रेम-परीक्षा का हो।

पलायन करना प्रवृत्ति है। कुत्ते को देखकर आदमी दौडता है और आदमी को देखकर कुत्ता दौडता। दोनों दौडते हैं। वह इससे और यह उससे डरता है। दोनो एक दूसरे से डरते हैं। कुत्ता इसलिए काटता है कि वह आदमी से डरता है और आदमी इसलिए दौडता है कि वह कुत्ते से डरता है।

भय का काम है पलायन कर जाना। भय के समय मे कुछ विशेष प्रकार की प्रतिक्रियाए होती हैं। भय के प्रतिरोध के लिए अधिक शक्ति जरूरी होती है। जिस समय भय का सवेग जागृत होता है उस समय एड्रीनल बहुत सक्रिय हो जाता है। अधिक शक्ति चाहिए। एड्रीनल का स्राव अतिरिक्त नहीं होता है तो शक्ति नहीं होती। जैसे-जैसे भय का संवेग बढता है, एड्रीनल का स्राव भी बढता है, उससे शक्ति बढती है और तब दौडने की, प्रतिरोध करने की भावना आ जाती है। यह अनुकूल तथ्य है कि भय की स्थिति मे जितनी शक्ति होती है, सामान्य अवस्था मे उतनी शक्ति नहीं होती। एक डरा हुआ आदमी जितनी अपनी शक्ति का प्रदर्शन कर सकता है, सामान्य अवस्था मे नहीं कर पाता। उस समय विचित्र शक्ति जाग जाती है।

एक व्यक्ति बैठा था। रात का समय। अन्धेरा गहरा हो रहा था। वह नींद लेने लगा। अचानक डर लगा। डर का आघात हुआ मस्तिष्क पर। दौरा पड गया। वह कहने लगा—देखो, देखो, उस कोने में भूत खडा है, इस कोने मे भूत है। वे सब मेरी ओर आ रहे हैं।' दूसरों ने समझाया—'कुछ नहीं है। शांत रहो।' वह समझा नहीं। उसी प्रकार भूत दीखने की बात करता रहा। उसका हाथ पकडकर उठाने का प्रयत्न किया। किन्तु उस समय उसके शरीर मे इतनी शक्ति आ गई थी कि दस आदमी भी उसे उठाने मे असमर्थ थे।

यह शक्ति कहां से आई ? न वहा कोई भूत था और न प्रेत। कुछ भी नहीं था। उस व्यक्ति का एड्रीनल ग्लैण्ड इतना सक्रिय हो गया कि उसका

दुःख पाना पडेगा। यह भय रचनात्मक नहीं होगा। यह भय और ज्यादा बीमारी को बढा देता है, उसे और ज्यादा कठिनाई मे डाल देता है। भय को रचनात्मक बनाएं। मौत से डरते हैं, मौत के कारणो से नहीं डरते। मौत से तो बडी घबराहट है। पर आपको यह तो पता है कि राग-द्वेष करने वाले की मौत जल्दी होती है। अकाल मृत्यु उस व्यक्ति की होती है जो अधिक राग-द्वेष करता है। अधिक आहार, बहुत ज्यादा खाना, बहुत ज्यादा नींद लेना, बहुत ज्यादा प्रमादी होना, बैठे ही रहना, बहुत आवेगशील होना, अधिक अहकार, अधिक गुस्सा, ईर्ष्या की भावना, द्वेष की भावना, मानसिक जलन—ये सारे अकाल मृत्यु के कारण हैं। अकाल मृत्यु के कारणो से तो नहीं डरते, मौत से डरते हैं। रचनात्मक भय वह होता है कि हम मृत्यु को असमय में लाने वाली प्रवृत्तियो से डरे। उनके प्रति जागरूक रहे, सावधान रहें कि हमारी जल्दी मृत्यु न आ सके। हमारा भय तब रचनात्मक हो जाता है।

अकीर्ति का भय हर आदमी को लगता है कि कहीं उसका अपयश न हो, अकीर्ति न हो। आदमी डरता है, बहुत सावधान रहता है, किन्तु अकीर्ति पैदा करने वाले कारणो से भय नहीं है। बडी विचित्र बात है। आचरण और व्यवहार तो वैसे है कि जिनसे अकीर्ति पैदा हो। भय इस बात का है कि अकीर्ति हो नहीं। आचरण भले ही अकीर्ति लाने वाले हो किन्तु अकीर्ति हो नहीं—इस बात का भय है। हमारा यह भय व्यर्थ का भय हो जाता है। यदि हम प्रवृत्ति से बचें, अकीर्ति लाने वाले कारणो से बचे तो हमारा भय रचनात्मक बन जाता है।

भय को रचनात्मक बनाने के लिए सूक्ष्म भेद-रेखा पर भी हमें ध्यान केन्द्रित करना होगा। और वह सूक्ष्म भेद-रेखा यह है कि भय से सुरक्षा रखना और भय के कारणो से बचना दोनो एक बात नहीं है। दो बाते हैं। एक भय और एक सावधानी बरतना कि भय पैदा न हो, एक बात नहीं है। यदि हम मान लें कि भय बुरा है तो सुरक्षात्मक व्यवस्था ही लडखडा जाती है। व्यक्ति की सुरक्षा, परिवार की सुरक्षा, समाज की सुरक्षा और राष्ट्र की सुरक्षा—सारी सुरक्षात्मक व्यवस्थाएं अस्त-व्यस्त हो जाती हैं। सुरक्षात्मक व्यवस्था के लिए भय होता है, किन्तु वह रचनात्मक भय होगा, ध्वंसात्मक नहीं होगा। उसमें सूक्ष्म भेद-रेखा है कि सुरक्षा के लिए यह सब कुछ हो रहा है, किसी ध्वस के लिए नहीं हो रहा है।

सामने आग है। व्यक्ति आग पर अपना पैर नहीं रखता। भय तो मान सकते हैं कि व्यक्ति इस भय से पैर नहीं रख रहा है कि पैर रखने पर जल जाएगा। भय तो मान सकते हैं किन्तु वह भय विध्वंसात्मक भय नहीं है, रचनात्मक भय है, सुरक्षात्मक भय है।

एक व्यक्ति से पूछा, जो बर्फ का कारखाना चला रहा था, आप जाडे के दिनो मे क्या करते है ? गर्मी के दिनो मे तो बहुत वर्फ पैदा होती है। खूब बर्फ चलती है। पर सर्दी के दिनो मे आप क्या करते है ?

उत्तर दिया—गर्मी के दिनो मे बर्फ बनाता हूं और सर्दी के दिनो मे वर्फ खाता हूं।

बिलकुल ठीक उत्तर था। सर्दी के दिनो में कारखाना तो नहीं चलता पर गर्मी के दिनो में जो आय होती है, वह सर्दी के दिनो मे बैठा-बैठा खाता हू। गर्मी मे बर्फ बनाता हूं और सर्दी मे वह मुझे बचाती है, मेरी रक्षा करती है। आदमी सुरक्षात्मक उपाय तो करता ही है और उस सुरक्षात्मक उपाय को ध्वंसात्मक नहीं कहा जा सकता। सुरक्षा है। प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको भय और भय के साधनो से, निमित्तो से बचाता है। कोई भी समझदार आदमी जान-बूझकर साप पर पैर नहीं रखता, कोई भी आदमी जान-बूझकर विष नहीं खाता। इस सुरक्षात्मक उपाय को ध्वसात्मक भय नहीं मान सकते। वह रचनात्मक भय हो जाता है और वह भय और अभय की बीच की सध्या बन जाती है।

मुझे याद है अपने जीवन की एक घटना। मैं तेरह वर्ष का था। पूज्य कालूगणीजी मोमासर मे विराज रहे थे। मैं और मेरे सहपाठी मुनि बुद्धमल्लजी दोनो पूज्य कालूगणी की उपासना मे थे। पूज्य कालूगणीजी ने हमें यह दोहा सिखाया—

"हर डर, गुरु डर, गांव डर, डर करणी मे सार।
तुलसी डरै सो ऊबरै, गाफिल खावे मार।।"

आपने अर्थ बताते हुए कहा—हर डर अर्थात् भगवान् से डरो, गुरु डर—गुरु से डरो, गांव डर—गांव से डरो, डर करणी मे सार—भय निकम्मा नहीं है, भय मे बहुत सार है, सारभूत वस्तु है। 'तुलसी डरै सो ऊबरै, गाफिल खावै मार।' जो डरता है वह बच जाता है, जो नहीं डरता वह मार खाता है।

हमने सोचा, बहुत काम की बात बताई। मुनि तुलसी के पास पढते हैं और तुलसी से वैसे ही बहुत डरते है। उनके पास पूज्य कालूगणी ने भी कह दिया—तुलसी डरै सो ऊबरे---तुलसी से डरता है, उबर जाता है। और गाफिल मार खा जाता है। हमे नहीं पता था कि तुलसी का मतलब सत तुलसीदास से है। तुलसीदास का यह दोहा है। हमने यही समझा और वर्षो तक यही समझते रहे कि तुलसी (मुनि तुलसी) से डरने वाला उबर जाता है और जो तुलसी से नहीं डरता वह मार खाता है। मैं समझता हूं इस दोहे ने मेरे और मेरे सहपाठी बुद्धमल्ल—दोनो के जीवन का निर्माण किया।

मैं यह मानता हूं कि जो भय रचनात्मक होता है, वह जीवन का निर्माणकारी होता है। मैं जो सारी चर्चा कर रहा हू कि अभय बनो, डरना नहीं है, भय से मुक्त होना है, उसका तात्पर्य है ध्वंसात्मक भय से बचे। मैं शुद्ध अभय की चर्चा भी करना चाहता हू। हमे शुद्ध अभय बनना है। अभय की भूमिका तक पहुंचना है और उस भूमिका तक पहुचना है जहां शुद्ध आध्यात्मिक चेतना जाग जाए, सारे भय विलीन हो जाए। हमारी सारी प्रेरणाए, अन्तः प्रेरणाएं ये सारी की सारी अध्यात्म मे से स्फूर्त हो, कहीं भी बाहर से प्रभावित न हो, सारी उद्दीपक सामग्रियां, सारे निमित्त और सारे हेतु विलीन हो जाए। अध्यात्म चेतना के द्वारा हमारे जीवन का क्षण-क्षण सचालित हो। उस भूमिका पर हमें पहुंचना है, किन्तु बचपन को भी मैं जानता हूं, यौवन को भी और प्रौढ को भी मैं जानता हू। अभी हम बचपन की भूमिका मे जी रहे हैं और वहा आध्यात्मिक प्रेरणा की बात करूं तो स्वाभाविक नहीं होगी, प्रासगिक नहीं होगी। प्रासगिक यही है कि उस बचपन की भूमिका में रचनात्मक भय का आलम्बन होता है, यौवन की अवस्था मे—जो साधना का यौवन है उसमें रचनात्मक भय से भी ऊपर उठकर और शुद्ध अभय की भूमिका मे आरोहरण कर देते हैं। और जब अध्यात्म के शिखर पर हमारे पैर, हमारे चरण संचालित होते है वहा शुद्ध अध्यात्म की चेतना जाग जाती है, भय सर्वथा समाप्त हो जाता है और केवल बचता है अभय, अभय की मुद्रा, अभय का हाव-भाव, अभय की अन्त.स्रोतस्विनी, सब कुछ अभय ही अभय।

सभी लोग अभय की चेतना को जगाना चाहते हैं। पर प्रश्न है, यह कैसे जागे?

हमारे शरीर में दो तंत्र हैं—एक नाडी-संस्थान और दूसरा ग्रन्थि-सस्थान। हमारा सारा जीवन उनके द्वारा, नाडी संस्थान और ग्रथि संस्थान के द्वारा, संचालित है। बाहर की परिस्थिति और आन्तरिक रसायन—इनसे हम प्रभावित होते हैं। यद्यपि यह माना जाता है कि जैसी परिस्थिति होती है वैसा आदमी बनता है, यह सचाई भी हो सकती है किन्तु यह अधूरी सचाई है। पूरी सचाई यह है कि परिस्थिति और रसायन दोनो का योग होता है, वैसा आदमी बनता है। परिस्थिति को परिष्कृत करने के उपाय भी हम करते हैं। परिस्थिति को बदलने के उपाय भी करते है, किन्तु काम बनता नहीं। जब तक भीतरी रसायनो को बदलने का काम नहीं होता तब तक पूरा काम नहीं होता। हम

ज्यादा प्रभावित हैं अपने भीतरी रसायनो से, हमारे अन्दर से स्रवित होने वाले रसायनों से और वे रसायन बदलते हैं, प्रभावित होते हैं तो हम परिस्थिति को लांघकर भी जा सकते हैं, उसका अतिक्रमण भी कर सकते हैं। और जब वे रसायन अनुकूल नहीं होते तब परिस्थिति भी हमे प्रभावित कर सकती है, बाधित कर सकती है। प्रेक्षाध्यान का अभ्यास करने वाले व्यक्ति इस सच्चाई का अनुभव करे कि वास्तविकता यह है कि रसायनों को बदलने का उपक्रम करे। आज इस वैज्ञानिक युग मे ध्यान करना केवल अन्धकार में ढेला फेकना नहीं होना चाहिए। इतना विज्ञान का विकास हो चुका है, उसके सन्दर्भ को छोडकर और केवल अंधेरे में चलते चलें, चलते चले और सन्तोष मानते जाएं, यह सभव नहीं लगता। कल ही हमारी प्रोफेसर शर्मा से बाते हो रही थी। वे एन०सी०ई०आर०टी० मे एजूकेशनल साइकोलोजी के प्रोफेसर एवं हेड हैं। डॉक्टर टी० भाटिया भी थे। बात चली। उन्होंने कहा कि ध्यान के बारे मे हमारे सामने कई स्थितियां आती हैं और अधिकांश परिणाम की बात यह आती है कि तापमान कम हो गया, ब्लड-प्रेसर की बीमारी ठीक हुई, वजन घटा या बढा, इस प्रकार के परिणाम सामने आते हैं। मैंने कहा—हम लोग ध्यान को चिकित्सा का साधन नहीं मानते। हम शिविर को चिकित्सालय नहीं मानते। हम स्वीकार करते हैं कि रोग भी ठीक होता है, शारीरिक बीमारी ठीक होती है, किन्तु इसे गौण मानते हैं। हमारा मुख्य उद्देश्य है भाव-परिवर्तन। जब तक भाव-परिवर्तन नहीं होता तब तक ध्यान की निष्पत्ति हमारी दृष्टि मे नहीं है। हमारे भाव बदलने चाहिए। हिंसा के भाव, उद्दडता के भाव, उच्छृखलता के भाव, क्रूरता के भाव—हमारे जो भाव हैं, वे भाव बदलने चाहिए। अगर भाव में परिवर्तन नहीं होता है तो मैं समझता हू कि ध्यान की निष्पत्ति पूरी नहीं होती। उपायो के द्वारा भाव-परिवर्तन किया जा सकता है। ध्यान की ऐसी पद्धतिया हैं, जिनके द्वारा भाव का परिवर्तन किया जा सकता है। ज्योतिकेन्द्र पर ध्यान होता है, क्रोध का भाव बदल जाता है। दर्शन केन्द्र पर ध्यान होता है, मोह का भाव बदल जाता है, अन्तर्-दृष्टि जाग जाती है। हमारा 'फ्रटल लोब' इतना महत्त्वपूर्ण है कि सारे भावो का नियन्त्रण कर रहा है। हमारे सारे भावो का नियंत्रक है—हाइपोथेलेमस। हाइपोथेलेमस पीनीयल और पिच्यूटरी पर नियंत्रण कर रहा है। पिट्यूटरी सारी ग्रन्थियो पर नियत्रण कर रही है। हमे भाव-परिवर्तन की प्रक्रिया में जाना है तो मस्तिष्क,

ललाट और मस्तिष्क का अगला हिस्सा—इस भाग पर ध्यान केन्द्रित करना होगा। इस पर ध्यान केन्द्रत किए बिना भावो को नहीं बदला जा सकता। यदि नाभि पर ध्यान केन्द्रित करते है, तैजसकेन्द्र पर ध्यान करते हैं तो उत्तेजना बढती है, प्राणशक्ति बढती है इसमे कोई सदेह नहीं। प्राण-विद्युत् का विकास हो सकता है किन्तु साथ-साथ मे आवेगो का विकास भी हो सकता है। एड्रीनल का काम है सारे आवेगो को जन्म देना।

इन सारी वृत्तियो, संज्ञाओ और आवेगो पर नियंत्रण पाया जा सकता है। शक्ति-केन्द्र, ज्योति-केन्द्र और दर्शन-केन्द्र—भृकुटि से लेकर सिर के अगले भाग तक जो ये तीन केन्द्र हैं, ये सारे भाव-परिवर्तन के लिए जिम्मेदार हैं। बुरे भाव होते हैं तो यहीं से स्रवित होते है, अच्छे भाव पैदा होते हैं तो यहीं से स्रवित होते हैं। हम मानते है कि बुरे भावो को बदला जा सकता है। लेश्या ध्यान जैन साधना पद्धति की एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। रगो का विभिन्न प्रकार से ध्यान करने पर विभिन्न प्रकार के मनोभाव बदल जाते है। 'कलर थेरापी' ने आज रंगो के महत्त्व पर बहुत प्रकाश डाला है। विदेशो मे इस पर बहुत काम हो रहा है और बहुत साहित्य निकल रहा है। हमारे यहां प्राकृतिक चिकित्सा में भी रंग-चिकित्सा, सूर्य रश्मि-चिकित्सा का स्थान है। किन्तु ध्यान की प्रक्रिया के साथ लेश्याध्यान और रगो के ध्यान की प्रक्रिया का प्रेक्षा-ध्यान की पद्धति मे जो विकास हुआ है, उसे मैं बहुत महत्त्व देता हूं। प्रेक्षा-ध्यान के सारे प्रयोग अभय की चेतना को जगाने के प्रयोग हैं।

अभय की मुद्रा

कुछ बाहर मे होता है, कुछ भीतर में होता है। हम बाहर और भीतर–दो हिस्सो मे बटे हुए हैं। बाहर का स्पष्ट दीखता है, भीतर का दीखता नहीं, अनुभव होता है, पता चलता है। हमारी मुद्रा होती है बाहर मे। कैसे बैठते हैं, हाथ कैसे हैं, मुंह कैसे है, आकृति कैसी है, व्यंजना कैसी है, अंगुलिया कैसी हैं–ये सारी बाते मुद्रा से सम्बन्ध रखती है। एक होती है भाव-मुद्रा और दूसरी होती है भाव-धारा|दोनो मे बहुत गहरा संबध है। जैसी भाव-धारा होती हे वैसी भाव-मुद्रा बन जाती है। मुद्रा का निर्माण करती है भाव-धारा। क्रोध का भाव जागा, क्रोध की मुद्रा बन जाएगी। बताना नहीं पडता, आदमी क्रोध मे है। मुद्रा देखते ही पता चल जाता है कि अभी क्रोध मे है। स्वयं मुद्रा सूचना दे देती है।

काव्य-शास्त्र मे इस भाव-धारा का बहुत विशद विवेचना हुआ है। तीन भावधाराएं हैं–स्थायीभाव, सात्त्विकभाव और संचारीभाव। किस मुद्रा मे कौन-से भाव जन्म लेते हैं ? व्यक्ति किस रूप में प्रकट होता है ? यह सारा ज्ञात हो जाता है। श्रृंगार-रस की एक मुद्रा होती है, करुण-रस की दूसरी मुद्रा होती है, बीभत्स-रस की तीसरी मुद्रा होती है, रौद्र-रस की चौथी मुद्रा होती है, शात-रस की पाचवीं मुद्रा होती है। अलग-अलग मुद्राएं होती हैं। प्रत्येक भाव और प्रत्येक रस की भिन्न-भिन्न मुद्रा होती है। रसानुभूति, भावानुभूति और मुद्रा सब जुडे हुए है। हमारी मुद्रा का सबध भाव से जुडा हुआ है। भय की भाव-धारा होती हे तो एक प्रकार की मुद्रा बनती है। डरा हुआ आदमी सिकुड जाता है। चेहरा सिकुडता भी है और फैलता भी है। हमारा शरीर सिकुडता भी है और फैलता भी है। भय से सिकुडता है और हर्ष से फैल जाता है। हर्षोत्फुल्ल मुख फूल की भाति खिल जाता है, भयभीत मुख बिलकुल सिकुड जाता है। ऐसा लगता है कि बिलकुल पतला-दुबला हो गया है। भय मुद्रा होती है, उस समय बाहरी आकृति मे जो परिवर्तन होते हैं वे हमारे सामने स्पष्ट हैं। अन्तर के अवयवो में भी परिवर्तन होते हैं। हृदय की धडकन तेज हो जाती है, रक्तचाप बढ जाता है, गला सूख जाता है, लार टपकाने वाली ग्रन्थियां निष्क्रिय बन जाती है। मुख सूखने लग जाता है। आमाशय और आते सिकुड जाती है, भूख भी कम हो जाती है। जो आदमी रोज डरा-डरा रहता

है उसकी भूख भी कम हो जाती है। त्वचा की सवाहिता में अन्तर आ जाता है, त्वचा सूक्ष्मग्राही बन जाती है।

किसी आदमी ने झूठ बोला, किसी ने अपराध किया, न्यायाधीश के सामने उपस्थित किया। उसे डर है कि मेरा झूठ पकडा न जाए। अब न्याय करने वालो को कैसे पता चले कि यह झूठ बोल रहा है ? उन्हे कैसे पता चले कि इसने अपराध किया है ? आजकल कुछ यत्रो का विकास हुआ है। अपराधी खडा है और यत्र चल रहा है—गेल्वेनोमीटर। सूई घूम रही है। यंत्र लगा दिया गया है। अब उसके मन मे है, कहीं पकडा न जाऊ। भय से उत्तेजना है अन्तर् अवयवो मे। उत्तेजना पैदा हो गई। वह गेल्वेनोमीटर बता देता कि यह झूठ बोल रहा है। वह बता देगा कि इसने अपराध किया है। यह सारा होता है त्वचा-संवाहिता के द्वारा। त्वचा-सवाहिता का मापन होता है और इस सचाई का पता चल जाता है। क्रोध का सवेग, भय का सवेग या दूसरा किसी भी प्रकार का सवेग हो, सवेग की अवस्था मे हमारी बाहर की मुद्रा भी भिन्न बन जाती है। दोनो का पता लगाया जा सकता है। एक आदमी एक दिन में शायद सैकडो-सैकडों मुद्राए बना लेता है। यदि कोई सूक्ष्म यत्र या ऐसा सवेदनशील 'कैमरा' हो 'हाइफ्रिक्वेसी' का, तो प्रत्येक मुद्रा का भेद मापा जा सकता है। पाच मिनट पहले जो मुद्रा थी, पाच मिनट बाद वह रहने वाली नहीं है। जैसे-जैसे भीतर मे भाव बदलेगा और तत्काल मुद्रा मे परिवर्तन आ जाएगा। और इसी आधार पर मुखाकृति-विज्ञान का विकास हुआ है। आकृति-विज्ञान के आधार पर मनुष्य की सारी चेष्टाओ को बताया जा सकता है, उसके भविष्य का भी निर्धारण किया जा सकता है।

भय एक संवेग है, तीव्र सवेग है। जब भय की स्थिति होती है उस समय आदमी की मुद्रा दु खद होती है, और अशाति पैदा करने वाली होती है। डरे हुए आदमी के पास कोई दूसरा जाकर बैठेगा, उसके मन मे भी अचानक बेचैनी पैदा हो जाएगी। यह क्यों हुआ ? कैसे हुआ ? उसे पता नहीं चलेगा, पर वह बेचैन बन जाएगा।

अभय का भाव जब-जब जागता है, तब-तब अभय की मुद्रा का निर्माण होता है। अभय की मुद्रा का बाहरी लक्षण है—प्रफुल्लता। चेहरा खिल जाएगा। बिलकुल प्रसन्नता। कोई समस्या नजर नहीं आती, कोई तनाव नहीं होता। भीतर मे बिलकुल शाति। जब भय की भावधारा होती है तो हमारा सिम्पथैटिक नर्वस-सिस्टम सक्रिय होता है यानी पिंगला सक्रिय हो जाती है और जब अभय की भावधारा होती है तो पैरा-सिम्पेथेटिक नर्वस-सिस्टम सक्रिय हो जाता है, इडा नाडी का प्रवाह सक्रिय हो जाता है। उस समय कोई उत्तेजना नहीं होती,

शांति और सुख का अनुभव होता है। सब कुछ अच्छा लगता है।

प्रश्न है—हम अधिक से अधिक अभय की मुद्रा मे कैसे रह सकें ? अधिक से अधिक अभय की भावधारा को कैसे प्रवाहित कर सके ? अधिक से अधिक अभय को कैसे अनुभूत कर सके ? यह हमारे सामने प्रश्न है। हमने भय की भी चर्चा की और अभय की भी। भय हेय है और अभय उपादेय। हमे भय की भावधारा को त्यागना है और अभय की भावधारा को विकसित करना है। इसके लिए तीन साधन अपेक्षित है—उपाय, मार्ग और साधन। अभय का विकास उपाय के बिना सभव नहीं, मार्ग और साधन के बिना सम्भव नहीं। खोज होगी उपाय की, मार्ग की और साधन की।

एक उपाय है—अनुप्रेक्षा। अनुप्रेक्षा के द्वारा अभय की भावधारा को विकसित किया जा सकता है। शब्द की प्रणालियां हमारे शरीर के भीतर बनी हुई है। ये रास्ते, पगडंडियां, राजपथ हमारे शरीर मे बने हुए हैं, जिनके माध्यम से तरगे हमारे पूरे शरीर मे व्याप्त हो जाती हैं और हमे प्रभावित करती है। तरंग का सिद्धांत बहुत व्यापक सिद्धांत है। 'क्वान्टम थ्योरी' का विकास हुआ तब से नहीं, किन्तु ढाई हज़ार, तीन हजार वर्ष पहले से यह प्रकम्पन का सिद्धांत प्रस्थापित है कि ससार मे सब कुछ प्रकम्पन ही प्रकम्पन है, सब कुछ तरग ही तरंग है। भय की तरग उठी और भय के प्रकम्पन शुरू हो गए। यदि उस समय अभय की तरंग को उठा सके, अभय के प्रकम्पनो को पैदा कर सके तो भय की तरंग वहीं समाप्त हो जाएगी। यह अनुप्रेक्षा का सिद्धात उस प्रतिपक्ष का सिद्धात है कि एक तरंग के द्वारा दूसरी तरंग की शक्ति को निरस्त किया जा सकता है और अच्छी तरंग को उठाया जा सकता है, बुरी को निरस्त किया जा सकता है। बुरी तरग को पैदा किया जा सकता है, अच्छी तरंग को निरस्त किया जा सकता है। हमारे पुरुषार्थ पर, हमारे ग्रहण पर और हमारी दृष्टि पर यह निर्भर है कि हम किस समय क्या करते है और कैसा हमारा प्रयत्न होता है ? जिस व्यक्ति ने प्रेक्षाध्यान का प्रयोग किया है, जिसने इस सचाई को समझा है कि शुभभाव की तरंग के द्वारा अशुभ की तरगो को, विधायक तरगो के द्वारा निषेधक तरंगो को नष्ट किया जा सकता है, वह इसके लिए बहुत जागरूक हो जाता है कि जब भी मन मे कोई बुरा विकल्प उठे, मन मे बुरा विचार आए, तत्काल शुभ भाव की तरंग को पैदा कर दे।

तीन अवस्थाएं होती है। एक है असत् भाव की अवस्था, दूसरी है सत् भाव की अवस्था और तीसरी है—सत्-असत्—दोनो भावो से अतीत अवस्था। एक है असत् भाव की अवस्था जो 'निगेटिव' है। दूसरी है सत् भाव की

अवस्था जो विधायक भाव की अवस्था है और तीसरी दोनों से परे जिसमें न कोई निषेधात्मक भाव है, न कोई विधायक भाव है, निर्विकल्प और निर्विचार अवस्था। यह बहुत सुन्दर अवस्था है, बहुत आगे की बात है। किन्तु सामान्यत हमारा जीवन इन असत् और सत् की भावधाराओ के बीच में चलता है। कभी असत् की तरंग उठती है तो कभी सत् की तरंग उठती है। जैसे-जैसे हमारी भाव-क्रिया प्रबल होती है, जैसे-जैसे हमारा वर्तमान में रहने का अभ्यास शक्तिशाली बनता है, जैसे-जैसे हम प्रेक्षा के प्रति सावधान और जागरूक होते हैं और निरन्तर जागरूकता का अभ्यास करते हैं, वैसे-वैसे ही मस्तिष्क में उठने वाली अशुभ भाव की तरंगों का पता लगने लग जाता है कि अब अशुभ भाव की तरंग उठ रही है। उस समय तत्काल शुभ भाव की तरंग पैदा कर देते हैं। अनुप्रेक्षा शुरू कर देते हैं तो अशुभ भाव की तरंग दब जाती है, शांत हो जाती है।

अनुप्रेक्षा का प्रयोग बहुत महत्त्वपूर्ण है असत् से बचने के लिए। सारा जप का विकास इसी आधार पर हुआ है। अनुप्रेक्षा के सिद्धात के आधार पर जप का विकास हुआ है। इष्ट का जप करो, मन्त्र का जप करो, क्योकि शुभ भाव और शुभ विचार तुम्हारे मन मे रहेगा तो अशुभ भाव को जागने का मौका नहीं मिलेगा। इसीलिए मन्त्र का आलम्बन लिया गया। कुछ लोग अध्यात्म साधना के क्षेत्र मे मन्त्र की उपयोगिता नहीं मानते। पर हमारा विश्वास है कि मंत्र की भी बहुत बडी उपयोगिता है, उसे नकारा नहीं जा सकता, अस्वीकार नहीं किया या सकता, क्योकि हम सीधे वीतराग तो बन नहीं सकते। सीधे छलाग वाली बात बहुत कम घटित होती है। कोई व्यक्ति ऐसा हो सकता है कि सीधी छलांग लगा सकता है। कोई-कोई ऐसा हो सकता है कि छत पर से सीधे नीचे छलाग लगा सकता है। पर हर कोई लगाने लग जाए तो सीढियो की जरूरत क्या है ? फिर सीढियां लगानी निरर्थक है। पर सब छलागे लगाने लग जाएगे तो शायद हॉस्पीटल मे स्थान भी खाली नहीं मिलेगा। बडी मुसीबत पैदा हो जाएगी। छलांग की बात सार्वजनिक बात नहीं हो सकती। कदाचित् हो सकती है, अपवादस्वरूप हो सकती है। सीधे वीतराग की भूमिका मे चले जाने की बात एक छलाग की बात है। हमें सीढियो के सहारे चलना पडेगा। आदमी सीढी के सहारे चढेगा, ऊपर पहुंचेगा। सीढियो मे दोनो बाते होती हैं। एक ही सीढी बनी हुई है। ऐसा नहीं होता कि ऊपर जाने के लिए सीढिया अलग बनती हैं और नीचे आ जाने के लिए सीढिया अलग बनती हैं। उसी सीढी से ऊपर चढा जा सकता है और उसी सीढी से नीचे आया जा सकता है और उसी भावधारा से नीचे उतरा जा सकता है।

हमारी भावधारा जब सत् के साथ जुडती है तब हम ऊपर चढ सकते हैं, हमारा आरोहण हो सकता है। ज्योंही भावधारा असत् के साथ जुडती है तब अवरोहण शुरू हो जाता है, आदमी नीचे उतर आता है। जप का विकास, मन्त्र का विकास, इसी भावना पर हुआ था कि एक ऐसा आलम्बन बना रहे जिससे बुरे भावो को आने का अवसर कम से कम मिले।

अभय का दूसरा साधन है--प्रेक्षा। जैसे-जैसे देखने की शक्ति का विकास होता है, हमारी दृष्टि सत्याग्रही बन जाती है। डर जितना भी लगता है वह असत्य के कारण लगता है। चाहे असत्य मान्यता, असत्य का सिद्धात, असत्य की धारणा, असत्य का संकल्प--जो भी असत्य का पक्ष है वह सारा भय पैदा करने वाला है। जैसे-जैसे दर्शन की शक्ति विकसित होती है और सचाई के निकट जाते हैं, कल्पनाओ से दूर हटते हैं, हमारी शक्ति बढ़ती जाती है और भय अपने आप कम होता जाता है। यथार्थ मे भय होता नहीं। भय मूर्च्छा मे होता है, असत्य मे होता है। प्रेक्षा के द्वारा हमारी मूर्च्छा का चक्र टूटता है और जब मूर्च्छा का चक्र टूटता है तो भय अपने आप समाप्त हो जाता है।

प्रेक्षा, अनुप्रेक्षा, मन्त्र का जप--ये सारे साधन विकसित हुए अभय के विकास के लिए। प्रत्येक परम्परा मे--जैन परम्परा, वैदिक परम्परा, बौद्ध परम्परा--सब मे भय का निवारण करने वाले मन्त्रों का विकास हुआ और बहुत सारे मन्त्र जपे जाते है भय को दूर करने के लिए। कुछ लोग सोते-सोते डर जाते हैं। कुछ लोग रात को डरावने स्वप्न देखते है, डर जाते हैं। कुछ लोग अकारण ही डर जाते हैं। इन अवस्थाओ से बचने के लिए सैकड़ों-सैकडो 'अभय मन्त्रो' का विकास हुआ है और उनका बहुत प्रयोग भी होता है, परिणाम भी आता है और मन.स्थिति बदल जाती है। औषधियों का विकास भी हुआ है। ऐसी भी औषधियां हैं, जडिया हैं, कितना भी भय लगे जडी को सिराहने रख दो, बुरे स्वप्न आने बन्द हो जाएगे। जडियों का विकास, मन्त्रों का विकास और प्रयोग इस दिशा मे हुआ और उसके परिणाम भी अच्छे आए।

अभय का एक और महत्त्वपूर्ण उपाय है। उसका सम्बन्ध है हमारे चरित्र से, व्यवहार से। भय पैदा होता है हिसा से, असत्य से और संग्रह से। ये तीन बडे कारण है जो हमारे चरित्र से सम्बन्ध रखते हैं। हर आदमी अनुभव करता होगा कि सग्रह के कारण कितना भय पैदा होता है ? बाहर गये और ध्यान आया कि कमरे के तो ताला ही नहीं लगाया है, अलमारी खुली रह गई है, वह बीच मे ही दौड पडता है वापस। कहीं कोई पहले न पहुंच जाए। कोई बाहर से नहीं, घर का आदमी भी भीतर न घुस जाए। वह डर जाता है। लौटता है और संभालता है। क्यो डरा ? कोई डराने वाला तो नहीं था।

किन्तु संग्रह के प्रति इतनी घनी मूर्च्छा है कि जितना अर्जित किया है उसमें एक राई भी, पाई भर भी कम न हो जाए। बहुत लोग शायद अपनी सम्पत्ति का उपभोग भी नहीं करते, किन्तु दीपवाली, रामनवमी या जो अपना एक समय है वर्ष का लेखा-जोखा करने का, तो खाते में देखते हैं कि पास मे इतनी पूंजी जमा है तो इतने गहरे हर्ष का अनुभव होता है कि शायद जीवन मे कभी नहीं होता, बहुत सतुष्टि मिलती है। बस, उतनी-सी संतुष्टि कि मेरे पास है। इसका और कोई अर्थ नहीं, पीछे भी कोई अर्थ नहीं, कोई उपयोग नहीं, किन्तु मेरे पास है, यह भाव ही इतना प्रफुल्ल बना देता है आदमी को कि वह सब कुछ मान लेता है। और वही भाव कि 'मेरे पास है' आदमी मे इतना भय पैदा करता है कि रात और दिन भय से आक्रांत होता है। मुनीम धोखा न दे दे, भाई धोखा न दे दे, बाप धोखा न दे दे। निरन्तर यह सताता रहता है। एक मानसिक दृष्टि है कि 'मेरे पास है' और मेरे पास जो है वह कहीं चला न जाए, यह भय भी रहता है। शायद मानसिक तुष्टि तो कभी-कभी होती है पर भय का भाव तो चौबीस घटो ही बना रहता है। सग्रह भय का सबसे बडा निमित्त है।

असत्य भय का बहुत बडा निमित्त है। झूठ बोलते समय तो शायद एक मिनट लगता है। आदमी एक मिनट मे झूठ बोल देता है। किन्तु झूठ बोलने के बाद, कई दिनो तक भय नहीं मिटता कि कहीं पता न लग जाए, सरक्षक को पता न लग जाए, हमेशा भय बना रहता है मन मे।

हिंसा भी भय की भावना है। हिंसा, असत्य और सग्रह—जब तक इनमे, इनके प्रति आसक्ति मे, कमी नहीं होती, अभय की अनुप्रेक्षा कर लेने पर भी अभय का विकास हो जाये, इसमे मुझे संदेह है। यानी रचनात्मक अभय का विकास नहीं हो पाता, ध्वसात्मक अभय का तो हो सकता है। इतना निडर बन जाए कि किसी से भी नहीं डरता, यह तो हो सकता है और अनर्थकारी भाव पैदा हो सकता है। किन्तु रचनात्मक अभय पैदा हो जाए इसमे मुझे सदेह है। मैंने दो दिन बाबा नागपाल से बहुत बाते की। मैंने एक विचित्र बात देखी कि शक्ति की उपासना है, सब कुछ है फिर भी एकमात्र स्वर है चरित्र का। चरित्र का विकास होना चाहिए। इसके सिवा दूसरी बात ही नहीं है। कहते है कि मैं तो किसी को भी न तो ताबीज देता हूं, न गडा देता हू, कुछ भी नहीं। सबको कहता हू—आहार शुद्ध करो, व्यवहार शुद्ध करो। इसके बिना कुछ भी नहीं होगा। बहुत बडी बात कहते हैं।

जैन परम्परा मे एक आचार्य हुए हैं—आनन्दघनजी। बहुत बडे साधक थे गुजरात के। बहुत बडे योगी। इतनी सिद्धिया उन्हे प्राप्त थीं कि लोग पीछा

नहीं छोडते थे। जहां जाते भीड इकट्ठी हो जाती। राजा, प्रजा सब लोग इकट्ठे हो जाते। पता चलता कि आनन्दघनजी के पास तो स्वर्णसिद्धि है, सोना बनाने की सिद्धि है, हजारो लोग उनके पास आने लगे। भीड बनी की बनी रहती। आराम लेने को क्षण भी नहीं मिलता। हर कोई चाहता कि मुझे सोना मिले, मै सोना बना लू। बडी मुसीबत हो गयी। वे जगल मे चले गए, फिर भी लोग पीछे लगे रहे। कोई आदमी आता कि महाराज, लडका नहीं है, कोई कहता धन नहीं है, इस प्रकार सैकडो-सैकडो समस्याएं लेकर लोग आते। क्या करे? पीछा छुडाने के लिए कुछ लिखकर देते और कहते—देखो, इस पुडिया को खोलना मत। साथ-साथ जो मैं कहूं, उस पथ्य का पालन भी करना। जब आदमी स्वीकार कर लेता, तब कहते—देखो ! अगर तुम सफलता चाहते हो तो छह महीने तक या बारह महीने झूठ नहीं बोल सकते। अब्रह्मचर्य का सेवन नहीं कर सकते, चोरी नहीं कर सकते। इस प्रकार पाचो अणुव्रतो की दीक्षा दे देते—अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का अणुव्रत। ध्यान रखना, अगर इसमें चूक हुई तो तुम्हारा काम नहीं होगा। अगर इसमे चूक न हो तो मेरे पास आ जाना। अब छह महीने, बारह महीने मे भावना पूरी हो जाती। वह आता और कहता—महाराज ! आपने बडी कृपा की। मेरा काम सफल हो गया। वे हंसते और कहते—सफल किससे हुए ? मैने तो सिर्फ लिखा था—'तुम जानो तुम्हारा भाग्य जाने, मुझे क्या लेना देना।' इससे तुम्हारा काम हो गया। तुमने स्वयं चरित्र का पालन किया, स्वयं ने व्यवहार का परिष्कार किया, स्वयं ने आहार की शुद्धि की और काम बन गया।

काम करने वाली शक्ति तो हमारे चरित्र की शक्ति है, हमारे चरित्र का बल है और वह बल जैसे-जैसे बढता है आदमी मे अभय का विकास होता है। जब अभय का बल बढता है तो अनेक मनोकामनाए मनुष्य की, जाने-अनजाने मे पूरी हो जाती है। मनोकामना की पूर्ति मे सबसे बडी बाधा भय है, सबसे बडी बाधा आशंका है और सबसे बडी बाधा सन्देह है। कोई काम शुरू करते हैं कि यह काम मेरा होना चाहिए, तत्काल मन मे आता है—अरे भई ! मैंने सोचा तो है पर होगा या नहीं होगा ? क्या यह हो जाएगा ? दसो लोगों से पूछता है, मैने यह बात सोची है, क्या पूरी हो जाएगी ? मन मे सदेह, मन में आशका, मन मे दुर्बलता और कभी भय भी लगने लग जाता है कि मैंने यह बात कह तो दी लोगो को, अगर पूरी नहीं हुई तो बडी भद्दी लगेगी। भय से घिरा हुआ आदमी, आशंका से घिरा हुआ आदमी असफल तो पहले कदम मे हो जाता है। फिर उसे क्या सफलता मिलेगी।

सफलता का सबसे बडा सूत्र है--चरित्र का विकास और चरित्र-विकास के ये तीन बडे स्तम्भ है--अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह।

हम अभय की मुद्रा का विकास करना चाहे तो अहिंसा का विकास करे। अहिंसा अभय की एक मुद्रा है। सत्य का विकास करें, सत्य अभय की एक मुद्रा है। असंग्रह का विकास करे, असग्रह अभय की एक मुद्रा है। जिसके अन्त करण मे ये भावनाएं जन्म लेती हैं, सचमुच वह अभय बन जाता है। मैं यह नहीं कहता हूं कि सग्रह नहीं हो। क्योकि गृहस्थ के पास कुछ न कुछ सगृहीत होता ही है। एक बात स्पष्ट समझ ले--संग्रह होना और संग्रह के प्रति तीव्र आसक्ति होना--ये दो बाते हैं। हिसा अनिवार्यता है। हिंसा होना और हिंसा के प्रति लगाव होना--ये स्पष्टत: दो बाते हैं। कभी-कभी इस बात मे आस्था जम जाना कि इस युग मे असत्य के बिना काम नहीं चल सकता, बिलकुल दो बाते हैं। हमारी आसक्ति प्रबल न हो। अनिवार्यता और आसक्ति के बीच मे एक सूक्ष्म और सकरी रेखा को हम स्पष्ट समझे। पदार्थ के बिना काम नहीं चल सकता। पदार्थ होता है, अनिवार्यता है। गृहस्थ तो क्या, साधु का भी काम नहीं चल सकता। साधु के पास भी कपडा है, पुस्तकें हैं, पात्र हैं। साधु के पास भी शिष्य हैं। पदार्थ हैं, व्यक्ति हैं। कोई भी जीवन धारण करने वाला, ससार मे रहने वाला इन सबसे कटकर जी नहीं सकता। इन सबके साथ जीता है तो इन सबके प्रति जब ममत्व का भाव क्षीण, शात बनता है तो संग्रह नहीं बनता, परिग्रह नहीं बनता। ममत्व का भाव जाग गया तो एक कपडा भी परिग्रह बन जाएगा। एक पुस्तक भी परिग्रह बन जाएगी। प्रेक्षा उस सचाई का प्रमाण है कि हमारी मूर्च्छा कितनी टूटती है, आसक्ति कितनी कमजोर होती है। यह आसक्ति को दुर्बल बनाने का प्रयत्न है, शक्ति के जागरण का प्रयत्न है और आनन्द को जगाने का प्रयत्न है। कोरी शक्ति नहीं, दोनो के बीच मे शक्ति, एक ओर चेतना, एक ओर आनन्द। ये दो तट हैं और बीच मे शक्ति की धारा प्रवाहित हो। कोई खतरा नहीं होता। आनन्द का तट टूट जाए, चेतना का तट टूट जाए और कोरी शक्ति जाग जाए तो उपद्रव की बात होती है, फिर विद्रोह और ध्वस की बात होती है। शक्ति का जागरण भी बडा खतरनाक है। बिजली बहुत उपयोगी है, पर बिजली बहुत खतरनाक भी है। बिजली खोल मे है तब तक तो ठीक है, पर खुले तार को हाथ छू लेवे, बडा खतरनाक काम हो जाता है। हमारी चेतना का जागरण हो, चेतना शुद्ध होगी तो अभय की मुद्रा विकसित होगी। चेतना का अनुभव अपने आप मे अभय है।

एक मुनि जंगल मे ध्यान कर रहे थे। वे खडे थे। एक सांप आया और मुनि को डसकर चला गया। एक आदमी ने देख लिया। वह दौडा-दौड़ा आकर मुनि से बोला—'मुनिवर! अभी-अभी एक काले साप ने आपको काट खाया है। आपको ज्ञात है ?' मुनि बोले—'मैं नहीं जानता।' वह बोला—'अरे डरे नहीं ?' मुनि ने कहा—'नहीं, डर नहीं लगा।' उसने पूछा—'भय क्यों नहीं लगा ? क्या आप मौत से नहीं घबराते?' मुनि बोले—'मैं अपने घर मे था। वहां मैंने किसी सर्प को नहीं देखा। सम्भव है, किसी दूसरे को काटा हो, मुझे तो सांप ने नहीं काटा।'

जब आदमी चैतन्य के अनुभव में होता है तब सांप भी काट जाता है तो साप का जहर नहीं चढता। जहर भी विशेष स्थिति मे चढता है। आप जानते है कि जब सांप काट जाता है तब घर के लोग विशेष प्रयत्न करते हैं कि नींद न आ जाए। बिलकुल जागरूक, इतना अप्रमत्त कि आंख मे कोई सलवट भी न पडे। जब जागता है जहर नहीं चढता और सोया तो सो ही गया। उसे सोने नहीं देते। बिलकुल जागरूक रखते है। जागरूकता में जहर नहीं चढता। व्यक्ति अपने चैतन्य के अनुभव मे होता है, सांप का जहर क्या करेगा? कोई असर ही नहीं होगा। चैतन्य के अनुभव मे अभय की मुद्रा प्रकट होती है। वहां भय नहीं होता।

हम इस बात को आश्चर्य के साथ कहते हैं कि देखो, भगवान् महावीर को चण्डकौशिक जैसा सांप काट गया और भगवान् अविचल रहे। अरे, कोई आश्चर्य की बात ही नहीं है। किसी रास्ते चलते आदमी को सांप काट जाता और अविचल रहता तो आश्चर्य की बात थी, पर महावीर जैसे व्यक्ति के लिए, जो निरन्तर अपनी चेतना का अनुभव कर रहे थे, सांप काट जाए, बिच्छू काट जाए, शेर काट जाए, कोई फर्क पडने वाला नहीं था। महावीर के लिए यह घटना कोई बड़ी घटना नहीं थी, कोई आश्चर्य की बात भी नहीं थी। अध्यात्म की परम भूमिका का अनुभव करने वाला व्यक्ति कभी साप के पास नहीं फटकता और सांप उसके पास नहीं फटकता। वह जहर के पास नहीं जाता, जहर उसके पास नहीं जाता। दोनों का सम्बन्ध ही नहीं जुडता तो आश्चर्य की कौन-सी बात है ?

चेतना का अनुभव अभय की मुद्रा का अनुभव है। आनन्द का अनुभव अभय की मुद्रा का अनुभव है। हर्ष नहीं, आनन्द। आनन्द की बात कर रहा हू, हर्ष की बात अलग है। हर्ष मे तो भय आ जाता है। हर्ष और शोक—दोनो

का सम्बन्ध है, युगल है, जोडा है। हर्ष आएगा तो शोक को आना ही पडेगा। शोक आएगा तो हर्ष को आना ही पडेगा। यह नहीं हो सकता कि कोई अकेला आ जाए। साथ-साथ आएगे। थोडा आगे पीछे हो सकता है। इतनी देरी हो सकती है कि एक साथी पहले पहुंच जाए और दूसरा साथी घटा भर बाद पहुंच जाए। आखिर पहुंचना पडेगा। दोनो साथी हैं। अलग कैसे रहेगे ? आनन्द मे न हर्ष और न शोक है। यह दोनों से परे की अवस्था है। प्रेक्षा के द्वारा आनन्द की ऊर्मियां जागती हैं। वह आनन्द, जिसका संबंध है केवल समता से। समता के अनुभव से आनन्द जागता है, न हर्ष न शोक। उस स्थिति मे हमारी अभय की मुद्रा बनती है।

अभय की मुद्रा के दो बडे साधन हैं—चेतना का अनुभव और आनन्द का अनुभव। प्रेक्षा का काम है इन दोनों को विकसित करना। प्रेक्षा है भीतर में देखना। बाहर को देखता है तब भय जागता है। सारा भय बाहर से लगता है। इसका कारण बहुत स्पष्ट है। हमारे जितने मूल्य, मानदण्ड और मान्यताएं हैं वे दूसरे के कारण हैं। मैं दूसरे को देखूंगा तो दो प्रकार की प्रतिक्रियाएं हो सकती हैं। कोई मुझसे छोटा है तो मेरे मन मे अहंकार की भावना जागेगी। कोई मुझसे बडा है तो मेरे मन मे हीन भावना जागेगी। यह अहकार की ग्रन्थि, हीन भावना की ग्रन्थि—दोनो ग्रन्थियां पर-दर्शन से पैदा होते हैं। जितने सामाजिक मूल्य है, मापदण्ड हैं वे सारे पर-दर्शन से पैदा होते हैं।

पडौसी ने ऐसा विवाह किया, यदि मैं वैसा नहीं करूगा तो लोग क्या समझेगे ? अच्छा ही नहीं लगेगा। बस, पडौसी ने किया इसलिए वह एक मूल्य बन गया, मापदण्ड बन गया। इस समस्या का, इस भय को पैदा करने वाली समस्या का पार पाना है तो अन्तर्दर्शन का अभ्यास करना होगा। जिस व्यक्ति ने अपने भीतर मे झांकना, भीतर मे देखना शुरू कर दिया उसके लिए सारे मूल्य समाप्त हो गए, सारे मानदण्ड समाप्त हो गए। न कोई मूल्य है, न कोई मानदण्ड है। यह डर नहीं है कि कौन क्या कहेगा ? कुछ भी नहीं है। सारी बाते समाप्त हो जाती हैं। जब मूल्यातीत और मानदण्डातीत भावना का विकास होता है, इसका अर्थ है अभय की मुद्रा का विकास।